दो शब्द



'चारित्रविभूषण' उग्रतपस्वी परम पूज्य १०८ श्री विवेकसागरजी महाराज जहां पर पधारते हैं वहीं पर कोई न कोई शुभ काम हुये बिना नही रहता। महाराज श्री को मुख्य रूप से लगन ही दो बातों की रहती है (१) जगह २ भावी पीढी के सस्कारो को उत्तम बनाने के लिये पाठशाला खुलवाना तथा ग्रथों को सरल भाव सहित प्रकाशित करवाना। फलस्वरूप १ कुचामन सिटी में शिशुवर्ग से पचम कक्षा तक धार्मिक शिक्षण के साथ २ राजमान्यता प्राप्त कर नागौर जिले में एक आदर्श विद्यालय की स्थापना हुई जिसमें पैंसठ हजार रुपया ध्रौव्यफंड तथा दो सौ रुपया मासिक की आय है। (२) मारोठ मे धार्मिक विद्यालय कई वर्षों से बद पडा था वहां का ध्रुव फण्ड करीब पचीस हजार होकर पाठशाला वर्तमान में चालू है। (३) सुजानगढ में करीब तीस हजार का ध्रौव्यफंड होकर धार्मिक शिक्षण प्रारभ हुआ (४) लाडनू कन्या पाठशाला चालू हुई और उसमें धार्मिक शिक्षण की व्यवस्था हुई और भी जगह २ धार्मिक शिक्षण हेतु आप पाठशाला के लिये प्रेरणा करते ही रहते हैं। आज से दो महिने पहले भी नावां कुचामन रोड मे कई दिन से आर्थिक परिस्थिति के कारण पाठशाला बद पडी थी वही वैशाख कृष्णा द्वितीया को मुनि दीक्षा हुई तथा उसी समय पाठशाला का भी उद्घाटन हुआ जिसका ध्रुव फण्ड तीस पैंतीस हजार होकर पाठशाला पुनः व्यवस्थित रूप से चालू हुई। लगभग ये सभी पाठशालायें सुचारु रूप से चालू हैं और महाराज स्वयं पधार कर उनकी देखरेख भी करते रहते हैं। इतना ही नही, आप स्वपर के कल्याण में अह-

निश जागरूक रहते हैं। आपकी सतत प्रेरणा से ही (१) मागोराजपुरा के चातुर्मास मे श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार का प्रकाशन (२) फुलेरा के चातुर्मास मे 'सहज सुख साधन' का प्रकाशन (३) कुचामन सिटी के चातुर्मास मे धर्म ध्यान प्रकाश का प्रकाशन (४) मारोठ के चातुर्मास में 'शुद्ध श्रावक धर्म प्रकाश' का प्रकाशन (५) सीकर मे चातुर्मास मे 'चारित्र धर्म-प्रकाश' का प्रकाशन तथा भगवान श्री १००८ महावीर के केवलज्ञानोत्सव के उपलक्ष में कुचामन की जैन समाज द्वारा 'पाक्षिक व व्रती श्रावक का प्रतिक्रमणादि पाठ का प्रकाशन हुआ है। इनमें हमारे पास 'धर्मध्यान प्रकाश' व पाक्षिक व्रती श्रावक का प्रतिक्रमणादि पाठ की पुस्तकें ही स्टॉक में हैं बाकी सब प्रतिये समाप्त हो चुकी हैं। धर्मानुरागी व्रती एव त्यागी गण ही धर्मध्यान प्रकाश को मगावे। व्रती व साधारण श्रावक के लिये पाक्षिक श्रावक ग्रन्थ भेजा जा सकता है। जिन भाइयों को मंगाना हो वे वी. पी. खर्च भेजकर नीचे लिखे पते से नि: शुल्क मगा सकते है।

'चारित्र धर्म प्रकाश' के प्रकाशन में कुछ विलम्ब तो हुआ फिर भी बडी सुंदरता पूर्वक इस ग्रन्थ का सस्करण हुआ है। उक्त दोनो प्रकार की प्रेरणा के लिये हम पूज्य महाराज श्री के तो कृतज्ञ हैं ही किन्तु हमारे कार्य में सहयोग देने वाली सीकर समाज के भी हम अत्यन्त आभारी हैं और इसमे भाग लेनेवाले श्री सेठ सागरमलजी छावड़ा तथा श्री भंवरलालजी सेठी को भी धन्यवाद दिये बिना नही रह सकता जिनके प्रत्यक्ष एवं परोक्ष कष्ट साधनाओं के कारण इस भव्य कृति का भी सुदर साज सज्जा के साथ प्रकाशन हुआ। इस ग्रन्थ को धर्मानुरागी भाई सीकर से ही मंगाने का कष्ट करें। विज्ञेषु किमधिकम्।

विनीत :

पं० विद्याकुमार सेठी न्यायकाव्यतीर्थ

प्रधानाध्यापक

श्री दि० जैन विद्यालय, कुचामन सीटी

दिनांक

१-६-७५



श्री स्व० दीवान श्रीचन्दजी साहब की स्मृति में उनके सुपुत्रों ने इस ग्रंथ के प्रकाशन में रु० ५०१) का सहयोग प्रदान किया है।





श्री दीवान भगवान दासजी जैन द्वारा इस ग्रंथ के प्रकाशन में रु० ५०१) का आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है।



श्री घीसालालजी छावड़ा, सीकर द्वारा इस ग्रन्थ के प्रकाशन में रु० ५०१) का आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है।





श्री रामकुमार जी रारा ग्राम दूजोद द्वारा इस ग्रन्थ के प्रकाशन में रु० ५०१) का आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है।



श्री भंवरलालजी छाबड़ा (म्हालजोका) द्वारा इस ग्रन्थ के प्रकाशन में रु० ५०१) का आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है।



श्री राजकुमारजी छाबड़ा (रैवासा वाला) द्वारा इस ग्रंथ के प्रकाशन में रु० ५०१) का आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है।

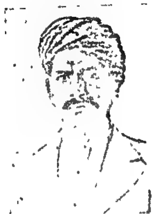


स्व० श्री भंवरलालजी वडजात्या की स्मृति में उनके सुपुत्रों ने इस ग्रंथ के प्रकाशन में रु० ५०१) का सहयोग प्रदान किया है।





स्व० श्री रतनलालजी धाकड़ा की स्मृति में उनके सुपुत्रो ने इस ग्रंथ के प्रकाशन मे रु० ५०१) का सहयोग प्रदान किया है।



स्व० श्री भंवरलालजी बड़जात्या की स्मृति में उनके सुपुत्रों ने इस ग्रंथ के प्रकाशन में रु० ५०१) का सहयोग प्रदान किया है।





स्व० श्री रतनलालजी धाकड़ा की स्मृति मे उनके सुपुत्रों ने इस ग्रंथ के प्रकाशन में रु० ५०१) का सहयोग प्रदान किया है।

अनुक्रमणिका

मंगलम् भगवान् वीरो मंगलम् गौतमो गणी ।
मंगलम् कुन्द कुन्दाद्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

हमारे चातुर्मास के उपलक्ष में सीकर जैन समाज ने जो 'चारित्र धर्म-प्रकाश' ग्रन्थ का प्रकाशन करवाया है, उसमे जिन २ महानुभावो ने आर्थिक सहायता तथा विभिन्न प्रकार से सहयोग दिया है उन सबको हमारा शुभाशीर्वाद !

सीकर जैन समाज ने इस प्रकाशन के कार्य को सम्पन्न कर आहार दान एवम् ज्ञान दान दोनो का ही पुण्य लाभ लिया है। आशा है इसी प्रकार उत्तरोत्तर अपना उत्साह बढाते रहेगे ।

(मुनि) विवेक सागर

सम्पादकीय वक्तव्य

जनताभिमतार्थकरं सुखदं भव भीति हरं कृतसिद्धपदम् ।
परमं शिव सौध निवासकरं चरणं प्रणमामि त्रिशुद्धतरम् ॥

अर्थ — मैं जीवों के मनोरथ को पूर्ण करने वाले आनन्ददायी, संसार के भय को निवारण करने वाले, मोक्षपद प्रदान करने वाले, मुक्ति मंदिर में निवास करने वाले ऐसे अत्यन्त विशुद्ध चारित्र को प्रणाम करता हूँ।

आज बीसवी शताब्दि में भौतिक वादी मानव को राहेरास्ते पर लाने का एक मार्ग-मात्र उसके चारित्र का ज्ञान कराना ही श्रेयस्कर होगा। वर्तमान युग में मानव के चारित्र का अधःपतन होने का मुख्य कारण दैनिक षट् क्रियाओं (देव पूजा, गुरुसेवा, स्वाध्याय, संयम, तप व दान) की अनभिज्ञता मात्र है। चारित्र का मुख्य प्रकारेण ज्ञान कराने हेतु ही घोर तपस्वी, चारित्र परिपूर्ण पालक, शान्तचित्त श्रद्धेय दिगम्बर मुद्राधारी गुरुवर्य १०८ मुनिराज विवेकसागरजी महाराज के सीकर स्थित चातुर्मास काल में मुख्य रूप से आचार्य प्रवर महाराजा चामुण्डराय कृत भावनासार संग्रह (चारित्रसार) के आधार पर इस चारित्रधर्म प्रकाश ग्रन्थ के प्रथम खण्ड का सम्पादन करने का मुझ अल्पज्ञ ने दुस्साहस किया है। अतः सुविज्ञ विद्वज्जन से करबद्ध निवेदन है कि मेरी त्रुटियों को अवगत कराकर पुण्यलाभ लेते हुए यशस्वी बनेंगे।

इसमें जिन जिन महान् लेखकों के ग्रन्थों से चारित्र सम्बन्धी विषय का संकलन किया गया है उनके प्रति भी मैं आभार प्रकट करता हूँ।

चारित्र के उत्थान से मानव महान् बनता है। जिसने चारित्ररूपी निधि को खो दिया तो उसने सब कुछ खो दिया और चारित्र के भ्रष्ट हो जाने से ही प्राणी सदैव चौरासी के चक्कर काटता रहता है।

चारित्र को उन्नत बनाने का मुख्य रूप से एक [illegible] और [illegible] को [illegible] से सबसे रूप से [illegible] किया ही है।

चारित्र से परिपूर्ण मुनिराज [illegible]

मार्ग में आवश्यक है यदि [illegible] कोई [illegible] नहीं होती।

हिंसानृत चौर्येभ्यो मैथुन - सेवा - परिग्रहाभ्यां च।
पाप प्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम्॥

अर्थ – हिंसा असत्य चोरी कुशील तथा परिग्रह रूप पाप के नालों से त्याग करना ही सम्यग्ज्ञानी का चारित्र है।

मानव जब तक [illegible] नहीं होता तब तक उसके [illegible] देव शास्त्र, गुरु पर विश्वास नहीं होता और विश्वास नहीं होने से चौथे [illegible] गुणस्थान के भावों के समान सम्यक् उस जीव की स्थिति नहीं होती।

संसार में हिंसादि पांच पापों का त्याग करना ही गौण रूप से चारित्र बताया गया है। पारमार्थिक दृष्टि से आनंद परिपूर्ण आत्मा ही चारित्र का स्वरूप है।

समस्त परिग्रह के त्यागी मुनिराजों का चारित्र ही सकल चारित्र है और परिग्रह में लिप्त गृहस्थों का चारित्र ही विकल चारित्र है।

उपर्युक्त हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह पांचों पापों से विरत होना ही गृहस्थ के लिये मोटे रूप से पञ्चाणुव्रतों का पालन करना है। इन पञ्चाणुव्रतों के अतिरिक्त रात्रिभोजन त्याग नामका छठा अणुव्रत भी किन्हीं आचार्यों द्वारा वर्णन किया गया है।

इस युग में रात्रि भोजन त्याग की तरफ विशेष रूप से ध्यान दिया जावे तो जिह्वा की लम्पटता तो दूर होगी ही इसके अतिरिक्त कुलीन नवयुवक अधिकतर छिपे रूप से रात्रि में अभक्ष्य पदार्थों का सेवन कर कुमार्गगामी हो रहे हैं उनका भी बचाव हो जावेगा।

भारत सरकार द्वारा प्रकाशित "बालभारती" पत्रिका में एक बार समाचार प्रकाशित हुए थे कि एक बार एक जहरीली मक्खी को रात्रि के समय में दूध के साथ पी जाने से बालिका मृत्युगत हो गई थी ऐसी शल्य चिकित्सकों की रिपोर्ट थी।

जैनधर्म एक वैज्ञानिक धर्म है और उसने प्रत्येक विषय को परखने में तात्विक दृष्टिकोण अपनाया है, इस ही वास्ते आधुनिक वैज्ञानिकों ने अपनी समस्त आधार शिला प्राचीन जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित मार्ग का ही अनुसरण कर अन्तरिक्ष तक पहुँचने के प्रयत्न में लगे हुए हैं। वास्तव में जैन खगोल

शास्त्रानुसार वैज्ञानिक अपने निश्चित लक्ष्य को प्राप्त नही कर सकेंगे यह कटु-सत्य है ।

सनातनी ग्रन्थो मे विद्वानों ने यहाँ तक प्रतिपादन किया है । कि खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, देह्य इन चारों प्रकार के आहार का रात्रि के समय मे त्यागी प्राणी अपने सम्पूर्ण जीवन में आधे जीवन के उपवासो का फल बिना किसी कठिन तपस्या के ही प्राप्त कर लेता है ।

एक साधारण गृहस्थ भी यदि सायकाल का भोजन करने के पश्चात् प्रात.काल तक के सपूर्ण या अन्नादिक पदार्थों का त्याग कर देता है तो वह भी व्रती है, यदि उस काल में ही आयु पूर्ण हो जावे तो उस किंचित् व्रत के फल मे ही कुगतियों के कष्ट से मुक्त हो जाता है ।

अतः अभक्ष्य पदार्थों का त्याग व रात्रि भोजन का त्याग कर देना ही मानव मात्र को स्वास्थ्य व वैज्ञानिक एवं धार्मिक दृष्टि से अत्यन्त लाभप्रद है।

आज अहिंसा और सत्य की दुहाई तो केन्द्रीय सरकार द्वारा बड़ी तेजी से दी जा रही है किन्तु अत्यन्त लोभ के वशीभूत होकर बन्दर, मछली, अण्डे, मांसादिकों का विदेशों मे निर्यात करके मानव-मात्र के चरित्र का हनन कर रही है ।

देखिये ! एक असत्य भाषण करने के कारण से जापानदेश के प्रधान मंत्री "श्री तनाका" को अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ा । अमेरिका के राष्ट्र-पति "श्री रिचर्ड निक्सन" को वाटर गेट काण्ड मे असत्य कथन के कारण राष्ट्र-पति पद छोडना पडा । पश्चिम जर्मनी के प्रधान मंत्री "श्री विलीब्रांत" को अपने सहयोगी की देश द्रोह की जिम्मेवारी लेकर पद त्याग करना पडा । सत्ता के बल पर सत्ता से चिपके रहना राजनीतिक विवेक का परिचायक नही हो सकता, असली चीज है जनता का विश्वास क्योंकि सत्ता मे जनता का पूर्ण विश्वास ही लोकशाही का आधार होता है । वास्तव मे इस लोक और परलोक मे सत्य को जीवन में उतारने से ही चारित्र की सिद्धि हो सकती है । अन्यथा नहीं ।

वस्तुतः श्री १००८ भगवान महावीर तीर्थंकर की पच्चीसौवी निर्वाण तिथि का विशाल रूप से विश्व की राज्य सरकारों द्वारा मनाया जाना तब ही उत्थान प्रद होगा जब कि मद्य, मांसादि जीव हिंसा पर पूर्ण रूप से प्रति-बंध लगाया जाकर भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो को अमल में लाया जावेगा ।

देखिये ! केवल इक्कीस करोड़ की आबादी वाले अमेरिका देश में एक वर्ष में ही करीब अढ़ाई अरब रुपयों की मदिरा पान कर ली जाती है।

जब तक श्री जिनेन्द्र देव द्वारा कथित अहिंसा को नहीं अपनाया जावेगा तब तक कोई भी राष्ट्र उन्नतिशील नहीं हो सकेगा और देश के चारित्रबल को नहीं उठा सकेगा।

प्राकृतिक नियमानुकूल किसान के खेत में पैदा हुआ अन्न का तीन चतुर्थांश पशु पक्षी के लिये होता है। यदि स्थूल पशुहिंसा का परित्याग करके खेत में बीज बोया जावे तो वर्तमान से कई गुणा अनाज पैदा हो जावेगा और विश्व की भुखमरी स्वयमेव ही दूर हो जावेगी।

भगवान महावीर ने तत्कालीन पशुवृत्ति का इस अहिंसा और सत्य सिद्धान्त का प्रचार व प्रसार करके ही प्राणीमात्र का एवं स्वयं का उद्धार करके महान् चारित्र की उत्तमता प्रकट कर मुक्ति लक्ष्मी को प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की थी।

भगवान महावीर द्वारा कथित केवल अहिंसा के सिद्धान्त को ही मानव भली प्रकार से अपना लेवे तो आज पुन: घर २ में दूध और घी की नदियां बहती हुई नजर आवेगी। जब अहिंसा को मानव धारण कर लेगा तो सत्य का पालन तो स्वयमेव ही हो जावेगा और अहिंसा के पालन से ही चोरी के महान् पाप से बच जावेगा, इससे ही कुशील जैसे दुर्गति के कारण की भी हठात् प्रवृत्ति दूर होगी और अपरीग्रहवाद के बल से तो जन्म जन्मान्तर में भव्य जीव मुक्ति का अधिकारी बन जावेगा।

आज से करीब दो हजार वर्ष पूर्व में ग्रीस देश के महान् सुधारक "श्री सुकरात" ने भगवान महावीर के अपरिग्रहवाद पर जोर देते हुए कहा था कि 'हे मानव ! तू अपनी आवश्यकताओं को जितनी कम करेगा उतने ही जल्दी उत्तम चारित्र धारी परमात्म स्वरूप महावीरवत् बन जावेगा"।

वास्तव में इस अपरिग्रहवाद को ही जीवन में उतारने से शान्ति और उन्नति के मार्ग द्वारा आत्मशक्ति प्रगट होकर अष्ट कर्म रूपी कारागृह में बंध निकल कर अपने सर्व स्वरूप होकर सिद्धालय में जा विराजता है।

देखिये ! स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र (कर्ण) इन पञ्चेन्द्रियों में से एक एक के वश में घ्राण इन्द्रिय के वशीभूत होकर भौंरा व स्पर्शन इन्द्रिय के वश में होकर काम से मदोन्मत्त हाथी, रसना का मांस लोलुपी राजा कुंभ,

कर्ण का लोभी मणिधर सर्प और चक्षु दर्शन का लोभी नाट्य दर्शक साधु ने अपने चारित्र से गिरकर अनेक दुर्गतियों में भ्रमण किया।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम गोत्र और अन्तराय इन आठ कर्मों को एक अहिंसा यानी समभाव के द्वारा प्राणी अपने से दूर कर सकता है। अहिंसा आध्यात्मिक और लौकिक उन्नति की पुत्रवती माता के समान है। श्री भगवान के एक हजार आठ नाम हैं और उसमें ही भगवान को "महादय" नाम से इन्द्र ने कहा है उसका अन्तरङ्ग लक्ष्य यही है कि भगवान महान् दया सहित है इस ही लिये उन्हें 'महोदय' भी कहते हैं; क्योंकि उनका उदय यानी भगवान की उन्नति ही महान् (बड़ी) है।

महान् दार्शनिक भूतपूर्व महान् महामहिम भारतीय राष्ट्रपति श्री डा० राधाकृष्णनन् ने देहली महावीर जयन्त्युत्सव पर गंभीर मुद्रायुक्त होकर सन् १९६३ में अपने विचार व्यक्त किये थे कि "आज के मानव में इस महान् संकट के समय में श्री भगवान महावीरवत् उनके समान इन्द्रिय जय, संयम तथा धीरता आदि गुणों की बड़ी ही आवश्यकता है ऐसा करने से ही सुख व शान्ति प्राप्त हो सकती है"।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने मोक्ष प्राभृतमें कहा है कि:—

दुक्खे णज्जइ अप्पा णाऊण भावणा दुक्खं।
भाविय - सहावपुरिसो विसएसु विरज्जए दुक्खं ॥६५॥

अर्थ:— आत्मज्ञान बड़ी ही कठिनता से प्राप्त होता है। आत्म-बोध होने पर उसकी भावना कठिन कार्य है। आत्मा की भावना करने वाला प्राणी बड़ी ही कठिनता से सांसारिक विषय भोगों से विरक्त होता है। भोगों की लालसा को छोड़ देना ही आत्म विकास का मूल कारण है।

वर्तमान काल में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी जो अहिंसा और सत्य के महान पुजारी (उपासक) थे। गांधीजी ने दक्षिण प्रान्त के प्रवास काल में एक ही वस्त्र वाली ग्रामीण महिला को छह माह बाद स्नान करते हुए सरोवर के किनारे देखा तो उन्होंने उससे पूछा कि एक ही उपयोगीय वस्त्र होने का क्या कारण है तो उसने उनको उत्तर दिया था कि "मैंने अपनी गरीबी अवस्था में अनुभव किया है कि मानव एक वस्त्र धारी होकर ही त्यागी व अपरिग्रही बनकर मोह ममता को छोड़कर इहलौकिक व पारलौकिक आत्मोन्नति कर सकता है"

[illegible]

[illegible]

[illegible] है [illegible]

[illegible] किया [illegible] है। [illegible] के प्रधान मंत्री चर्चिल [illegible] अर्धनग्न फकीर [illegible] प्रकार वेष के धारण किये बिना ही आन्दोलन के [illegible] सभा प्रारम्भ करने से [illegible] उनके जीवन के महान् आध्यात्मिक भाई [illegible] बहुत बड़ा प्रभाव [illegible] थी। इस ही प्रसंग [illegible] की व्याख्या करते हुए गांधीजी ने [illegible] स्वदेशी का अंतिम अर्थ सारे सांसारिक बंधनों से आत्यन्तिक मुक्ति भी है, स्वकीय देह भी उस स्वदेशी चाहने वाले के लिए परदेशी है, [illegible] प्राप्त कराने की क्षमता अपने हाथ से काते हुए सूत की बनी [illegible] में नहीं है क्योंकि वह भी तो परदेशी है। वास्तविक मुक्ति के लिये तो दिशा रूपी अम्बर (वस्त्र) धारण करके ही दिगम्बर होना आवश्यक होगा" [illegible] ही मानव उत्तमोत्तम चारित्रधारी हो सकेगा।

परम शान्ति स्वरूप सम्पूर्ण इच्छाओं का निरोध, [illegible], वैराग्य, महाघोर तपश्चरण, शान्ति तथा आत्मसंयम, वीतरागता, विवेक, [illegible] आदि गुण बिना जैन दिगम्बर मुद्रा धारण किये पैदा ही नहीं हो सकते हैं। इन गुणों का प्राप्त हो जाना ही उत्तम चारित्र है।

"जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरा मोक्षास्तत्त्वम्" जीव, अजीव, आस्रव

बध सवर, निर्जरा और मोक्ष इन्ही सात तत्वों पर पक्का विश्वास कर लेना सम्यग्दर्शन है। जब मानव पूर्ण सम्यक्त्वी हो जाता है तब ही सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर चारित्र को अमल मे लाने की सामर्थ्यता प्राप्त करता है। रत्नत्रय रूपी ज्योतियुक्त आत्म ज्ञान ही मोक्ष मार्ग है।
गीता में कहा है कि :–

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५ अ. ६॥

हे अर्जुन! इसमें सन्देह नही है कि मन चंचल है और उसको वश में करना कठिन है, किन्तु अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा वह मोह, मद वश में किया जाता है।

इस सम्बन्ध मे जैनाचार्य का मार्मिक एवं अनुभव पूर्ण मार्गदर्शन भी दृष्टव्य है :–

सङ्गत्यागः कषायाणां निग्रहो व्रत धारणम्।
मनोक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यान जन्मनः ॥

सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करके दिगम्बर मुद्रा स्वीकार करना, रागद्वेषादि मनोविकारों का दमन करना, व्रतों का पालन करना, मन तथा इन्द्रियों को जीतना यह ध्यान की कारण रूप सामग्री है। बाह्य धन-धान्यादि सामग्री के होने पर मन उस ओर सदा आसक्त होता है। आसक्ति, शूल, उज्जवल महापुरुष बाह्य सामग्री को किस हेतु पास रखेगा? जड के त्याग से ही चैतन्य निखर जाता है।

आत्म स्वरूप के संबंध मे पल्लीवाल जैनजात्युत्पन्न श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार में बताया है कि :–

अरस-मरूव-मगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीव-मणिदिट्ठ संठाणं ॥१७२॥

अर्थ :– जीव का स्वरूप रस रहित, रूप रहित, गंध रहित, स्पर्श रहित शब्द रहित, किसी के चिन्ह द्वारा न ग्रहण करने योग्य एवं किसी भी तरह के आकार रहित होता है।

इस आध्यात्मिकता को प्राप्ति हेतु मानव को अपने हृदय में सम्यग्दर्शन धारण करना चाहिये। सम्यग्दर्शन के बाद ही सम्यग्ज्ञान धारण करना आवश्यक

है। तत्पश्चात् सम्यक् चारित्र के द्वारा ही परमात्म होकर वीतरागी, सर्वज्ञ हितोपदेशी रूपता को जीव प्राप्त हो सकता है। रत्नत्रय धारण किये बिना वह अपूर्व ज्ञान दर्शन वीतरागता अभिव्यक्त हो नहीं हो सकती है। इस ही से मुक्तस्थान स्वरूप होकर आत्मा विविध जगत से मुक्तावस्था को प्राप्त हो सकती है।

स्वतन्त्र भारत के सर्वप्रथम राष्ट्रपति एवं दार्शनिक महापुरुष ने सन में सन् १९५८ में श्री डाक्टर राजेन्द्रप्रसादजी ने अहिंसा के सम्बन्ध में कहा था कि "सच्चे सत्यज्ञानी दिगम्बर साधु ही होते हैं उन्हीं में से एक विश्वदृष्टा वर्तमान काल के करोड़ों वर्ष पूर्व में आदि धर्म-प्रवर्तक सर्व प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ हुए हैं वैसे ही आज अन्तिम तीर्थंकर श्री भगवान महावीर का उत्तम क्षमादि दश धर्म युक्त ही अहिंसा धर्म है।

इस ग्रन्थ में गृहस्थ एवं मुनियों के चारित्र का वर्णन किया गया है। वीर मार्तण्ड महाराजा चामुण्डराय कर्णाटक देश के प्रधान मंत्री थे, उस समय एक बार उनकी माता को गोमट्टस्वामी के दर्शन करने की स्वप्न में इच्छा हुई और माता की प्रेरणा से ही विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में श्रवणबेलगोला में पहाड़ी पर गोमट्टस्वामी की विशाल खड्गासन मूर्ति स्थापित की गई। कालान्तर में चामुण्डराय ने दिगम्बर मुनि धर्म धारण करके आचार्य रूप में भावनासार संग्रह (चारित्रसार) ग्रन्थ की स्वतंत्र मौलिक रचना की, इसके अतिरिक्त गोमट्टसार ग्रन्थ की संस्कृत टीका भी की है। इनकी रचना सुपरिमार्जित एवं माधुर्यतापूर्ण सुललित संस्कृत भाषा में है।

श्री दिगम्बर जैन मंदिर पाटोदियों के जयपुर की प्राचीन हस्तलिखित विक्रम संवत् १५१६ व १५४५ की चारित्रसार की दो प्रतियें श्रीमान् बाबू राजूलाल जी गोदीका वकील व श्री किस्तूरचन्द जी दीवान एवं मेरे ज्येष्ठ भ्रातृवर्य श्री सूरजमलजी पाटणी जयपुर के सौजन्य से प्राप्त हुई, दोनों प्रतियों के आधार पर ही मूल संस्कृत अङ्कित की गई है।

सर्वाधिक अध्यक्ष महोदय श्री महावीर क्षेत्र अनुसन्धान विभाग एवं अनेक खोज पूर्ण प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादक, मौलिक लेखक, इतिहास विशेषज्ञ परमोत्साही एवं निरभिमानी श्रीमान् डा० कस्तूरचन्दजी कासलीवाल शास्त्री एम. ए. पी. एच. डी. तथा समाज सेवी साहित्यरत्न कविराज पं० अनूपचन्दजी न्यायतीर्थ के अत्यन्त आभार को प्रदर्शित करने के लिये तो मेरे कोष में शब्दों

का प्रभाव साही प्रतीत हो रहा है क्योंकि इन्होने समय २ पर अपने राजकीय अत्यन्तावश्यक कार्यो से समय निकाल कर स्वयं यहाँ (सीकर) पधार कर मुझे सम्पादन कार्य मे मार्ग दर्शन करते रहे है। इसके अतिरिक्त डा सा. ने निःस्वार्थ रूप से इस ग्रन्थ की प्रस्तावना लिख कर तो चार चाँद ही लगा दिये हैं।

इस ग्रन्थ की लेखन की त्रुटियो को आद्योपान्त अवलोकन व मिलान करने में कड़ाके की शीतकालीन रात्रियो मे भी स्थानीय वैय्याकरणी महान् विद्वान् श्री पण्डित फूलचंदजी जैन व्याकरण तीर्थ, शास्त्री, एवं बडौत निवासी श्री पं. राजकिशोरजी बी. एस. सी. ने महती कृपा की है। अतः उनका भी पूर्णाभारी हूँ।

श्री लोक मंगल प्रेस सीकर के मालिक एव साप्ताहिक "लोक मगल पत्र" के सपादक महोदय श्रीमान् भँवरलालजी सेठी ने प्रारभ से ही एक दम नवीनतम टाईप क्रय करके इस अपूर्व ग्रन्थ के प्रकाशन का भार वहन कर अपने उत्तरदायित्व को निवाहते हुए पुण्य लाभ उठाया है। एतदर्थ धन्यवाद के पात्र है।

श्री दिगम्बर जैन समाज सीकर ने श्री १०८ मुनिराज विवेक सागर जी महाराज की सद् प्रेरणा से इस परम पुनीत पच्चीसौवें श्री १००८ भगवान महावीर के निर्वाण महोत्सवोपलक्ष में जैन सिद्धान्तों का प्रचार सार्वजनिक नि शुल्क लाभार्थ हेतु इस महार्घकाल में सम्पूर्ण आर्थिक व्यय-वहन करके इस चंचला लक्ष्मी का सदुपयोग शास्त्र दान में करके अपूर्व लाभ लिया है यह अनुकरणीय एवं प्रशंसनीय है।

मुझे अजमेर निवासी श्रीमान् वाणिज्य भूषण, सिद्धान्त शिरोमणि, जैन वाङ्मय के महान् उपासक एवं सरस्वती के मूक सेवक, सुविज्ञ लेखक, मूर्धन्य विद्वान् ब्रह्मचारी पण्डित विद्याकुमारजी सेठी न्याय-काव्यतीर्थ, शास्त्री प्रधानाचार्य श्री दिगम्बर जैन विद्यालय कुचामन ने कई बार यहाँ स्वयं पधार कर तथा अनेक पत्रों द्वारा इस सम्पादन कार्य मे प्रोत्साहित करते रहे हैं। उन्हीं की सतत लगन के प्रतिफल स्वरूप इस महान् ग्रन्थ की परिपूर्णता रही है। इस सम्पूर्ण कार्य मे मेरे भ्रातृज द्वय श्री मा० भागचन्द्र पाटणी बी. ए. सा विशारद एव श्री कैलाशचन्द्र पाटणी बी ए एल. एल. बी. ने सक्रिय योग दान कर अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण रूप से निभाया है। यह सन्तोष का विषय है।

अखिल भारत वर्षीय पच्चीसौवें श्री महावीर निर्वाणोत्सव प्रवन्धकारिणी

कमेटी के [illegible] महोदय [illegible] के [illegible] श्री हीरा
केसरीमलजी [illegible] व श्री महावीर जैन [illegible] के
मंत्री महोदय [illegible] श्री महावीरप्रसादजी [illegible] तथा श्री दिगम्बर
जैन [illegible] पंचो मन्दिर के [illegible] श्री प्रभुदयालजी जैन और
श्री [illegible] श्रीमान् सेठ [illegible] जी जैन
साहब का विशेष आभारी हूँ कि मुझ [illegible] को सुविधा देकर
इस पुण्य कार्य मे योग प्रदान किया है।

इस ग्रन्थ की परिपूर्णता होने पर भी भगवान महावीर स्वामी के मोक्ष जाने के पश्चात् पट्टधारी आचार्य मुनिराज व भट्टारक आदि संवत् १ (एक) से १९९७ (उन्नीसो सत्याणवे) तक हुए उनकी पट्टावली श्री भट्टारक मुनीन्द्र कीर्ति दिगम्बर जैन प्राचीन शास्त्र भण्डार नागौर का अनुसन्धान करते समय मुझे प्राप्त हुई थी। उसको भी ज्यो की त्यों इसलिये प्रकाशित की गई है कि विश्वस्त रूप से शोध कार्य एवं प्राचीन इतिहास का ज्ञान व उनकी उत्कृष्ट विद्वत्ता द्वारा की गई सरस्वती सेवा का सर्व साधारण को भान होकर त्याग व चारित्रोत्थान में सहायक स्वरूप सिद्ध हो सके। इसको मुद्रित कराने का एक मात्र यही उद्देश्य रहा है।

अन्त मे इस चारित्र संबंधी ग्रन्थ को वयोवृद्ध श्रद्धेय गुरुवर्य उग्रघोर तपस्वी, परम चारित्रव्रतधारी, निर्भीक चारित्रधर्म प्रचारक, निस्पृह वीतरागी, प्राचीन साहित्योद्धारक, चतुर्थकालीन मुनिमार्गवत् पालक श्री १०८ दिगम्बर जैन मुनिश्वर विवेकसागरजी महाराज के कर कमलो में ज्ञान संवर्द्धनार्थ आज श्री १००८ तीर्थङ्कर भगवान महावीर स्वामी के पच्चीसोवें निर्वाण दीपावली महोत्सव की शुभवेला मे सादर समर्पित करते हुए अन्ततोगत्वा मोक्ष प्राप्ति की अभिलाषा करता हूँ। इत्यलम्।

चरण चञ्चरीक —
सा. ल. सतीशचन्द्र पाटणी शास्त्री
साहित्य [illegible]

मूल ग्रन्थ कर्त्ता :-

श्रीमच्चामुण्डराय का प्रामाणिक जीवन चरित्र

श्रीमच्चामुण्डराय ग्यारहवीं शताब्दी के विद्वान् थे। आपने ब्रह्म क्षत्रिय वंश में वैश्य कुल को सुशोभित किया था। शिला लेख में इन्हें "ब्रह्म क्षत्र कुलीदया शिरोभूदामणि" कहा गया है। यह गंग वंशी राजा श्री राचमल्ल के प्रधान मंत्री और सेनापति थे। श्री राचमल्ल चतुर्थ का राज्य काल शक सं. ८९६ से ९०६ (विक्रम सं. १०३१ से १०४१) तक सुनिश्चित है। ये गंग वज्रमार सिंह के उत्तराधिकारी थे। श्रीमच्चामुण्डराय इनके समय में भी सेनापति रहे। इनका गृह नाम "गोम्मट" था और "राय" राजा श्रीराचमल्ल द्वारा प्रदत्त पदवी थी, इस ही कारण से इनका नाम "गोम्मटराय" भी था। श्री बाहुबली की मूर्तिका नाम 'गोम्मट जिन" और पंच संग्रह का नाम "गोम्मट संग्रह सूत्र" इन्हीं के नाम के कारण हुआ है क्योंकि श्री चामुण्डराय के प्रश्न के अनुसार ही जय धवलादि सिद्धान्तों के आधार से श्री नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने गोम्मटसार की रचना की है।

श्री मारसिंह और इनके उत्तराधिकारी पुत्र श्री राचमल्ल का समय गंग-वंश के लिये भयावह था; क्योंकि पश्चिमी चालुक्य, नोलम्ब, तथा पल्लव आदि गंगवंश के महान शत्रु थे। चालुक्यों के खतरे के विनाश का श्रेय श्री चामुण्डराय को ही है।

श्रवणबेलगोल के कुगे ब्रह्मदेव स्तंभ पर उत्कीर्ण लेख (९७४ ई) में लिखा है कि इस प्रसिद्ध दुर्ग पर हुए आक्रमण ने विश्व को आश्चर्य में डाल दिया। श्री चामुण्डराय ने अपने पुराण में इस बात को स्वीकार किया है कि इस विजय में ही उन्हें "रण रंग सिंह" की उपाधि प्राप्त हुई थी।

श्री मच्चामुण्डराय केवल महामात्य ही नहीं थे किन्तु वीर सेना नायक भी थे, इनके समान शूरवीर और दृढ़ स्वामी भक्त मंत्री कर्नाटक के इतिहास में अन्य नहीं हुआ, इन्होंने अपने स्वामी के लिये अनेक युद्ध जीते थे। श्रीगोविन्द राज, श्री वेलाण्डुराज आदि अनेक राजाओं को परास्त किया था। इसके उपलक्ष में उन्हें "समरधुरंधर, वीर मार्तण्ड, रणरंग सिंह, वैरीकुल काल

दण्ड, असहाय पराक्रम, प्रतिपक्ष राक्षस, भुज विक्रम और समर परशुराम" आदि विरुद प्राप्त हुए थे। कौनसी उपाधि किस युद्ध के जीतने पर मिली इसका उल्लेख निम्नाङ्कित है.—

खड्ग युद्ध में श्री वज्वलदेव को हराने पर उन्हें "समर धुरंधर" उपाधि प्राप्त हुई थी। नोलम्ब युद्ध में गोनूर के मैदान में उन्होंने जो वीरता दिखलाई उसके उपलक्ष में "वीर मार्तण्ड" की उपाधि से विभूषित किये गये। उच्छंगी के किले में "श्री राजादित्य" से वीरता पूर्वक लड़ने के कारण से "रणरङ्गसिंह" उपाधि प्राप्त हुई थी। बागेयूर (बामीकूर) के किले में "श्री त्रिभुवनवीर" को मारने और 'श्री गोविन्दराज' को उसमें न घुसने देने के उपलक्ष में "वैरी कुल-कालदण्ड" उपाधि प्राप्त हुई। राजा "काम" के किले में राजवास, शिवर, कुणामिक आदि योद्धाओं को परास्त करने के कारण उन्हें "भुज विक्रम" उपाधि से अलंकृत किया गया। अपने छोटे भाई "श्री नागवर्मा" के घातक श्री मुदुराचय को जो "चलदंक गंग" और "गंगरभट्ट" के नाम से प्रसिद्ध था उसको मारडालने के उपलक्ष में 'समर-परशुराम" पद से विभूषित किया गया। एक 'छयोले' के मुखिया को पराजित करने के उपलक्ष में "प्रतिपक्ष राक्षस" उपाधि से अलकृत किये गये। अनेक योद्धाओं को मारने के कारण से उन्हें "भट्टमारि" उपाधि प्राप्त हुई थी।

धार्मिकता और नैतिकता की दृष्टि से भी उन्हें "सम्यक्त्व रत्नाकर" सत्य युधिष्ठिर और "सुभट चूडामणि आदि उपाधियां प्राप्त हुई थीं।

निम्नांकित लेखों से प्राप्त उपाधियों को स्पष्ट किया जा रहा है.—

१ शिलालेख संख्या १६५ जैन लेख सं. प्रथम भाग लेख संख्या १४६।

(२) श्रीमदप्रतिहत प्रभावस्याद्वादशासनगुहाभ्यन्तर निवासिप्रवादिमदांधसिंधुरसिंहायमान सिंहनन्दि मुनीन्द्राभिनन्दित गंगवंशललाम राजसर्वज्ञाद्यनेक गुणनामधेय भागधेय श्रीमद् राजमल्ल देव महीवल्लभ महामात्यपदविराजमान रणरंगमल्लासहायपराक्रम गुणरत्नभूषण सम्यक्त्वरत्ननिलयादि विविध गुणनाम समासादितकीर्तिकान्त श्री चामुण्डराय भव्य पुण्डरीक ....।

मन्द प्रबोधिका टीका उत्थानिका वाक्

उपर्युक्त इन सब उपाधियों से ऐसा मालूम होता है कि श्री मच्चामुण्ड-राय अपने समय के कितने प्रतापी और वीर सेनापति थे। वे केवल वीर सेनापति ही नहीं थे किन्तु अच्छे विद्वान और कविराज भी थे। उनकी उप-लब्धिया उनकी महत्ता और गौरव की सद्योतक है।

उपलब्धियाः—

गोम्मट-संग्रह सुत्तं गोम्मट सिहरुवरि गोम्मट जिणोय।
गोम्मट राय-विणिम्मिय-दाक्खिण कुक्कुड जिणो जयउ॥

उपर्युक्त गाथा मे तीन कार्यों का उल्लेख है और उन्ही का जयघोष किया गया है। 'गोम्मट संग्रह सूत्र' "गोम्मट जिन," और 'दक्षिण कुक्कुड़ जिन'। गोम्मट जिनसे भगवान नेमीनाथ की उस एक हाथ प्रमाण 'इन्द्रनील-मणि' की प्रतिमा से है; जिसे "गोम्मटराय" ने बनवाकर चन्द्रगिरि पर्वत पर स्थित अपने मन्दिर में स्थापित की थी और "दक्षिण कुक्कुड़ जिन" से अभि-प्राय "बाहुबली" की उस विशाल मूर्ति से है जो पोदनपुर में भरत चक्रवर्ती ने बाहुबली की उन्हीं के शरीराकृति जैसी मूर्ति बनवाई थी जो 'कुक्कुट सर्पों' से व्याप्त होने के कारण से दुर्लभ दर्शन हो गई थी उसही के अनुरूप यह मूर्त्ति विन्ध्यगिरि पर विराजमान की गई थी। "दक्षिण" विशेषण उसकी भिन्नता का द्योतक है। अपनी माता की इच्छानुसार ही "गोम्मट स्वामी" की मूर्ति का निर्माण श्रीमच्चामुण्डराय ने कराया था।

श्री मच्चामुण्डराय की अमर कीर्ति का महत्व पूर्ण प्रतीक श्रवणबेलगोला में प्रतिष्ठापित जगद्विख्यात बाहुबली की मूर्ति है जो सत्तावन फीट उन्नत (ऊंची) और विशाल है। जिसका निर्माण श्री चामुण्डराय ने कराया था जो धूप, वर्षा, सर्दी, गर्मी और आंधी की बाधाओं को सहते हुए भी अविचल स्थित है। मूर्ति, शिल्पी की कल्पना का साकार रूप है। मूर्ति के नख आदि वैसे ही अकित है जैसे उनका आज ही निर्माण हुवा हो। श्री चामुण्डराय ने बाहुबली की मूर्ति की प्रतिष्ठा ई. ९८१ में कराई थी। लगभग एक हजार वर्ष का समय व्यतीत हो जाने पर भी वह वैसी ही सुन्दर प्रतीत होती है एवम् संसार के दशवें आश्चर्य के रूप में उल्लिखित की जाती है। दर्शक की आंखे उसे देखते ही प्रसन्नता से भर जाती हैं। बाहुबली की यह मूर्ति ध्याना-वस्था की है। वे केवल ज्ञान होने से पूर्व जिस रूप में स्थित थे वही लता बेलें जो बाहुओं तक उत्कीणित है और नीचे सर्पों की बामियां भी बनी हुई है, उस

ही रूप को कलाकार ने अंकित किया है। इस मूर्ति को देखकर
होता। उसकी भावना उसे बार बार देखने की होती है। मूर्ति दर्शन
आत्मलाभ होता है उसे शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। उसके
कन से यह भावना अभिव्यक्त होती है कि अखिल गगन में इस मूर्ति का
हो। श्री चामुण्डराय द्वारा बनवाये जाने का उल्लेख है और 'गोम्मट
सुत से अभिप्राय 'गोम्मट सार' से है।

दूसरी उपलब्धि "त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित्र" है, जिसे श्री चामुण्डराय
शक सं० ९०० ईस्वी सन् ९७८ (वि० सं० १०३५) में बनाकर समाप्त कि
था। इसमें चौवीस तीर्थंकरों के चरित्र के साथ चक्रवर्ती आदि महापुरुषों
पावन जीवन चरित्र अंकित किया गया है। इसके प्रारम्भ में लिखा है कि इ
चरित्र को पहिले कुचि भट्टारक तदनन्तर 'नन्दि मुनीश्वर, तत्पश्चात् 'कवि
परमेश्वर और तत्पश्चात् 'जिनसेन गुण भद्रस्वामी, इस प्रकार परंपरा से कहते
आये हैं और उन्हीं के अनुसार मैं भी कहता हूँ। मंगलाचरण में गृद्धपिच्छाचार्य
से लेकर अजितसेन पर्यन्त आचार्यों की स्तुति की है और अन्त में श्रुतकेवली,
दशपूर्वधर, एकादशांगधर, आचारांगधर, पूर्वांग देश धर के नाम कह कर
अर्हद्बली, माघनन्दि, भूतबलि, पुष्पदन्त, गुणधर, कुन्दकुन्दाचार्य, तुम्बूलूराचार्य,
समन्तभद्र, शुभनन्दि, रविनंदि, एलाचार्य, नागसेन, वीरसेन, जिनसेन आदि का
उल्लेख किया गया है फिर अपने गुरु की स्तुति की है। यह पुराण प्रायः गद्यमय
है, पद्य बहुत कम हैं। कनड़ी भाषा के उपलब्ध ग्रन्थों में चामुण्डराय पुराण ही
सबसे प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है। श्री चामुण्डराय के गुरु का नाम श्री अजित
सेनाचार्य था जो उस समय के बहुत बड़े विद्वान् तपस्वी और क्षमाशील थे।
उनके अनेक शिष्य थे। बंकापुर में उन्होंने अनेक शिष्यों को शिक्षा दी। श्री आचार्य
नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती पर भी उनका स्नेह था। श्री आचार्य नेमीचन्द
सिद्धान्तचक्रवर्ती ने श्री चामुण्डराय के प्रश्नानुसार ही पञ्च संग्रह
(गोम्मटसार) की रचना की थी। श्री चामुण्डराय वीर और महादानी थे। जैन
धर्म के लिए उन्होंने जो कुछ किया उससे भारतीय इतिहास में उन्हें अमर
बना दिया है।

तीसरी उपलब्धि "चरित्रसार" यानी 'भावनासारसंग्रह' है जिसकी
उन्होंने तत्वार्थराज वार्तिक, राद्धान्तसूत्र, महापुराण को
मे...कर रचना की है जैसा कि उनके

तत्वार्थ शद्धान्त महापुराणे स्वाचार शास्त्रेषु च विस्तरोक्तम्
आख्यात्समादनुयोगदेवी चरित्रसारं रणरंग सिंहः ॥

इसमें गृहस्थ और मुनियों के आचार का व्यवस्थित वर्णन है उसका सकलन संबंध सुन्दर है, कथन की सम्वद्धता ही उसकी प्रामाणिकता का मापदण्ड है।

यह ग्रन्थ हिन्दी अनुवाद के साथ सुव्यवस्थित रूप से प्रकाशित हो रहा है।

गोम्मटसार की देशी कर्णाटक वृत्ति भी इनकी बनाई हुई कही जाती है किन्तु वह अभीतक उपलब्ध नहीं हुई है।

त्रिकूकवेट्ट पर इनके द्वारा एक वसदि (वसतिका) बनाये जाने का उल्लेख मिलता है। इनके पुत्र का नाम जिन देवण था जो अजितसेनाचार्य का शिष्य था। श्री जिनदेवण ने श्रवणबेलगोल में श्री जिन मंदिर का निर्माण कराया था। यह लेख शक सं० ९६२ (सन्१०४०) में उत्कीर्ण किया गया है।

जिन प्रहृयं बेल गोल दोल जनमेल्लं योगले मंत्रि चामुण्डजनन्दनो लीव माडिसिदं जनदेवणन जनसेन मुनवर गुड्ड ॥१॥

जैन लेख सं० भाग १ पृष्ठ १४६।

जैन धर्म का प्राचीन इतिहास भाग २ पृ० स० २६५ से ६७ तक

एक अन्य पट्टावली जो शुद्ध श्रावक धर्म प्रकाश ग्रन्थ में अंकित की गई है उसमें श्री चामुण्डराय को मुनिश्वर आचार्य के रूपमें भी बताया गया है। इनके गुरु श्री जिनसेनाचार्य मुनिराज थे इससे इनका मुनिमहाव्रत धारण करलेना कोई आश्चर्य जनक बात नहीं है। उपर्युक्त जैन धर्म के प्राचीन इतिहास भाग भाग २ के विद्वान लेखक श्रीमान् पं० परमानन्दजी शास्त्री ने श्री चामुण्डराय के निर्ग्रन्थ साधु अवस्था में न होने का कोई ठोस प्रमाणित प्रमाण नहीं दिया है। अतः पट्टावली को नितान्त अनर्गल भी नहीं कहा जा सकता है। इनके जीवन व कृतियों के संबंध में अभी भी विशेष अनुसन्धान की अत्यन्त आवश्यकता है।

नं० सतीशचन्द्र पाटनी शास्त्री
साहित्य-रत्न

प्रस्तावना

संस्कृत भाषा [illegible] महत्वपूर्ण [illegible] है। [illegible] भाषा [illegible] इसके [illegible] भी अधिक [illegible] उनमें प्रचार साहित्य लिखा [illegible] की रुचि संस्कृत की ओर [illegible] पंडितों की श्रेणी में समझा जाने [illegible] कहलाने में अपना पूर्ण [illegible] विषयों पर इतना अधिक लिखा कि अभी तक [illegible] नहीं लिखा जा सका। उन्होंने [illegible] लिखे। आध्यात्मिक एवं सिद्धान्त ग्रन्थों की रचना [illegible] पर सौंदर्य ग्रन्थों की रचना करके संस्कृत साहित्य [illegible] महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। यही नहीं आयुर्वेद [illegible] जैसे विषयों पर भी उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की। संस्कृत भाषा में [illegible] निर्माण का उनका यह क्रम [illegible] इस प्रकार [illegible] प्रधान गति से [illegible] रहा है। आचार्य समन्तभद्र, आचार्य सिद्धसेन, आचार्य पूज्यपाद, आचार्य अकलंकदेव, आचार्य जिनसेन, विद्यानन्द एवं अमृतचन्द्र जैसे महान् आचार्यों पर किसे गर्व नहीं होगा। इसी तरह आचार्य गुणभद्र, वादीभसिंह, महावीराचार्य, आचार्य शुभचन्द्र, हस्तिमल्ल जैसे आचार्यों ने संस्कृत भाषा में अपार साहित्य लिखकर संस्कृत साहित्य के यश एवं गौरव को द्विगुणित किया और जब भट्टारकों का युग आया तो उन्होंने भी इस भाषा में सैकड़ों ग्रन्थ लिख इसके गौरव को बढ़ाया। इन भट्टारकों में भट्टारक शुभचन्द्र, सकलकीर्ति, ब्रह्मजिनदास जैसों की सेवाएं कभी नहीं भुलायी जा सकती।

उत्तरभारत के समान ही दक्षिण भारत में भी संस्कृत के धुरन्धर [illegible]द्वान् हुये और उन्होंने भी इस भाषा से साहित्य के विकास में अपना महत्वपूर्ण [illegible]न दान दिया।

इन भट्टारकों में भट्टारक सकलकीर्ति का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। और जब देश में भट्टारकों का युग आया तो उन्होंने भी इस भाषा में सैकड़ों ग्रन्थ लिखकर इसके गौरव में अभिवृद्धि की। ऐसे भट्टारकों में शुभचन्द्र, भ० सकलकीर्ति, ब्रह्मजिनदास, भ० ज्ञानभूषण के नाम उल्लेखनीय हैं।

उत्तर भारत के समान दक्षिण भारत में भी संस्कृत भाषा के कितने ही धुरन्धर विद्वान् हुए जिन्होंने संस्कृत में अनेक काव्यों की रचना करके इसके प्रचार प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया। ऐसे विद्वानों में महाकवि चामुण्डराय का नाम उल्लेखनीय है।

जैन ऐतिहासिक महाव्यक्तियों में वीरमार्तण्ड चामुण्डराय का नाम अमर है। भारतीय इतिहास इनके अमर कृतित्व व व्यक्तित्व को कदापि विस्मृत नहीं कर सकता। इनके द्वारा निर्मापित श्रवणबेलगोला की वह अद्भुत उन्नत, भव्य, मनोज्ञ एवं विशाल मूर्ति जब तक विराजमान रहेगी तब तक इनका धवल यश भी अविच्छिन्न रूप से फैला रहेगा। जिस प्रकार वह मूर्ति अद्भुत, अनुपम एवं विशाल है उसी प्रकार वीरमार्तण्ड का व्यक्तित्व भी सचमुच अद्भुत अनुपम तथा महान् है। यद्यपि चामुण्डराय की जीवन घटनाओं का पूर्ण परिचय हमें प्राप्त नहीं है, तथापि अत्र-तत्र उपलब्ध कीर्तिगाथाओं से इनके महान् व्यक्तित्व का पता अवश्य लग जाता है।

चावुण्डराय द्वारा रचित त्रिषष्टिलक्षण महापुराण[१] (अपर नाम—चावुण्डराय पुराण) एवं श्रवणबेलगोला के विंध्यगिरिवाले २८१ वें शिलालेख में चावुण्डराय को ब्रह्म क्षत्रिय वंशज बतलाया गया है। इससे अनुमान होता है कि मूलतः ये ब्राह्मण वंशज थे, पश्चात् क्षत्रियकर्म अर्थात् असि कर्म को अपनाने से यह क्षत्रिय के रूप में परिगणित हो गये। दुर्भाग्य से इनके माता-पिता कौन थे और इनका जन्म कहां, कब और किस तिथि को हुआ था आदि का ठीक-ठीक पता नहीं लगता। वैसे 'भुजबलि चरित' में लिखा है कि इसकी माता का नाम कलादेवी था। चामुण्डाय को एक-दो नहीं अपितु तीन शासकों के शासन काल में कार्य करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इसके साथ ही इस बात के लिए भी पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं कि चामुण्डाय के बहुमूल्य जीवन का अधिकांश भाग गंगों की राजधानी तलकाडु में ही व्यतीत हुआ था।

१ पृष्ठ — ५

आचार्य अजितसेन के परमशिष्य, गगकुलतिलनन्द, गंगा कुलानु[illegible]
जगदेकवीर, धर्मावतार आदि अन्यर्थ उपाधियों से विभूषित राचमल्ल (च
इनके आश्रयदाता थे। जिस गंगवंश का सुदृढ़ राज्य मैसूर प्रान्त (व
कर्नाटक प्रान्त) लगभग ईसा की चौथी शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं श
तक बना रहा, राचमल्ल उसी गंगवंश के सुशासक मारसिंह का उत्तराधि
था। गंग नृपों के शासनकाल में वर्तमान कर्नाटक का बहुभाग उसी के
के अन्तर्भुक्त था, जो उस समय गंगवाडि कहलाता था। गंगराज्य उस
अपनी सर्वोत्कृष्ट दशा पर पहुंच गया था और प्रारम्भ से इस राज्य क
धर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। श्रवणवेलगोला के लेख सं० ५४ (६७
गंगवंश की जड़ जमाने वाले जैनाचार्य सिंहनन्दी ही थे। 'गोम्मटसा
के रचयिता अभयचन्द्र त्रैविद्य चक्रवर्ती ने भी इसे स्वीकार किया है।
ताम्रशासन के आधार पर मेजर राइस साहब का कहना है कि आचार्य
पाद इसी वंश के सातवें शासक दुर्विनीत (ई० सन् ४७८-५१३) के
थे। जैन धर्म के उपासकों में राचमल्ल का पूर्वाधिकारी गंगनरेश मारसि
नाम भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसने कई जैन मन्दिर तथा स्तम्
निर्माण कराकर अन्त में अजितसेन भट्टारक के निकट समाधि मरण
बंकापुर में शरीरत्याग किया था।

चामुण्डराय उपर्युक्त राचमल्ल (चतुर्थ) का सुयोग्य सेनापति औ
था। उक्त राचमल्ल के सुयोग्य शासन काल में ही वीरमार्तण्ड श्री चा
ने विश्व-विख्यात श्री गोम्मटेश्वर मूर्ति की स्थापित कीथी। चावुण्डराय [illegible]
की उपाधि भी इनके उक्त धार्मिक उदार कार्य से सन्तुष्ट होकर राच
द्वारा ही दी गई थी, जो कि धर्ममूर्ति चावुण्डराय के लिये सर्वथा उपयु
गोम्मटसार कर्मकाण्ड एवं जीवकाण्ड से आचार्य अजितसेन चावुण्डराय
तथा उसकी टीका से व्रतगुरु स्पष्ट सिद्ध होते हैं।[२] यद्यपि चावुण
विद्याध्ययन के सम्बन्ध में कुछ भी स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है त
अनुमान लगाना सरल है कि इनका विद्याध्ययन किसी सुयोग्य गुरु के

१ जम्हि गुणा विस्संता गणहरदेवादिइड्डिपत्ताणं।
सो अजियसेणणाहो जस्स गुरू जयउ सो राओ ॥ ९६६ ॥
अज्जज्जसेणगुणगणसमूहसंधारिअजियसेणगुरू।
भुवणगुरू जस्स गुरू सो राओ गोम्मटो जयउ ॥ ७३३ ॥

ही हुआ होगा। यही कारण है कि वे शस्त्र, शास्त्र, एव शिल्प आदि सभी कलाओं में निष्णात थे। कुछ समयानन्तर आचार्य नेमिचन्द्र के निकट इनने अपने आध्यात्मिक ज्ञान को उन्नत बनाया था। नेमिचन्द्राचार्य ने स्वयं चावुण्डराय के गुणों की मुक्तकठ से प्रशसा की है।३

जिस प्रकार इनका बाल्यकाल अधकाराच्छन्न है, उसी प्रकार गृहस्थ-जीवन भी। इतना पता तो अवश्य लगता है कि इनकी सौभाग्यवती गृहणी का नाम अजितदेवी और पुत्र का नाम जिनदेव था। गगनरेशो का राजमत्री तथा सेना नायक जैसे उच्चपद पर चावुण्डराय का आसीन होना ही इनकी योग्यता का एक समुज्जवल निदर्शन है। वास्तव में चावुण्डराय अपने कुल के एक देदिप्यमान रत्न थे। इसी कारण विद्वानो ने इसे 'ब्रह्म क्षत्र कुलमानु' 'ब्रह्मक्षत्रकुलमणि' आदि विशेषणो के द्वारा स्मरण किया है। शासनाधिकार-रूपी उच्चतम पद पर आरूढ होकर भी यह अपने नैतिकमार्ग से तिलभर भी कभी नही डिगा था। यही कारण है कि 'शौचाभरण' 'सत्ययुधिष्ठिर' आदि गौरवपूर्ण उपाधियों मे वे स्मरण किये गये हैं।

चावुण्डराय ने सेनापति जैसे उत्तरदायित्वपूर्ण पद को बहुत ही योग्यता के साथ निर्वाहित किया है। यही कारण है कि इनने खेडग के युद्ध मे वज्जलदेव को हराकर "समर धुरन्धर" गोनूर के मैदान मे नोलम्बों के समर मे' 'जगडेकवीर' को हराकर वीरमार्तण्ड,' चउच्चगि के दुर्ग को हस्तगत कर रणरगसिग,' बागेयूरु दुर्ग मे त्रिभुवनवीर को मारकर गोविन्द को [illegible] बनाने के उपलक्ष मे 'वैरिकुलकालदण्ड,' नृपकाम के दुर्ग मे राज, वासु, [illegible] एव कूणाक आदि शूरों पर विजय पाने के कारण 'भुजविक्रम,' अपने [illegible] नागवर्म को मारने वाले 'चलन्दकगग,' गगकमट, मधुराचय को [illegible] के घाट उतारने के कारण 'समरपरशुराम' और अन्य वीरों को [illegible] से 'प्रतिपक्षराक्षस' तथा करोड़ो वीरभटों को पराभव करने के [illegible] जैसी प्रचण्ड वीरताद्योतक उपाधिया प्राप्त की थी।४ इनका [illegible] 'अतिप्रचण्डवीरमाण्डलिक शिखण्डमण्डनमणि' होने [illegible]

३ सिद्धंतुदयतडुग्गयणिम्मलवरणेमिचन्द करकलिया।
गुणरयणभूसणंबुहिमइवेला भरउ भुवणयल ॥ ९६७ ॥ कर्मकाण्ड

४. श्रवणबेलगोल लेख नं० १०६ एव 'चावुण्डरायपुराण'

से भी यह विख्यात था था। वास्तव में तत्कालीन उपाधियों से चामुण्डराय उस युग के एक अद्वितीय वीरशिरोमणि सिद्ध होते हैं।

वीरमार्तण्ड जिस प्रकार एक महान सेनापति थे उसी प्रकार एक कुशल राजमन्त्री भी। इनके मन्त्रित्व में गंगराष्ट्र की अभूतपूर्व उन्नति हुई थी। तत्कालीन गंग प्रजाओं की अभिवृद्धि ही चामुण्डराय के सुशासन का ज्वलन्त दृष्टान्त है। उस समय के उपलब्ध अनेक भव्य मन्दिर, कितनी ही मनोज्ञ मूर्तियां आदि गंगराष्ट्राभ्युदय की साक्षी हैं।

वीरमार्तण्ड कन्नड, संस्कृत एवं प्राकृत के अच्छे विद्वान् और कवि थे। इस समय इनके चारित्रसार (संस्कृत) और त्रिषष्टिलक्षण महापुराण (कन्नड) नामक दो ही ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। ये दोनों ग्रन्थ प्रकाशित भी हो चुके हैं। आचार्य नेमिचन्द्र के कथनानुसार इन्होंने गोम्मटसार पर एक कन्नड वृत्ति भी रची थी।

गोम्मटसुत्तल्लिहणे गोम्मटरायेण जा कया देसी।
सो राओ चिरकालं णामेण य वीरमत्तंडी ॥[1]

उपर्युक्त चारित्रसार एक संग्रह ग्रन्थ है। इनका त्रिषष्टिलक्षण महापुराण एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है और यह १० वीं शताब्दी के कन्नड गद्य का एक समुज्ज्वल उदाहरण भी। कन्नड साहित्य में त्रिषष्टिशलाका पुरुषों का परिचय कराने वाला यही एक सर्व प्राचीन ग्रन्थ है। इसके साथ ही आज तक उपलब्ध कन्नड गद्य ग्रन्थों में यह चावुण्डराय पुराण आद्य गद्य ग्रन्थ माना है। मालूम होता है कि इन्हें पद्य की अपेक्षा गद्य लिखने की अधिक सुविधा थी, या अपने ग्रन्थों में निर्दिष्ट धर्मोपदेश को सर्वसाधारण तक सुगमता से पहुंचाने के लिए इसने सरल गद्य में ग्रन्थरचना करना ही अपना प्रमुख ध्येय बना लिया था। कन्नड साहित्य के सुप्रसिद्ध मनीषी श्री गोविन्द पै के शब्दों में इन्हें जनप्रिय लेखक होना इष्ट था, न कि अपने को कवि प्रकट करने की लालसा। कन्नड साहित्य में उपलब्ध चंपूग्रन्थों में इसकी रचनाशैली नितांत विशाल है। इसका वर्णनक्रम बिलकुल स्पष्ट और हृदयग्राही होने के साथ

१ ९७२ कर्मकांड

साथ एक जन्मजात वीरयोद्धा के स्वभावानुसार ठीक अपने लक्ष्य को [illegible] ए
करने वाला है। सुकवि चावुण्डराय का 'कविजनशेखर' उपाधि भी [illegible] स्व

श्रीमान् गोविन्द पै इस ग्रन्थ के अन्तः परीक्षण द्वारा निम्न [illegible] ना
पर पहुचे हैं "अतः कहना होगा कि इस रचनाकाल के अन्तराल में [illegible] ा।
विविध रणक्षेत्रों में व्यस्त था और उसे ग्रन्थ रचना के लिए [illegible] किन
ही कम मिला था। एक योद्धा के जीवन मे प्रवेश कर [illegible] या।
उसने इस धर्मग्रन्थ की रचना प्रारम्भ की थी और इसकी [illegible] ण्डराय
ही मालूम होता है, उसका योद्धा जीवन अन्त को पहुंच [illegible] रल से
इसके (सन् ९७८ ई०) बाद उसकी कोई नई [illegible] लान्तक'
विदित नही होता। राय की पदवी अवश्य इसके बाद [illegible]
एक धर्मकार्य के उपलक्ष्य में। सम्भव है, इस ग्रन्थ [illegible]
वर्ष से भी अधिक समय लगा हो। इसमे आश्चर्य नहीं [illegible]
(*Caesar's Commentaries*) की तरह यह [illegible] ही समय
क्षणों मे लिखा गया है और मालूम होता है कि [illegible] ह के पुत्र
ने समस्त शत्रुओं को परास्त करके गंगराष्ट्र में [illegible] विपत्ति
बहा दी थी।" [illegible] ने आश्रय

कवियों का वीरमार्तण्ड सच्चा आश्र[illegible] जाता था,
महाकवि रन्न विद्याध्ययनार्थ अपने [illegible] हुत दिनों
गंगराजधानी मे पहुंचा उस समय [illegible] चावुण्डराय
तेजस्विता आदि गुणों को देखकर इन्हें [illegible] से पता
की पूरी व्यवस्था कर दी। चावुण्डराय [illegible] आश्चर्य में
एक अद्वितीय कवि निकला जिस[illegible] इस बात
मे सगर्व कर रहा है। यह कवि [illegible] वीरतापूर्वक
कविता से मुग्ध होकर ही [illegible] थी। श्रवणबेल-
की थी। मगर [illegible] कि इन्हें 'रणसिंग'
आज कर्नाटक को [illegible] कर
प्राप्त नहीं होता। ये [illegible] उपलक्ष्य में
अधिकांश भाग [illegible]
स्वाध्याय, संयम [illegible]

हुए थे। वीरमार्तण्ड एक सच्चा, दृढ़ श्रद्धानु नैष्टिक श्रावक था। इसीलिए कहा गया है कि निश्चकादिगुणपरिरक्षणैककारण ही "गुणवं काव" "सम्यक्त्वरत्नाकर" एवं 'गुणरत्नभूषण' ये उपाधियां इन्हीं से प्राप्त थीं। इतना ही नहीं अपितु यह श्रावक के अहिंसादि अणुव्रतों का पूर्ण परिपालक था अतएव 'शौचाभरण' 'सत्ययुधिष्ठिर' आदि उपाधि से वह अलंकृत था। साथ ही साथ जनप्रिय होने से अण्ण (भ्राता) जैसे अभ्युदयसूचक सम्मानित नाम से भी पुकारा जाता था।

यह निःसन्देह है कि चावुण्डराय का अन्तिम जीवन विशिष्ट धर्मसेवन के साथ व्यतीत हुआ होगा। आचार्य नेमिचन्द्र जैसे महान् विद्वान् का सम्पर्क इसमें मुख्य कारण है। चावुण्डराय ने अपनी धवलयश को अमर बनाये रखने के लिए श्रवणबेलगोला जैसे प्रमुख एवं सुप्राचीन पुण्यतीर्थ चुनना उनकी बड़ी ही बुद्धिमत्ता का काम था। वास्तव में इसके द्वारा स्थापित उपर्युक्त गोम्मट मूर्ति से इस तीर्थ की महिमा और बढ़ गई है। इस दृष्टि से इसे इस पवित्र भूमि का उद्धारक कहना सर्वथा समुचित है। अद्यपर्यन्त यह क्षेत्र जनता के हृदयों में समाये रहने का एक मात्र कारण उल्लिखित गोम्मटेश्वर मूर्ति ही है। अन्यथा दक्षिण के कोपण आदि अन्यान्य प्राचीन क्षेत्रों के समान विद्वानों के लिए ही यह स्थान एक अन्वेषणीय वस्तु मात्र रह जाता। इस पुनीततीर्थ की अभिवृद्धि का सारा श्रेय वीरशिरोमणि चावुण्डराय को ही मिलना चाहिए।

डा० बी० ए० सालेतोरे चावुण्डराय के सम्बन्ध में कहते हैं कि "जैन इतिहास में चावुण्डराय का नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित है। चावुण्डराय केवल वीर ही नहीं, बड़ा भारी कवि भी था। चावुण्डरायपुराण उसी की कृति है। यह कर्नाटक का रहने वाला था। चावुण्डराय गंगवंश के राजा मारसिंह और उनके पुत्र तथा उत्तराधिकारी राचमल्ल के दरबार में था। कई लोगों ने 'ब्रह्मक्षत्र' जाति का बतलाया है। इसीलिए उसकी एक उपाधि ब्रह्मक्षत्र शिखामणि भी है। पता चलता है कि उसके गुरु प्रसिद्ध अजितसेन थे। लेकिन नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती का भी उस पर काफी प्रभाव पड़ा था। नेमिचन्द्र ने स्व-रचित गोम्मटसार में चावुण्डराय की बड़ी प्रशंसा की है। इसके अतिरिक्त कन्नड़ कवि चिदानन्द ने भी अपनी रचना 'मुनिवंशाभ्युदय' में अजितसेन को चावुण्डराय का गुरु बतलाया है ......"

जिस युग में चावुण्डराय हुआ था, वह गंगवंश के राजाओं के लिए कटकाकीर्ण था। वे चारों ओर से दुश्मनों से घिरे हुए थे। अपना अस्तित्व स्थिर रखने के लिए तथा अपनी उन्नति के लिए उन्हें निरन्तर युद्ध करना पडा और इसमें सन्देह नही कि इन युद्धों का सचालक चावुण्डराय ही था। चावुण्डराय के समय में गंगराज मारसिंह पर नोलम्बों ने चढाई की, लेकिन गोनूर के मैदान में चावुण्डराय ने उनकी सेना को छिन्न-भिन्न कर दिया। चावुण्डरायपुराण से पता चलता है कि इस वीरता के लिए चावुण्डराय 'वीरमार्तण्ड' की उपाधि से विभूषित किया गया। ब्रह्मदेव के स्तम्भ-लेख से मालूम होता है कि इस विजय के अवसर पर स्वय मारसिंह ने 'नोलम्बकुलान्तक' की उपाधि धारण की थी।

दूसरा संकट पश्चिमी चालुक्यों की ओर से था। मारसिंह के ही समय मे पश्चिमी चालुक्यों ने उपद्रव मचाना आरम्भ किया था। मारसिंह के पुत्र राचमल्ल के समय में चावुण्डराय ने राजादित्य को परास्त कर यह विपत्ति दूर की। कहा जाता है कि उच्चगि के दुर्जेय किले में राजादित्य ने आश्रय लिया था। इस दुर्ग को जीतना एक प्रकार से असम्भव ही माना जाता था, कुछ समय पूर्व 'काडुवेटी' ने इस किले को घेर डाला था, पर बहुत दिनों तक घेरा डालने पर भी वह इसे वश में नही ला सका था। लेकिन चावुण्डराय के आगे इस दुर्ग की दुर्जयता न रह सकी। ब्रह्मदेव-स्तम्भ के लेख से पता चलता है कि चावुण्डराय ने इस किले को विध्वस्त कर संसार को आश्चर्य में डाल दिया। स्वय चावुण्डराय की कृति चावुण्डराय पुराण से भी इस बात की पुष्टि होती है। वह लिखता है कि उच्चंगि के किले को वीरतापूर्वक हस्तगत करने के कारण उसे 'रणरंगसिंह' की उपाधि मिली थी। श्रवणबेल-गोला के 'त्यागद ब्रह्मदेव-स्तम्भ' के लेख से मालूम होता है कि इन्हें 'रणसिंग' राजादित्य की उपाधि थी। इस प्रकार चावुण्डराय ने शत्रु को परास्त कर उसी का उपाधि धारण की थी। स्वयं राचमल्ल ने भी इस विजयोपलक्ष्य में 'जगदेकवीर' की उपाधि ग्रहण की थी।

तीसरी घटना, जिसके कारण से चामुण्डराय ने 'समर-धुरन्धर' की उपाधि पाई, मेडग का युद्ध है। इस युद्ध में उसने नलम्ब को पराजित कि था। इसका वृत्तान्त चामुण्डराय पुराण में मिलता है। 'त्यागद ब्रह्मदेव-स्तम्भ लेख में भी इसका उल्लेख है। उक्त पुराण के अनुसार चामुण्डराय ने बागे दुर्ग के त्रिभुवनवीर नामक एक सरदार को मारकर 'वैरिकुलकालदण्ड' की उपाधि पाई। इसके बाद राज, बास, शिवर, कुणाक आदि सरदारों को का नामक राजा के दुर्ग में मार कर 'भुजविक्रम' की उपाधि प्राप्त की। मदुराच ने जो 'चलदंकगंग' और 'गंगरभट' के नाम से भी प्रसिद्ध है, चामुण्डराय के छोटे भाई, नागवर्मा को मार डाला था।

चामुण्डराय ने उसे मार कर अपने भाई की मृत्यु का बदला चुकाया। त्यागद ब्रह्मदेवस्तम्भ लेख से मालूम होता है कि चलदंकगंग ने गंगराज सिंहासन पर अधिकार जमाना चाहा था। चामुण्डराय ने उसके प्रयास को निष्फल करके उसका नाश किया और इस तरह अपना बदला भी चुका लिया। इस सफलता पर उसे 'समरपरशुराम' की उपाधि मिली। उक्त पुराण से ही यह भी पता चलता है कि अन्य कई वीरों पर विजय पाने के कारण उसे 'प्रतिपक्षराक्षस' की उपाधि मिली थी। इन उपाधियों के अतिरिक्त वह 'भटमारि' और 'सुभटचूडामणि' की उपाधियों से भी भूषित किया गया था।

चामुण्डराय ने जैनधर्म के विकास के लिए अनेक प्रयास किये। गोम्मटेश्वर मूर्ति की स्थापना जैसा उनका एक कार्य ही उनकी जैनधर्म के प्रति सर्वाधिक श्रद्धा का सूचक है। यह मूर्ति संसार का एक आश्चर्य है और चिरकाल तक आश्चर्य ही बना रहेगा।

वीर चामुण्ड केवल सेनापति, मन्त्री एवं उच्च प्रबन्धक ही नहीं किन्तु जैनदर्शन के महान् ज्ञाता, साहित्यसेवी तथा विद्वान् भी थे। युद्ध क्षे शासन के कंटककीर्ण मार्गों तथा सेना सचालन के अतिरिक्त उन्हें जो समय मिलता उसे वे स्वाध्याय, मनन एवं चिन्तन में व्यतीत करते। आचा साहित्य निर्माताओं तथा सरस्वती के वरद पुत्रों के प्रति उनकी गहरी श्र थी। वे अपनी मातृ भाषा कन्नड के साथ साथ संस्कृत के भी प्रकाण्ड वि

थे और इन दोनों ही भाषाओं में अधिकार पूर्वक कविता एवं लेखन कार्य करते थे।

समय–

चावुण्डराय ने अपने "चावुण्डराय पुराण" को शक सं० ६०० (ई० सं० ६७८) में पूर्ण किया था। इसके रचना के पश्चात् उन्होंने श्रवण-बेलगोला में बाहुबलि स्वामी की मूर्ति की प्रतिष्ठा ई० सन् ६८१ में सम्पन्न की थी। गोम्टेश्वर की मूर्ति के समीप ही द्वारपालो की बायी ओर सन् ११८० का लेख है जो इस बात का द्योतक है कि उस समय तक तो गोम्मटेश्वर की इस मूर्ति का यश देश के प्रत्येक भाग में फैल गया था और मूर्ति के प्रतिष्ठापक के रुप में चावुण्डराय जन जन की श्रद्धा के केन्द्र बन चुके थे। इसलिये चावुण्डराय का समय १० वीं शताब्दि का है।

कृतियां–

चावुण्डराय की संस्कृत भाषा की दो रचनायें उपलब्ध होती हैं। एक चावुण्डराय पुराण तथा दूसरी कृति चरित्रसार है। चामुण्डराय पुराण का दूसरा नाम त्रिषष्ठि पुराण अथवा त्रिषष्ठि लक्षण महापुराण भी है। यह ग्रन्थ कन्नड गद्य का सबसे प्रथम ग्रन्थ है। इसमें ६३ शलाका पुरुषों की कथा निबद्ध की गयी है तथा कथा के साथ ही में आचार एवं दर्शन के सिद्धान्तों का भी वर्णन मिलता है। उक्त कृति के अतिरिक्त इन्होंने अपने गुरु आचार्य नेमिचन्द्र के गोम्मटसार पर भी कन्नड़ भाषा में टीका लिखी थी जिसका उल्लेख गोम्मटसार की गाथा संख्या ६६५ से ६७२ में दिया गया है।

चावुण्डराय की दूसरी कृति चरित्रसार है जिसमें आचार शास्त्र का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। इसका दूसरा नाम भावनासार संग्रह भी मिलता है। यह संस्कृत गद्य में निबद्ध है इस दृष्टि से यह एक उल्लेखनीय रचना है। कृति के प्रारम्भ तथा अन्त में कहीं पर भी रचनाकाल का उल्लेख नहीं किया गया है। किन्तु सम्भवत: इस रचना को चावुण्डराय ने अपने महा-पुराण की समाप्ति के पश्चात् निबद्ध की थी। चावुण्डराय जैन धर्म के दृढ़ श्रद्धानी थे। पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित आचार शास्त्र के वे पूर्ण समर्थक थे।

साधुओं एवं गृहस्थों में किंचित् भी शिथिलाचार को वे पसन्द नहीं करते थे। यही कारण है कि उनको अपने काल के गृहस्थों एवं साधुओं के मार्गदर्शन के लिये चारित्रसार की रचना करनी पड़ी।

चारित्रसार के प्रथम प्रकरण में सम्यग्दर्शन एवं पांच अणुव्रतों का वर्णन किया गया है। उन्होंने ११ प्रतिमाओं के आधार पर ग्यारह प्रकार के [illegible] का विस्तृत वर्णन किया है। इस प्रकरण में प्रथम प्रतिमा के प्रसंग में [illegible] का सांगोपांग वर्णन हुआ है। इसमें २५ दोषों का वर्णन [illegible]। दूसरी [illegible] प्रतिमा के वर्णन में पांच अणुव्रत, ३ गुणव्रत [illegible] का वर्णन हुआ है। इन्हीं अणुव्रतों के प्रसंग में रात्रि [illegible] अणुव्रतों में गिनाया है और यह सिद्ध किया है कि रात्रि [illegible] है। किसी किसी आचार्य ने रात्रि भोजन त्याग को [illegible] किन्हीं आचार्यों ने इसे छठा अणुव्रत की संज्ञा दी है। [illegible] (नवीन अध्याय) एवं महाभारत में आये हुए [illegible] किया है। अणुव्रतों के पश्चात् गुणव्रत [illegible] सहित विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है।

[illegible] सामायिक प्रतिमा, [illegible] प्रतिमा, [illegible] प्रतिमा, [illegible] प्रतिमा, [illegible] अनुमति [illegible] वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

[illegible]

जो पूजा की जाती है उसे कल्पवृक्ष पूजा कहते हैं। नन्दीश्वर द्वीप के दिनों जो पूजा की जाती है उसे अष्टाह्निका पूजा कहते है। इन्द्र प्रतिन्द्र द्वारा जो पूजा की जाती है उसे ऐन्द्रध्वज पूजा कहते है। इसी तरह असि, मसि, कृषि, वाणिज्य आदि शिल्प कर्मों के द्वारा अपनी शुद्ध प्रवृत्ति रख कर धन उपार्जित करना वार्ता है। दान देने को दत्ति कहते हैं। वह चार प्रकार की है–दयादत्ति, पात्रदत्ति, समदत्ति और सकलदत्ति।

आर्यों के जो छह कर्म हैं उनमें तत्पर रहने वाले गृहस्थ कहलाते हैं। वे दो प्रकार के है–जाति क्षत्रिय और तीर्थ क्षत्रिय जाति क्षत्रिय के चार भेद हैं–क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र। अपनी जीविका के भेद से तीर्थ क्षत्रिय अनेक प्रकार के हैं–वानप्रस्थ और भिक्षुक। भिक्षुक के फिर चार भेद किये गये हैं-अनगार, यति, मुनि और ऋषि। ऋषि के भी राजर्षि ब्रह्मर्षि, देवर्षि और परमर्षि ये चार भेद हैं। केवलज्ञानी परमर्षि कहलाते हैं। इसके पश्चात सल्लेखना का रोचक वर्णन हुआ है और इसी के साथ प्रथम प्रकरण समाप्त होता है। मुनि धर्म के वर्णन मे सर्व प्रथम दर्शन विशुद्धिषोडश भावनाओं का वर्णन किया गया है। इन भावनाओं में चतुर्थ गुणस्थान से आठवे गुणस्थान तक तीर्थंकर प्रकृति का बध हो सकता है। इसके पश्चात् दश धर्मों का वर्णन हुआ है। संयम वर्णन के प्रसंग मे मुनियों को अहारदेने वाला श्रावक, १६ उद्गम दोष, १६ उत्पादन दोष, आहार के चार विशेष दोषों, विस्तृत वर्णन हुआ है। आठ प्रकार की शुद्धियों के परिपालन से आत्मा निर्मल होती है। ये आठ शुद्धि हैं- भाव शुद्धि, काय शुद्धि, विनय शुद्धि, ईर्यापथ शुद्धि, भिक्षा शुद्धि, प्रतिष्ठापना शुद्धि, शयनासन शुद्धि, वाक्य शुद्धि।

संयम के पांच भेदो- सामायिक, छेदोपस्थपना, परिहारविशुद्धि सूक्ष्म-साम्पराय, यथाख्यात चरित्र का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसके आगे पांच महाव्रतों की भावनाओं का कथन किया गया है। संयमी तपस्वी अथवा मुनि सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की रक्षा करने के लिये २५ प्रकार की परिषहों को सहन करता है। चारित्रसार में एक एक परिषह का अच्छा वर्णन दिया है। तप दो प्रकार के हैं–एक बाह्य तप और दूसरा अभ्यन्तर

[illegible] वृत्ति परिसंख्यान, रसपरित्याग, [illegible] [illegible] बाह्य तप तथा प्रायश्चित्, विनय, वैय्यावृत्ति, [illegible] [illegible] आभ्यन्तर तप है। इन दोनों ही प्रकार के तप का [illegible] [illegible] है। इसी प्रसंग में उन्होंने पांच प्रकार के [illegible] [illegible] किया है। ये मुनि है पार्श्वस्थ, कुशील [illegible] [illegible] जो मंत्र, वैद्यक अथवा ज्योतिष शास्त्र से [illegible] [illegible] राजा आदिकों की सेवा करते है उन्हें [illegible] [illegible] किया है जो शक्ति ही [illegible] [illegible] मुनि कहलाते है।

[illegible] आवश्यकता है। [illegible] [illegible] उपदेशों में [illegible] [illegible] ही १२ अनुप्रेक्षाओं [illegible] [illegible] प्राप्त होती है [illegible] [illegible] [illegible] लिखा है और इस [illegible]

[illegible]

कृतियों का ही अधिक सम्मान होता था लेकिन विद्वान् कृतिकार ने चारित्र जैसे विषय पर गद्य में लिखकर अपनी विद्वता का ही परिचय नहीं दिया किन्तु ऐसे गूढ विषय को गद्य में लिखकर उसे लोकप्रियता प्राप्त करने मे और भी जन सहयोग मिला। कवि द्वारा गद्य में भी विषय का प्रतिपादन करने पर भी यह सरल एवं सरस दोनो है। क्लिष्ठ शब्दो के प्रयोग से कवि ने अपने आपको बचाया है।

चारित्र सार के पश्चात् सम्पादक ने मुलतान नगर निवासी बुलानी टाकुर की एक महत्वपूर्ण चिट्ठी तथा नागौर के भट्टारको की पट्टावली साथ मे प्रकाशित कर महत्वपूर्ण कार्य किया है। दोनो ही पाठ ऐतिहासिक है और कितने ही तथ्यों को उद्घरित करने वाले हैं। नागौर की भट्टारक गादी स्थापित करने के क्या क्या कारण थे तथा नागौर गादी की सीमा किस प्रकार निर्धारित की गयी इसका भी पट्टावली में उल्लेख किया गया है। यह पट्टावली नागौर पट्ट के अन्तिम भट्टारक देवेन्द्र कीर्ति जी तक पूर्ण है।

हिन्दी गद्यानुवाद – प्रस्तुत कृति का हिन्दी गद्यानुवाद पूज्य विवेकसागरजी महाराज ने विद्वता पूर्वक किया है। मूल गद्य भाग के अनुवाद के साथ ही उन्होंने टीका को और भी विस्तृत बना कर विषय का विशद विवेचन किया है। यही नही उन्होंने समयसगर, पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, गोम्मटसार, सागारधर्मामृत, मूलाचार, मूलाचार प्रदीप जैसे ग्रन्थो मे गाथाए एव श्लोकों को उद्धृत करके अपने गहन स्वाध्याय का ही परिचय नही दिया किन्तु विषय का भी सुन्दर प्रतिपादन किया है। भाषा बहुत ही सुन्दर एव सरस है। मुनि श्री स्वाध्याय शील साधु है तथा संस्कृत एव हिन्दी के अच्छे विद्वान् है तथा प्राचीन एव महत्वपूर्ण ग्रन्थो के प्रकाशन की ओर उनका पूरा ध्यान है। चारित्रसार जैसे दुरुह ग्रन्थ का सफल हिन्दी अनुवाद उनकी इसी विद्वता का परिणाम है। आशा है भविष्य में भी वे इसी तरह

ग्रन्थों के सम्पादन की ओर सतत प्रयत्नशील रहेंगे जिससे हमारा विपुल साहित्य प्रकाश में आ सकेगा।

पं० सतीशचन्दजी पाटनी साहित्यिक रुचि वाले विद्वान् हैं। नागौर के भट्टारकीय शास्त्र भण्डार की ग्रन्थ सूची बनाने का भी उन्होंने कार्य किया है। पाटनीजी ने प्रस्तुत ग्रन्थ का तीन प्रतियों के आधार पर सम्पादन किया है तथा इसका प्रूफ रीडिंग आदि सभी कार्य उन्होंने किया है। उनके अत्यधिक परिश्रम से यह ग्रन्थ और भी उपादेय एवं स्वाध्याय योग्य बन गया है। ग्रन्थ के सुन्दर सम्पादन के लिये उन्हें हार्दिक धन्यवाद।

इसके अतिरिक्त ग्रन्थ के प्रकाशित करने हेतु दिगम्बर जैन समाज, सीकर की यह साहित्यिक सेवा अत्यधिक प्रशंसनीय है तथा अन्य नगरों एवं गांवों की समाजों के लिये यह अनुकरणीय भी है। आशा है सीकर की दिगम्बर जैन समाज एवं विशेषतः श्री केशरीमलजी दीवान एवं भंवरलालजी सेठी जैसे महानुभाव साहित्य प्रकाशन की ओर सतत् प्रयत्नशील रहेंगे।

—डा० कस्तूरचंद कासलीवाल



मुनी श्री विवेक सागरजी महाराज

चुकने बाद में तो आपके और भी विशेष रूप से उत्तरोत्तर वैराग्यमयी भावनाओं ने हृदय में अपना स्थान दृढ़ता के साथ कर लिया। इसके परिणाम स्वरूप आपने श्री १०८ मुनिराज आर्यनन्दि महाराज के चरणारविन्द में आजन्म ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण करली।

इतनी कठोर ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण करलेने पर भी आपको आत्मा में शान्ति अनुभव नहीं हुई और वैराग्यमय विचार मन में वृद्धिगत होते ही गये। इसके परिणाम स्वरूप गृहस्थ नाम श्री लक्ष्मीनारायणजी ने अपना धन धान्य समृद्ध भरा पूरा घर पुत्र, पुत्रियां, माता, पिता, पत्नि आदि क्षणभंगुर नश्वर सांसारिक सुख को तृणवत् समझकर श्री शुभ मिति आश्विन (आसोज) कृष्णा ३ (तीज) विक्रम संवत् २०२५ के दिन इस कौटौम्बिक घर को त्याग कर अपने असली स्वगृह (मोक्ष) की प्राप्ति हेतु गृहस्थावस्था से निकल कर चारित्र चक्रवर्ती आचार्य १०८ श्री ज्ञानसागरजी महाराज के संघ में आगये।

पूर्व अशुभ कर्मोदय के कारण से आचार्य श्री के संघ में आने पर परीक्षा स्वरूप मलेरिया ज्वर, आव और रक्त के दस्त तथा कफ खांसी आदि बीमारियों से लगातार तीन मास तक भीषण युद्ध लड़ते रहे किन्तु अपने स्वकीय लक्ष्य से विचलित नहीं हुए। इतनी कठोर यातनाओं के पहाड़ आकर टूट जाने पर भी पुनः आपने गृहस्थाश्रम की ओर मुख नहीं मोड़ा एवम् अत्यन्त क्षीण शरीरावस्था में भी कठोर तप अनोपवासादि करके आत्मबल को बढ़ाते ही गये। अन्त में केवल दो मास की अवधि में ही आपने सप्तम प्रतिमा से निर्ग्रन्थावस्था योग्य अपने आपको बना लिया।

इस प्रकार सप्तम प्रतिमाधारी श्रावक श्री लक्ष्मीनारायणजी संघ में आने के पश्चात् केवल पांच मास में ही अपने उग्र तप एवं कठोर आचरण से शीघ्रातिशीघ्र निग्रन्थावस्था (मुनिपद) श्री आचार्य १०८ श्री ज्ञानसागरजी (गृहस्थावस्था का नाम श्रीमान् पण्डित भूरामलजी) से विधिवत् महाव्रती



卐 श्री वीतरागाय नम 卐

卐 चारित्र धर्म प्रकाश 卐

(प्रथम खण्ड)

卐

※ मङ्गलाचरण ※

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्वानां वन्दे तद् गुणलब्धये ॥

मोक्ष की राह बतावत जे, अरु कर्म पहाड़ करे चक चूरा ।
विश्व सु-तत्त्व के ज्ञायक है, ताहि लब्धि के हेत नमो पर पूरा ॥

अर्थः— मोक्ष मार्ग के नेता कर्मरूपी पर्वतों के भेत्ता (भेदने वाले) ससार के तत्वों को जानने वाले श्री अर्हन्त भगवान् को मैं (मुनि विवेक सागर) वर्तमान युग के शासन नायक श्री १००८ श्री महावीरस्वामी को प्रत्येक कार्य की आदि में स्मरण करना अत्यावश्यक समझता हूं जिन्होंने ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों का नाश कर दिया है तथा जिनका ज्ञान अलोकाकाश सहित तीनो लोकों को दर्पण के समान प्रकाशित करता है, उन वीर प्रभु को साष्टाङ्ग वारम्बार नमस्कार कर पूर्वाचार्यों की कृतियों के प्रकाशन की सद्भावना करता हूं एवं देवाधिदेव श्री १००८ वर्धमान भगवान् के समान ही उनके गुणो की प्राप्ति के लिये स्तवन (स्तुति) करता हूं ।

विहार करते हुए माधोराजपुरा से सांगानेर, नांवा, कुचामन सिटी, कुकनवाली, मारोठ. पांचवा आदि स्थानों पर धर्म पिपासुओं को अमृत पान कराते हुए चाय, सिगरेट, निशि भोजन आदि जनता में फंसे हुए दुर्व्यसनों का त्याग भी अनेक स्थानों पर पूज्य श्री की सद् प्रेरणा से ही हुआ। तृतीय चातुर्मास स० २०२८ में "सहज सुख साधन" ग्रन्थ का जनहितार्थ प्रकाशन कराकर समाज को सत्य मार्ग का दिग्दर्शन कराया।

अनेक स्थानो पर विहार करते हुए स० २०२६ में कुचामन सिटी में चतुर्थ चातुर्मास करके "धर्म ध्यान प्रकाश" सामयिक आलोचनात्मक ग्रन्थ का प्रकाशन करके जनता के अज्ञानान्धकार को दूर करने का प्रयत्न किया।

तत्पश्चात् स० २०३० मे मारोठ ग्राम के पचम चातुर्मास काल में "शुद्ध श्रावक धर्म प्रकाश" प्रकाशित कराया और षष्ठम चातुर्मास वर्तमान स० २०३१ में सीकर में स्थापित करके भ० महावीर के २५०० वें निर्वाणोत्सव के उपलक्ष में ११ वी सदी के आधारानुसार 'चारित्रसार ग्रन्थ पर 'चारित्र धर्म प्रकाश" प्रकाशित कराने में संलग्न है।

—पं० सतीश चन्द्र पाटणी, शास्त्री
साहित्य रत्न
सम्पादक



卐 श्री वीतरागाय नमः 卐

卐 चारित्र धर्म प्रकाश 卐

(प्रथम खण्ड)

卐

❊ मङ्गलाचरण ❊

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद् गुणलब्धये ॥

मोक्ष की राह बतावत जे, अव कर्म पहाड़ करे चक चूरा ।
विश्व सु-तत्त्व के ज्ञायक हैं, ताहि लब्धि के हेत नमो पर पूरा ॥

अर्थः– मोक्ष मार्ग के नेता कर्मरूपी पर्वतो के भेत्ता (भेदने वाले) संसार के तत्वों को जानने वाले श्री अर्हन्त भगवान् को मैं (मुनि विवेक सागर) वर्तमान युग के शासन नायक श्री १००८ श्री महावीरस्वामी को प्रत्येक कार्य की आदि में स्मरण करना अत्यावश्यक समझता हूँ जिन्होंने ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों का नाश कर दिया है तथा जिनका ज्ञान अलोकाकाश सहित तीनो लोकों को दर्पण के समान प्रकाशित करता है, उन वीर प्रभु को साष्टाङ्ग वारम्वार नमस्कार कर पूर्वाचार्यों की कृतियों के प्रकाशन की सद्भावना करता हूँ एवं देवाधिदेव श्री १००८ वर्धमान भगवान् के समान ही उनके गुणों की प्राप्ति के लिये स्तवन (स्तुति) करता हूँ ।

॥ श्री सर्वज्ञजिनवाणी नमस्तस्यै ॥

शास्त्र-स्वाध्याय का प्रारम्भिक मंगलाचरण

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॐ जय जय जय, नमोऽस्तु! नमोऽस्तु!! नमोऽस्तु!!!

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं,
णमो आइरीयाणं, णमो उवज्झायाणं,
णमो लोए सव्वसाहूणं ।

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव, ओंकाराय नमो नमः ॥१॥
अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलमलकलङ्का ।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥२॥
अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥३॥

॥ श्री परमगुरवे नमः परम्पराचार्यगुरवे नमः ॥

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्द्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनःप्रतिबोधकारकमिदं शास्त्रं श्री चारित्रधर्म प्रकाश, चारित्रसार नामधेयं, अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य श्री आचार्य चामुण्डरायदेवेन विरचितं, सर्वे श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु ।

मङ्गलं भगवान् वीरो, मङ्गलं गौतमो गणी,
मङ्गलं कुन्दकुन्दाद्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम् ॥१॥


श्रावक
धर्म

धर्मः सर्वसुखाकरोहितकरो धर्मं बुधाश्चिन्वते,
धर्मेणैवसमाप्यते शिवसुखं धर्माय तस्मै नमः ।
धर्मान्नास्त्यपरः सुहृद्भवभृतां धर्मस्य मूलं दया,
धर्मे चित्तमहं दधे प्रतिदिनं हे धर्म ! मां पालय ॥

अर्थ :— इस संसार में धर्म ही सब सुखों का खजाना है और धर्म ही सब का हित करने वाला है । इस धर्म को विद्वज्जन भी धारण करते हैं एवम् वृद्धि करते हैं । इस धर्म से ही मोक्ष सुख प्राप्त होता है, इसलिये इस धर्म को मैं नमस्कार करता हूँ । संसारी जीवों को धर्म के सिवाय और कोई मित्र नहीं है । इस धर्म की जड़ दया है, इसलिये मैं अपना मन प्रतिदिन धर्म में ही व्यतीत करता हूँ । हे ! धर्म मेरी रक्षा कर ।

सम्यग्दर्शनस्य पञ्चाणुव्रतानां च वर्णनम् ।

अर्थ :— सम्यग्दर्शन और पञ्चाणुव्रतों का वर्णन करते हैं ।

सम्यग्दृष्टिनां चत्वारो वंदनाप्रधानभूताः, अर्हन्तः सिद्धाः साधवो धर्मश्चेति । तत्रार्हत्सिद्धसाधवो नमस्कारेणोक्ताः, धर्म उच्यते आत्मानमिष्ट–नरेन्द्रसुरेन्द्रमुनीन्द्रमुक्तिस्थाने धत्त इति धर्मः अथवा संसारस्थान् प्राणिनो धरते धारयतीति वाधर्मः स च सागाराऽनगार विषयभेदाद् द्विविधः तत्र सागारधर्मं उच्यते ।

सम्यग्दर्शन और पञ्चाणुव्रतों का वर्णन :—

अर्थ :— सम्यग्दृष्टियों के लिये मुख्य रूप से नमस्कार करने योग्य चार हैं; अरहन्त, सिद्ध, साधु और धर्म । इनमें से अरहन्त, सिद्ध और साधु को नमस्कार रूप से कह दिये गये हैं ।

धर्म का स्वरूप :—

जो इस आत्मा को सबसे इष्ट (प्रिय) ऐसे नरेन्द्र, सुरेन्द्र, मुनीन्द्र ...र मोक्ष पद को प्राप्त करादेवे उसे धर्म कहते हैं अथवा संसारी प्राणियों को ... उत्तम स्थान में पहुँचादेवे उसे धर्म कहते हैं । वह धर्म गृहस्थ और मुनियों ...भेद से दो प्रकार का है; उसमें से पहले गृहस्थ धर्म का वर्णन करते हैं ।

दार्शनिकव्रतिकावपि सामायिकं प्रोषधोपवासश्च ।
सचित्त रात्रिभुक्ति निरतौ व्रत ब्रह्मचारी च ॥
आरंभाद्विनिवृत्तः परिगृहादनुमतेश्तयोदिष्टः ।
इत्येकादशनिलया जिनोदिताः श्रावकाः क्रमशः ॥

गृहस्थधर्म के ग्यारह भेद :–

अर्थ :– (१) दार्शनिक (२) व्रती (३) सामयिक (४) प्रोपधोपवास (५) सचित्तविरत (६) रात्रिभुक्तित्याग (७) ब्रह्मचारी (८) आरम्भत्यागी (६) परिग्रहत्यागी (१०) अनुमतित्यागी और (११) उद्दिष्टत्यागी इस प्रकार से श्री जिनेन्द्रदेवने अनुक्रम से इन ग्यारह स्थानों में रहने वाले ग्यारह प्रकार के श्रावक बतलाये हैं।

व्रतादयोगुणादर्शनादिभिः पूर्वगुणैः सह क्रमप्रवृद्धा भवन्ति ।

अर्थ :– इन श्रावकों के ये व्रतादिक गुण सम्यग्दर्शनादि अपने पहले के गुणों के साथ अनुक्रम से बढ़ते रहते हैं।

दर्शनप्रतिमा का लक्षण :–

तत्रदार्शनिकः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः पञ्चगुरूचरणभक्तः सम्यग्दर्शनविशुद्धश्च भवति । जिनेनभगवताऽर्हता परमेष्ठिनोयदिष्ठे निर्ग्रन्थलक्षणे मोक्षमार्गे श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् । तस्य सम्यग्दर्शनस्य-मोक्षपुरपथिक पाथेयस्य मुक्तिसुन्दरीविलास मणिदर्पणस्य संसार समुद्र गर्तावर्त्तमग्नजनदत्तहस्तावलंबनस्यैकादशोपाशकस्थानप्रासादाधिष्ठानस्योत्तमक्षमादिदशकुलधर्मपादपमूलस्यपरमपावनस्यसकल-मङ्गलनिलयस्यमोक्षमुख्यकारणस्याष्टाङ्गानि भवन्ति ।

अर्थ :– दर्शन प्रतिमावालाजीव संसार शरीर और भोगों से विरक्त रहता है। पांचोंपरमेष्ठियों के चरण कमलों का भक्त रहता है और सम्यग्दर्शन से विशुद्ध रहता है।

श्री भगवान अरहंत परमेष्ठी :—

श्री जिनेन्द्रदेव ने जो निर्ग्रन्थ स्वरूप मोक्ष का मार्ग बतलाया है, उसमें श्रद्धान रखना सम्यग्दर्शन कहलाता है। यह सम्यग्दर्शन मोक्ष नगर में जाने वाले पथिक के लिये मार्ग में खाने पीने व काम आने योग्य पाथेय (नास्ता) है। मुक्तिरूपी सुन्दर स्त्री के शृङ्गार करने के लिये मणियों का बना हुवा दर्पण है। संसार महासागर रूपी कूप (कुवा) में डूबे हुये मनुष्य के लिये दिये हुए हाथ का सहारा है। श्रावकों के ग्यारह स्थान अथवा प्रतिमा रूपी राजमहल की नीव है। उत्तम क्षमादि दशधर्म रूपी कल्पवृक्ष की जड़ है। समस्त मङ्गल द्रव्यों का स्थान है और मोक्ष का मुख्य कारण है।

इस सम्यग्दर्शन के आठ अङ्ग हैं।

निःशङ्कितत्वं निःकांक्षतानिर्विचिकित्सा अमूढदृष्टित्वं उपबृंहणं स्थितिकरणं वात्सल्यं प्रभावना चेति।

अर्थः— (१) निःशङ्कित (२) निःकांक्षित (३) निर्विचिकित्सा (४) अमूढदृष्टि (५) उपगूहन (६) स्थितिकरण (७) वात्सल्य और (८) प्रभावना अङ्ग ये सम्यग्दर्शन के आठ अङ्ग हैं।

(१) निःशङ्कित अङ्ग का लक्षणः—

तत्रेहलोकः परलोकः व्याधिर्मरणं अगुप्तिः अत्राणं आकस्मिक इति सप्तविधाद्भयाद्विनिर्मुक्तता अथवार्हदुपदिष्टद्वादशाङ्ग प्रवचन गहने एकमक्षरं पदंवा किमिदं स्याद्वा न वेति शङ्कानिरासो निशंकितत्वम्।

अर्थः— इहलोकभय,

भय और आकस्मिकभय , व्याधिभय, मरणभय, अगुप्तिभय, अरक्षा-

भगवान अर्हन्तदेव के ों प्र

अक्षर पद के भय से रहित होना अथवा

का नःशं द्वादशाङ्ग शास्त्र में एक

न होना ही सम्यग्दर्शन

सम्माद्दिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण ।
सत्तभयं विप्पमुक्का जह्मा तह्मा दु णिस्संका ॥

[गाथा २२ समयसार]

अर्थ :- सम्यग्दृष्टि जीव नि:शङ्क होते हैं अर्थात् निर्भय रहते हैं और सप्त भय से रहित होने के कारण कदाचित् भी सम्यग्दर्शन से किसी के डिगाने से भी नहीं डिगते हैं ।

इस भव भय परलोक भय मरण वेदना जात ।
अनरक्षा अनगुप्तिभय अकस्मात भय सात ॥४८॥

[नाटक समयसार]

अर्थ :- सम्यग्दृष्टि सात भय से रहित होता है; वह निर्भय होकर जगत में विचरण करता है । मिथ्यादृष्टि इन सातों भयों से सदा आक्रान्त रहता है; उसकी आकुलता कभी नष्ट नही होती; वह इस लोक परलोक आदि की चिन्ता से सदा चिन्तित रहता है । इन सात भय का संक्षिप्त रूप यह है:-

(१) इहलोक भय :- इस भव में मेरे इष्ट का वियोग व अनिष्ट का संयोग न हो, मैं सदा धनवान बना रहूँ कभी दरिद्री नही होऊँ ऐसी चिन्ताओं से ग्रसित रहना अथवा यदि मेरा वैभव नष्ट हो जावेगा तो कैसे जीऊँगा इत्यादि विचारो का भय सम्यग्दृष्टि को नही होता क्योंकि वह वस्तु स्वरूप का ज्ञाता होने से शुभाशुभ कर्मों का फल अवश्य भोगना पडता है; उससे मेरी आत्मा की कोई भी हानि नहीं, ऐसा-दृढ़ श्रद्धान रखता है ।

सम्यग्दृष्टि लौकिक भय न रख कर न्याय - पूर्वक योग्य आचरण का व्यवहार करता है ।

(२) परलोक भय:- मिथ्यादृष्टि ही कर्मजनित दुखों से घबराता है, सम्यग्दृष्टि को सांसारिक सुख दुखों में राग-द्वेष करने से अपना अहित समझ-कर भय नही लगता कि मेरा परलोक में क्या हाल होगा, मैं कहाँ जाकर जन्म लूँगा और किस २ प्रकार के सुख-दुख भोगने पड़ेंगे, न मालूम मुझे कैसे २ सम्बन्धी किस २ रूप मे मिलेंगे ?

श्री भगवान अरहंत परमेष्ठी :—

श्री जिनेन्द्रदेव ने जो निर्ग्रन्थ स्वरूप मोक्ष का मार्ग बतलाया है उसमें श्रद्धान रखना सम्यग्दर्शन कहलाता है। वह सम्यग्दर्शन मोक्ष नगर में जाने वाले पथिक के लिये मार्ग में खाने पीने व काम आने योग्य पाथेय (नाश्ता) है। मुक्तिरूपी सुन्दर स्त्री के श्रृङ्गार करने के लिये मणियों का बना हुवा दर्पण है। संसार महासागर रूपी कूप (कुवा) में डूबे हुये मनुष्य के लिये दिये हुए हाथ का सहारा है। श्रावकों के ग्यारह स्थान अथवा प्रतिमा रूपी राजमहल की नीव है। उत्तम क्षमादि दशधर्म रूपी कल्पवृक्ष की जड़ है। समस्त मङ्गल द्रव्यों का स्थान है और मोक्ष का मुख्य कारण है।

इस सम्यग्दर्शन के आठ अङ्ग हैं।

निःशङ्कितत्वं निःकांक्षता निर्विचिकित्सा अमूढदृष्टित्वं उपबृंहणं स्थितिकरणं वात्सल्यं प्रभावना चेति।

अर्थः— (१) निःशङ्कित (२) निःकांक्षित (३) निर्विचिकित्सा (४) अमूढदृष्टि (५) उपगूहन (६) स्थितिकरण (७) वात्सल्य और (८) प्रभावना अङ्ग ये सम्यग्दर्शन के आठ अङ्ग हैं।

(१) निःशङ्कित अङ्ग का लक्षणः—

तत्रेहलोकः परलोकः व्याधिर्मरणं अगुप्तिः अत्राणं आकस्मिकं इति सप्तविधाद्भयाद्विनिर्मुक्तता अथवार्हदुपदिष्टद्वादशाङ्ग प्रवचन गहने एकमक्षरं पदंवा किमिदं स्याद्वा न वेति शङ्कानिरासो निशंकितत्वम्।

अर्थः— इहलोकभय, परलोकभय, व्याधिभय, मरणभय, अगुप्तिभय, अरक्षा भय और आकस्मिकभय - इन सातों प्रकार के भय से रहित होना अथवा भगवान अर्हन्तदेव के कहे हुए अत्यन्त गहन ऐसे द्वादशाङ्ग शास्त्र में एक अक्षर व एक पद के लिये यह है या नहीं ऐसी शङ्का न होना ही सम्यग्दर्शन का सर्व प्रथम निःशङ्कित अङ्ग है।

(५) अगुप्तिभय :– जिस भूमिपति (राजा) आदि के पास दृढ किला आदि न हो तो वह डरता रहता है, परन्तु सम्यग्दृष्टि ऐसा विचारता है कि मेरे कोट, किला, खाई आदि नही है तो इससे मेरी कोई भी हानि नही क्योंकि मैं सत् स्वरूप आदि अन्त रहित चैतन्य रूप हूँ और रूप रस, गन्ध स्पर्श रहित होने से संसारी जीवों की दृष्टि में दृष्टिगत नही होने वाला हूँ। मुझे तो केवल ज्ञानी ही देख सकते है, फिर मैं एक ऐसा द्रव्य हूँ कि मेरा कभी भी नाश नहीं हो सकता। मैं अगुप्ति का भय क्यो करूँ ? यदि भय करूँगा तो सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि मे अन्तर ही क्या रहेगा ? ऐसा भय करने से तो सम्यक्त्व को दूषण लगता है। अतः अगुप्ति भय करना मुझ को अयोग्य है। मुझे मेरा स्वरूप समझना चाहिये। मेरे स्वरूप की गुप्ति (रक्षण) तो स्वयं ही हो रही है इसके लिये डरने की जरूरत नहीं है, ऐसे विचारों से इस अगुप्ति भय को जीतना चाहिये।

(६) अरक्षा भय :– मिथ्यादृष्टि सोचता है कि मेरा कोई रक्षक नही है। हाय ! मुझे कोई दुःख से बचाने वाला नहीं है। मैं किसके शरण जाऊँ ? परन्तु सम्यग्दृष्टि विचारता है कि पदार्थ की सत्ता का कभी नाश नही होता, अतः किसी के द्वारा मेरे शरीर का रक्षण न होने पर भी निज आत्मा का नाश नहीं होता, फिर हाय ! मेरी रक्षा करने वाला नही है ऐसा भय क्यों करूँ ? शरीर का नाश होना तो अवश्यम्भावी है, उसकी रक्षा करने वाला कोई नही है, यह विचार कर वह इस अरक्षाभय से विजय प्राप्त करता है।

(७) अकस्मात् भय :– आकस्मिक घटनाओ से डरना, उनका खयाल (विचार) करके भय भीत रहना। जैसे बिजली गिरने में व भूकम्प होने में, अग्नि लगने, में एवं बाढ आने आदि से डरते रहना, सम्यग्दृष्टि ऐसे भय के विषय में विचारता है कि ये मेरा क्या कर सकते हैं ? क्यों कि सिद्धान्त में ऐसा कहा है कि किसी वस्तु का अन्य कोई वस्तु कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती; सम्पूर्ण द्रव्य अपने २ गुण पर्यायों में स्वतंत्ररूप से बने रहते हैं, फिर अकस्मात् भय आकर मेरा क्या बिगाड़ कर सकता है। श्री जिनेन्द्र भगवान के ज्ञान में जो कुछ भी झलका है उसको मेटने के लिये इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती आदि की भी सामर्थ्य नही है तो फिर अन्य सामान्य मनुष्य की तो क्या बात है ?

सम्यक्दृष्टि को यह भय नहीं होगा कि मैं नरकादि मे चला जाऊं तो क्या होगा ? वह निर्भय रहकर अपना कर्तव्य पालन के साथ धर्म करता है ।

(३) व्याधिभय (वेदना भय):– शरीर मे वातपित्तादिक के प्रकोप ज्वरादि रोगो का होना **"वेदना"** कहलाती है । रोग होने के पहले मे ही ऐसी चिन्ता करना कि मैं बीमार न हो जाऊं, बीमार होने पर यह चिन्ता करना कि मैं कब निरोग होऊंगा ? इत्यादि वेदना भय कहलाता है ।

सम्यग्दृष्टि विचारता है कि ज्ञान, दर्शन, स्वभाव का धारक हों मैं तो निज स्वरूप का ही अनुभव करने वाला हूँ । परकर्म जनित रोगादिक मैं क्यों घबराऊँ; रोग तो शरीर में होता है किन्तु शरीर मेरा कहां है ? पर जड़ है, मैं तो चेतन स्वरूप हूँ, रोगादिक तो मेरे स्वरूप से भिन्न ही है अत मैं उनका विचार ही क्यों करूं ? मैं तो सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ; ऐसा विचार कर वेदना भय को जीतता है ।

सम्यक्त्वी रोग की पीडा का भय नही करता किन्तु रोगों का यत्न करता है, यदि रोग होवेगा तो योग्य उपचार भी करेगा ।

(४) मरणभय :– जिसका जन्म हुवा है उसका मरण अवश्यम्भावी भी मरण का नाम लेने से मिथ्यादृष्टि जीव घबराते है न कि सम्यग् यह शरीर जीर्ण एव शीर्ण वस्त्र के समान है; जीव इसको बदल कर शरीर मे जाता है, इससे आत्मा का कुछ भी नही बिगडता और संसार प्राणों के नाश का नाम ही मरण है; मेरे तो एक चेतना ही प्राण है । उसका कभी विनाश नही होता फिर मैं मरण का भय क्यो करूँ ? ऐ विचारवान् सम्यग्दृष्टि जीव ही इस मरण भय पर विजय प्राप करता है ।

सम्यक्त्वी मरने से नही डरता वह मरण को केवल मकान बदलना समझता है; परन्तु अपनी आत्मा को बन्धनों से रक्षित रखने का करता है ।

भावार्थ :– सांसारिक सुखों की आकांक्षा नहीं करना।

कर्मपरवशेसान्ते दुःखैरन्तरितोदये।
पापबीजे सुखे ऽ नास्था श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता ॥१२॥
[र. क. श्रा.]

भावार्थ :– जो कर्म के आधीन हैं, अन्तकर सहित हैं, जिसका उदय दुःखों से भरा हुवा है और जो आगामी पापो का बीज है, ऐसे चार महा दोषों से भरे हुए सांसारिक सुख में अनित्यता रूप श्रद्धान करना अर्थात् क्षणिक सांसारिक सुख की जरा भी इच्छा नही करना निःकांक्षित अङ्ग है।

(३) निर्विचिकित्सित अङ्ग का लक्षण :–

शरीराद्यशुचित्वभावमवगम्य शुचीति मिथ्यासंकल्पापनयः अथवा ऽर्हत्प्रवचने इदमयुक्तं घोरं कष्टं न चेदिदं सर्वमुपपन्नमित्य शुभभावनानिरासो विचिकित्साविरहः।

अर्थ :– शरीर आदि को अपवित्र समझ कर यह शरीर पवित्र है ऐसे मिथ्या संकल्प का दूर करना तथा अरहन्तदेव के कहे हुए शास्त्रो में जो कुछ कहा है वह सब अयुक्त है अत्यन्त कष्टदायक है यानी बिल्कुल असम्भव है ऐसी अशुभ भावना नही करना निर्विचिकित्सा अङ्ग है।

भावार्थ :– मुनियों के मलीन शरीर को देख कर ग्लानि नही करना तथा अरहन्त देव द्वारा कथित शास्त्रों मे जो कुछ वर्णित है वह सब अयुक्त है; अत्यन्त कष्टदायक है एवं बिल्कुल असम्भव है ऐसी अशुभ भावना नही करना ही निर्विचिकित्सा अङ्ग है।

विशेष :– धर्मात्मा पुरुषों के रोगादि सहित शरीर को देखकर घृणा नहीं करना यानी मैले कुचैले पुद्गलों को देखकर उनका सच्चा स्वरूप विचार करके ग्लानि नही करना ये ही निर्विचिकित्सा अङ्ग है।

स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते।
निर्जुगुप्सागुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता॥
[श्लोक र. श्रा. १३ प्र.अ.]

इसलिये आकस्मिक भय से कभी चलायमान नही होता। प्राचीन आचार्यों ने सिद्धान्त में कहा है कि तीन लोक की सम्पूर्ण वस्तुऐं मिलकर सम्यग्दृष्टि को चलायमान करे तब भी वह अपने दृढ श्रद्धान से चलायमान नही हो सकता तो फिर मैं कैसे डर सकता हूँ, इस तरह से करना मेरा कर्तव्य नही है। वीतराग श्री जिनेन्द्र भगवान् का मार्ग महान् उत्कृष्ट है, । उसके उपासक को तो कभी डरना ही नही चाहिये, यह भी मैं जानता हूँ कि संसार में कोई भी वस्तु पर्याय रूप से स्थिर नही, सब की मर्यादा है तो इस उपसर्ग की भी तो मर्यादा है, इसलिये समय पूर्ण होने पर यह भी दूर हो जायगा। अगर यह मनुष्य पर्याय भी इस ही उपसर्ग से जानी होगी तो अवश्य जावेगी, किसी के रोकने से रूक नही सकती। अत इस अकस्मात्–भय से डरना उचित नही है। इस प्रकार आकस्मिक भय से नही डरने वाला सम्यग्दृष्टि उपर्युक्त रूप से विचार करता है।

इदमेवेदृशमेव तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा ।
इत्यकम्पाऽऽयसाम्भोवत् सन्मार्गो संशया रूचिः ॥ ११ ॥
[र. क. श्रा.

अर्थ :– वस्तु का स्वरूप ऐसा ही है, इस प्रकार ही है अन्य नही है इत्यादि रूप से तलवार की धार के पानी के समान अचल एव अटल दृढ श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन का निःशङ्कित अङ्ग है।

विशेष :– जैन धर्म व तत्वादिक मे शङ्का न करना, यदि कोई बात समझ मे न आवे तो सम्यक्त्वी उसको सत्य रूप मे ही निश्चय रखता है, परन्तु निर्णय करने का प्रयत्न करता है और विचारों को डुलाता नही, दृढ रहता है।

(२) निः कांक्षित अङ्ग का लक्षण :–

एहलौकिकपारलौकिकेंद्रियविषय उपभोगाकांक्षानिवृत्ति.
अंतराकांक्षनिरासो या निः कांक्षता ।

अर्थ :– इस लोक और परलोक इन्द्रियो के विषय सम्बन्धी भोगोपभोगों की इच्छा नहीं करना तथा परलोक सम्बन्धी विषयो की इच्छा नहीं करना और उनके भावों को उत्पन्न नहीं होने देना ही निःकांक्षित अङ्ग है।

"निजगुण अरु पर औगुण ढांके, वा निज धर्म वढावै"

(छहढाला)

अर्थ :— अपने गुणों को तो प्रकट न करना और दूसरे (पर) के अवगुणों को छिपाना (ढांकना) ही उपगूहन अङ्ग का लक्षण है ।

स्वयंशुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयाम् ।
वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति तद्वदन्त्युपगूहनम्

[१५/ र० श्रा०]

अर्थ :— स्वयं शुद्ध श्री जिनेन्द्र भगवान के द्वारा उपदिष्ट जैन-मार्ग की, अज्ञानी और सामर्थ्यहीन लोगों के कारण से उत्पन्न हुई निन्दा को जैसे हो वैसे दूर करना उपगूहन अङ्ग कहलाता है ।

विशेष :— इस अङ्ग का नाम किन्हीं आचार्यों व विद्वानों ने उपवृहण (धर्म को वढाने वाला) अङ्ग भी वतलाया है ।

स्थितिकरण अङ्ग का लक्षण :—

कषायोदयादिषु धर्मपरिभ्रंश कारणेषूपस्थितेषु स्वपरयोर्धर्म-प्रच्यवन परिपालननं स्थितिकरणम् ।

अर्थ: — धर्म से भ्रष्ट करने वाले क्रोधादिक कषायों के प्रकट होजाने पर अपने को तथा दूसरों को धर्मभ्रष्ट होने से उनकी रक्षा करना अर्थात् धर्म का मार्ग छोड़ने न देना ही स्थितिकरण अङ्ग कहलाता है ।

दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्म वत्सलैः ।
प्रत्यवस्थायनं प्राज्ञैः स्थिति करणमुच्यते ॥१६॥

[र. श्रा.]

अर्थ :— जो कोई सम्यग्दर्शन और सम्यक चारित्र से गिर रहे हों उनको धर्म वत्सल धर्मात्माओं का कर्तव्य है कि न गिरने दे क्योंकि गिरते हुए को उठाना ही धर्मात्मा का कर्त्तव्य है ।

अर्थ – मल मूत्र रुधिर मांसादि से भरा हुआ भी जो मुनी आदि का शरीर रत्नत्रय को धारण करने से पवित्र हो गया है उसमें घृणा न करके रोगादि की अवस्था में उन रत्नत्रय के धारकों की अनेक प्रकार से सेवा, टहल, चाकरी आदि करना निर्विचिकित्सा अङ्ग कहलाता है।

(४)अमूढदृष्टि अङ्ग का लक्षण :-

बहुविधेषु दुर्नयवर्त्मसु तत्ववदाभासमानेषु युक्त्यभावमध्यवस्य परीक्षा चक्षुषा विरहितमोहममूढ दृष्टित्वम् ।

अर्थ :- अनेक प्रकार के दुर्नयमार्ग (मिथ्यामार्ग) हैं जिनमें कहे हुए अतत्व व मिथ्यातत्व भी तत्वों के समान जान पड़ते हैं उनमें युक्तियों का अभाव समझकर परीक्षा रूपी (ज्ञान रूपी) नेत्रों के द्वारा अपना मोह दूर करना अर्थात् ऐसे मिथ्यामार्ग में मोहित न होना अमूढदृष्टि अङ्ग है।

भावार्थ :- अनेक प्रकार के मिथ्यामार्गों के अतत्वों को युक्ति-रूप नहीं होने के कारण से तत्वरूप न समझ कर मोह भाव पैदा ही न होने देना अर्थात् उनमें युक्तियों का अभाव समझ कर परीक्षा रूपी अन्तरङ्ग ज्ञान चक्षुओं के द्वारा अपने मन में मोह रूपी परिणामों को उत्पन्न नहीं होने देना यानी मिथ्यामार्ग में आकर्षित नहीं होना ही सम्यग्दर्शन के अमूढदृष्टि अङ्ग का लक्षण है।

(५)उपगूहन अङ्ग का लक्षण :-

उत्तमक्षमादिभावनयात्मनः आत्मीयस्य च धर्मपरिवृद्धिकर मुपबृंहणम् ।

अर्थ :- उत्तमक्षमादि भावनाओं के द्वारा अपनी आत्मा तथा कुटुम्ब परि व अन्य लोगों के धर्म की वृद्धि करना ही उपगूहन अङ्ग है।

भावार्थ :- धर्मात्मा के दोषों को प्रगट नहीं करना पर (दूसरे) के को छुड़ाने का उपाय करना सो दोष नहीं है अथवा अपनी आत्मा को को मार्दवादि भावों के लिये बढ़ाना, प्रमाद रूप न रखना और धर्म वृद्धि ही उपगूहनाङ्ग है।

(८) सम्यग्दर्शन के प्रभावना अङ्ग का लक्षण :—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयप्रभावादात्मनःप्रकाशनमथवा ज्ञानतपःपूजासु ज्ञानदिनकरकिरणैः परसमयखद्योतोद्योतावरणकरणं च, महोपवासादि लक्षणेन देवेन्द्रविष्टरप्रकंपनसमर्थेन सत्तपसा स्वसमय प्रकटनं च महापूजादानादिभिर्धर्मप्रकाशनं च प्रभावना।

अर्थ :— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र इन तीनों के प्रभाव से आत्मा का प्रभाव प्रकट करना अथवा ज्ञान तपश्चरण और पूजाओं में ज्ञान रूपी सूर्य की किरणो के द्वारा परमतरूपी खद्योत (जुगनूं या पटवीजना) का प्रकाश ढक देना तथा जिसमे इन्द्रादि बडे २ देवों के आसनों को कम्पायमान करने की सामर्थ्य है, ऐसे बडे २ महोपवासादिक (मासोपवास) श्रेष्ठ तपश्चरण के द्वारा अपने जैनमत को प्रसिद्ध करना और महापूजा तथा महादानादिकार्यों के द्वारा धर्म का प्रकाश करना ही प्रभावना अङ्ग का लक्षण है।

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्।
जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात् प्रभावना ॥१८॥

[र. श्रा.]

अर्थ :— अज्ञानरूपी अन्धकार के समूह को हटाकर भली प्रकार से जिनशासन के महात्म्य का प्रकाश करना प्रभावना है।

भावार्थ :— संसार मे चारों तरफ अज्ञानान्धकार फ़ैला हुवा है। लोग यह नही जानते कि सच्चा मुक्ति का मार्ग कौन सा है; वे वस्तु के स्वरूप से सर्वथा अनभिज्ञ है, इसलिये उनको उपदेश द्वारा विद्यादान व वास्तविक तत्त्वों के स्वरूप को समझा कर मिथ्यान्धकार को मिटा कर ज्ञानी बनाने के लिये सम्पूर्ण शक्ति लगा देना सच्ची धर्म की प्रभावना है।

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दानतपो जिनपूजो विद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥३०॥

[पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय]

(७) वात्सल्य अङ्ग का लक्षण :—

जिनप्रणीते धर्मामृते नित्यानुरागता अथवा सद्यः प्रसूता यथा गौर्वत्सेस्निह्यति तथा चातुर्वर्णसंघे ऽ कृत्रिमस्नेहकरणं वात्सल्यम् ।

अर्थ :— भगवान श्री जिनेन्द्रदेव के कहे हुए धर्मरूपी अमृत में सदा अनुराग रखना यानी जिस प्रकार से तुरन्त की प्रसूता गाय अपने बछड़े पर प्रेम करती है उसही प्रकार से चारों प्रकार के संघ (मुनि, आर्जिका, श्रावक, श्राविका) पर स्वाभाविक प्रेम करना ही वात्सल्य अङ्ग कहलाता है।

स्वयूथ्यान्प्रति सद्भावसनाथायेतकैतवा ।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते ॥१७॥

[र. श्रा.]

अर्थ :— अपने सहधर्मी भाईयों के प्रति समीचीन भावों से छल कपट रहित यथायोग्य आदर सत्कार करना वात्सल्य अङ्ग है; उन से निःस्वार्थ निष्कपट प्रेम रखना ही धार्मिक वात्सल्यता है।

करोति संघे बहुधोपसर्गैरूपद्रुते धर्मधियाऽनपेक्षः ।
चतुर्विधेव्यापृतिमुज्ज्वलां यो वात्सल्यकारी स मतः सुदृष्टिः ॥

[श्लोक ७६ अ. ३ श्रा.]

अर्थ :— मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका ऐसे चार प्रकार के संघ में समुदाय रूप से व किसी भी प्रकार का उपसर्ग व कष्ट आगया हो या आ रहा हो तो अपने सांसारिक स्वार्थ की वाञ्छा न रखकर केवल धर्मबुद्धि से तन, मन और धन के द्वारा यथाशक्ति उस सङ्कट को दूर करना व कराना वात्सल्य अङ्ग है।

"उपेक्षायां तु जायते तत्वात् दूरतरोनरः ।
ततस्तस्य भवोदीर्घः विरुद्धसमयोऽपिच" ॥

[अमितगति श्रावकाचार]

अर्थ :— जो सम्यग्दृष्टि धर्मात्माओं के सङ्कट मिटाने (दूर करने) में उपेक्षा करता है अर्थात् ध्यान नहीं देता है वह सम्यक्त्व की अपूर्णता से दीर्घ संसारी होता है, उसका ऐसा करना सिद्धान्त के प्रतिकूल है।

(८) सम्यग्दर्शन के प्रभावना अङ्ग का लक्षण :–

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयप्रभावादात्मनःप्रकाशनमथवा ज्ञान-तपःपूजासु ज्ञानदिनकरकिरणैः परसमयखद्योतोद्योतावरणकरणं च, महोपवासादि लक्षणेन देवेन्द्रविष्टरप्रकंपनसमर्थेन सत्तपसा स्वसमय प्रकटनं च महापूजादानादिभिर्धर्मप्रकाशनं च प्रभावना।

अर्थ :– सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र इन तीनों के प्रभाव से आत्मा का प्रभाव प्रकट करना अथवा ज्ञान तपश्चरण और पूजाओं में ज्ञान रुपी सूर्य की किरणो के द्वारा परमतरुपी खद्योत (जुगनूं या पटवीजना) का प्रकाश ढक देना तथा जिसमे इन्द्रादि बडे २ देवो के आसनों को कम्पायमान करने की सामर्थ्य है, ऐसे बडे २ महोपवासादिक (मासोपवास) श्रेष्ठ तपश्चरण के द्वारा अपने जैनमत को प्रसिद्ध करना और महापूजा तथा महादानादिकार्यों के द्वारा धर्म का प्रकाश करना ही प्रभावना अङ्ग का लक्षण है।

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमयाकृत्य यथायथम्।
जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात् प्रभावना ॥१८॥

[र. श्रा.]

अर्थ :– अज्ञानरुपी अन्धकार के समूह को हटाकर भली प्रकार से जिन-शासन के महात्म्य का प्रकाश करना प्रभावना है।

भावार्थ :– संसार मे चारों तरफ अज्ञानान्धकार फैला हुवा है। लोग यह नही जानते कि सच्चा मुक्ति का मार्ग कौन सा है; वे वस्तु के स्वरुप से सर्वथा अनभिज्ञ है, इसलिये उनको उपदेश द्वारा विद्यादान व वास्तविक तत्त्वों के स्वरुप को समझा कर मिथ्यान्धकार को मिटा कर ज्ञानी बनाने के लिये सम्पूर्ण शक्ति लगा देना सच्ची धर्म की प्रभावना है।

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दानतपो जिनपूजो विद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥३०॥

[पुरुषार्थ सिध्युपाय]

अर्थ :— रत्नत्रय के प्रकाश से निज आत्मा को सदा प्रभावान्वित करते रहना अभ्यंतर प्रभावना है और दानातिशय, तपोतिशय, जिनपूजातिशय तथा विद्यातिशय के द्वारा जगत में जैन धर्म की प्रभावना करना बाह्य प्रभावना है; ये दोनों ही प्रभावना अङ्ग है। इन आठों अङ्गों में क्रमशः अञ्जनचोर, अनन्तमती सेठ की पुत्री, उद्दायनराजा, रेवती रानी, जिनेन्द्रभक्त सेठ वारिषेण राजपुत्र, विष्णु कुमार मुनि और वज्रकुमार मुनि ये प्रसिद्ध हुए हैं। इनकी कथायें पुराणों में मौजूद है।

सम्यग्दर्शन की महिमा (महत्ता) बताते हैं :—

एवं विधाष्टांगविशिष्टं सम्यक्त्वं, तद्विकलयोरणुव्रत महाव्रतयोर्नामापि न स्यात्। सम्यग्दर्शनमणुव्रतयुक्तं स्वर्गाय, महाव्रतयुक्तं मोक्षाय च।

सम्यक्त्वम हीनं राज्यमिव श्रेयसे भवेन्नैव।
न्यूनाक्षरो हि मंत्रो नालं विषवेदनाच्छित्यै॥

अर्थ :— इस प्रकार आठों अङ्गों से परिपूर्ण सम्यग्दर्शन होता है, यदि सम्यग्दर्शन न हो तो अणुव्रत तथा महाव्रतों का नाम तक नहीं होता है। यही सम्यग्दर्शन यदि अणुव्रत सहित हो तो उससे स्वर्ग की प्राप्ति होती है। और यदि महाव्रत सहित हो तो उससे मोक्षसुख की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार से अङ्गहीन राज्य कल्याणकारी नही हो सकता उसही प्रकार अङ्गहीन सम्यग्दर्शन भी कल्याणकारी नहीं हो सकता; सो ठीक ही है क्योंकि जिस प्रकार अक्षर हीन मंत्र से कभी विष की वेदना दूर नही हो सकती।

सम्यग्दृष्टि के आठ गुणों का वर्णन :—

सम्यक्त्वस्य गुणा :—

अर्थ :— सम्यग्दर्शन के गुण कहते हैं :—

संवेगो निर्वेदो निन्दागर्हा तथोपशम भक्ती।
अनुकम्पा वात्सल्यं गुणास्तु सम्यक्त्वयुक्तस्य॥

अर्थ :— (१) संवेग (धर्म कार्यों में परम रुचि रखना)।

(२) निर्वेद (संसार, शरीर भोगों से विरक्त रहना)।
(३) निन्दा (अपने में गुण होते हुए भी अपनी प्रशंसा नही करना)
(४) गर्हा (अपने में गुण होते हुए भी मन में अपनी निन्दाकरते रहना)
(५) उपशम (कषायो की मन्दता करना साम्य भाव रखना)
(६) भक्ति (आस्तिक) (पञ्च परमेष्ठियो में गाढ भक्ति करना)
(७) अनुकम्पा (जीव दया के भाव प्रकट करते रहना)
(८) वात्सल्य (धर्मात्माओ मे प्रेम भवा रखना)

ये आठ सम्यग्दृष्टि पुरुष के आठ वाह्य गुण है।

सम्यग्दर्शन की प्रशंसा :–

उक्तं चाबद्धायुष्कविषये :–

सम्यग्दर्शन शुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि ।
दुःकुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजंति नाप्यव्रतिकाः ॥
भवाब्धौ भव्यसार्थस्य निर्वाण द्वीपयायिनः ।
चारित्रयानयात्रस्य कर्णधारोहि दर्शनम् ॥

अर्थ :– सम्यग्दर्शन की प्रशसा मे अवद्धायुष्क (जिस जीव के सम्यग्दर्शन हो गया हो और आयु कर्म का बधन हुआ हो) उसके लिये लिखा गया है कि जो शुद्ध सम्यग्दृष्टि है वह अव्रती होने पर भी नारकी, तिर्यंच, नपुंसक एवं स्त्री जातियो में उत्पन्न नहीं होता है तथा नीच कुल में भी उत्पन्न नही होता है और विकृत अङ्गोपाङ्ग विहीन नही होता है एवं थोडी आयु (अल्पायु) वाला भी नही होता है और दरिद्री भी नही होता है।

और भी लिखा है :– इस संसार रूपी महासागर में जो भव्य चारित्र रूपी जहाज (पोत) पर चढ कर मोक्ष रूपी द्वीप जो जा रहे हैं उनके लिये यह सम्यग्दर्शन खेवटीया (मल्लाह) के समान है।

भावार्थ :– सम्यग्दर्शन के विना जीव कभी भी मोक्ष नहीं पहुंच सकता।

सम्यग्दर्शन के पांच अतिचारों का वर्णन :–

दार्शनिकस्य कस्यचित्कदाचिद्दर्शनमोहोदयादतीचाराः पञ्च

भवन्ति । शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवा इति । तत्र मनसा मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानचारित्रगुणोद्भावनं प्रशंसा, वचसा भूताभूत-गुणोद्भावनं संस्तवः, एवं प्रशंसासंस्तवयोर्मानसकृतो वाक्कृतश्च भेदः शेषाः सुगमा । सम्यग्दर्शन सामान्यादणुव्रतिकमहाव्रतिनोरिमे-ऽतिचाराः ॥

अर्थ :– किसी समय किसी सम्यग्दृष्टि के दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से शङ्का, आकांक्षा (कांक्षा) विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव ये पाँच अतिचार भी होते हैं। मन से मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान और चारित्र गुण को प्रकट करना प्रशंसा है और वचन से उनमें होनेवाले व न होने वाले गुण को प्रकट करना संस्तव है। बस ! यही मन से तथा वचन से होने वाली प्रशंसा और स्तुति में भेद है, बाकी के अतिचार सब सरल है। सम्यग्दर्शन अणुव्रती और महाव्रती दोनो के एक सा होता है इस लिये ये अतिचार भी दोनों के ही होते है।

विशेषार्थ :– सम्यग्दर्शन के पञ्चातिचारों का विशेष विवरण :–

[संयम प्रकाश

(१) शङ्कातिचार :– चलित प्रतिपत्तिरूप अनिश्चित अनेक कोटयात्मक ज्ञान संशय कहलाता है जैसे यह साँप है या रस्सी, सीप है या चाँदी, तत्व अनेकान्तात्मक है या एकान्तात्मक, जीव का लक्षण चेतना है या नही, जिनोक्त तत्व सच्चा है या मिथ्या आदि तत्वों के विषय में ऐसी शङ्का दर्शन मोहनीय सहित ज्ञानावरण कर्म के उदय से होती है।

(२) आकांक्षातिचार :– मैं जैन धर्म के प्रसाद से व सम्यग्दर्शन के महात्म्य से देव, यक्ष या राजा हो जाऊँ इस प्रकार पराधीन, विनश्वर और संतोप तथा तृष्णा को बढाने वाले ससार सुख की वाञ्छा करना।

(३) विचिकित्सातिचार :–रत्नत्रय से पवित्र मुनियों, व्रतियों एवं त्यागियों के मलीन शरीर से घृणा करना अथवा कोई रोगादि से अशक्तहोजावे तोउसके वमन व मल मूत्रादि उठाने में या शुद्धिकरण करने में घृणा (ग्लानि) करना।

विशेष :– ग्लानि करना भी एक कषाय का भेद है। अतः वस्तु स्वरूप का ज्ञाता सम्यग्दृष्टि मल मूत्रादि से तो घृणा नही करे, परन्तु आवश्यकता पड़ने पर मलमूत्रादिक का स्पर्श कर उनसे उत्पन्न हुई अपवित्रता को मिटाने के लिये

अपने पदानुसार स्नानादि अवश्य करे; क्योंकि मुनियों को भी शुद्धिहेतु कमण्डलु रखना पड़ता है। मुनिराजों को कमण्डलु रखने में विचिकित्सातिचार (दोष) नहीं लगता है।

(४) अन्यदृष्टिप्रशंसातिचार :— मन मे मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान और चारित्र गुणों को प्रकट करना प्रशंसा है और मन से उनमें होने वाले व न होने वाले गुणों की मन मे तारीफ करना ही अन्य दृष्टि प्रशसातिचार (दोष) है।

(५) अन्यदृष्टिसंस्तवातिचार :— बचन से मिथ्यादृष्टियो में होने वाले या न होने वाले गुणों को प्रकट करना अन्यदृष्टि सस्तवातिचार (दोष) कहलाता है।

विशेष :— परम्परा का मोह, मूढता और अज्ञानवश कुदेव व कुगुरुओं की सेवा पूजा करना, कुशास्त्रों को सुनना आदि ऐसे कार्य करना जिनसे सच्चे धर्म पर से श्रद्धान हटकर सम्यक्त्व में शिथिलता हो जावे अथवा अशक्तता, अज्ञान व प्रमाद के वश किसी रत्नत्रय के धारक से या अन्य सहधर्मी भाई से उसके पद के विरुद्ध कोई दोष आगया हो तो उसे सर्व-साधारण में प्रकट करके धर्म व समाज की हँसी करना एवं निन्दा द्वारा धर्मात्मा को निर्लज्ज व उच्छृङ्खल बना देना अर्थात् धर्मात्मा जीवो की हँसी (खिल्ली) मजाक व निन्दा करना तथा उनकी धार्मिक क्रियाओं मे शिथिलाचार पैदा करा देना यानी धर्म से चिगा देना या धर्म साधन में शिथिलकर देना या धर्म-स्थल व धर्मात्माओं से द्वेष करना, उनके दोषों को खोजते रहना, उनकी निन्दा करना, उनके दुःख में सहायता नहीं करना व अन्य को भी मदद न करने देना (रोकना) या कोई धर्मात्मा धर्म प्रभावना का कार्य पूजा प्रतिष्ठादि करना चाहता है अथवा कही पर धर्म कार्य हो रहा हो या होता हो तो उसको नही होने देना। जैसे:— विद्यालय, धर्मायतन, औषधालय, साहित्य-समिति, ग्रन्थमाला प्रकाशन, मन्दिर निर्माण आदि लोकोपयोगी कार्यों मे सहायता नही देना, वितण्डावाद खडा कर देना, स्वयं रोक देना व अन्य से रुकवा देना। प्रयोजन यह है कि जिन कार्यों से धर्म की प्रभावना होती हो उसको नही होने देना, जिससे धर्म को झूंठा ही लाञ्छन लगजावे ऐसा कर बैठना। उपर्युक्त दोषो से व्यवहार सम्यक्त्वी को बचना चाहिये ये सम्यक्त्व को मलिन करने वाले दोष है। अतः सम्यक्त्वी को इस प्रकार से अपना उपयोग लगाने पर सस्तवातिचार (दोष) लगता है।

उपर्युक्त अतिचार:—सम्यग्दर्शन सहित अणुव्रती और महाव्रती दोनों के धारण करने वाले अर्थात् मुनि व श्रावक के एक रूप से ही होता है।

तीन शल्यों के लक्षण :-

व्रतिको निःशल्यः पञ्चाणुव्रत रात्रिभोजनविरमणशीलसप्तकं निरतिचारेण यः पालयति स भवति। तत्र यथा शरीरानुप्रवेशिक डकुन्तादि प्रहरणं शरीरिणां बाधाकरं तथा कर्मोदयविकारे शरी मानसबाधाहेतुत्वाच्छल्यमिव शल्यम्।

अर्थ :- जो शल्यरहित होकर पांच अणुव्रत रात्रि-भोजनत्याग और स शीलों को अतिचार रहित पालता है वही व्रती कहलाता है। शल्य बाण कहते हैं जिस प्रकार शरीर में घुसा हुवा बाण अथवा भाला बरछा को जीवों को दुःख देती है उसी प्रकार कर्म के उदय जन्म विकार होने पर शल्य (कांटे) के (बाण के समान शरीर और मन को दुःख देनेवाला हो शल्य कहते है।

शल्य के तीन भेद :-

तत्त्रिविधं, मायानिदानमिथ्यादर्शनभेदात्। माया वञ्च निदानं विषयभोगाकांक्षा, मिथ्यादर्शनमतत्त्वश्रद्धानम्। उत्त वक्ष्यमाणेन महाव्रतिनाऽपि शल्यत्रयं परिहर्त्तव्यम्।

अर्थ :- शल्य के तीन भेद है। (१) माया (२) निदान और (३) मि दर्शन भेद से तीन प्रकार का है। वचना (धोका देना) ठगना आदि को म कहते है। विषय भोगों की इच्छा करना निदान है और असत्यों (खोटे) श्रद्धान करना अथवा सच्चे तत्त्वों का श्रद्धान न करना मिथ्यादर्शन है। जो महाव्रत का स्वरूप कहेंगे उसको धारण करने वाले महाव्रती को भी तं शल्यों का त्याग कर देना चाहिये।

भावार्थ - (१) मायाशल्य :- छल, कपट, वञ्चना (धोकादेना) ठगना आदि को माया धारण करते है; इन सहित हो उसे मायाचारी कहते ... का छल, शील और संयम सम्पूर्ण भ्रष्ट है। मायाचारी का धन धर्म ... नष्ट हो जाते है। और दुर्गति मे जाना पड़ता है। अगर दु ... हृदय से इस मायाचार (मायाशल्य) को हृदय निकाल देना चाहिये।

(२) निदानशल्य :- इस लोक सम्बन्धी तथा परलोक सम्बन्धी विषय

भोगों की वाञ्छा करना निदान है। धर्म के प्रभाव से मोक्ष तक मिल सकता है फिर धर्म को धारण कर उससे परभव के भोगों की वाञ्छा करना निदान शल्य है, इससे आत्मा जन्म-मरण के दुःखो से छुटकारा नही पा सकता। अतः आत्म कल्याणेच्छुक व्यक्ति को निदान शल्य का त्याग कर देना चाहिये।

(३) मिथ्यात्व दर्शन शल्य :— सच्चे तत्वों का अश्रद्धान (श्रद्धान न करना) करना और खोटे अतत्वो का श्रद्धान करना तथा कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र का मानना, पूजना ये सब मिथ्यात्व है, इस सहित जो कार्य है वही मिथ्याशल्य है जो दुर्गति को ले जाने वाला है इसलिये आत्महितैषी को इस मिथ्या शल्य को निकाल देना चाहिये।

विशेष :— सम्यग्दर्शन के पच्चीस (२५) मलदोषों का विवरण :—

(१) शङ्कादि आठ दोष (२) आठ मद (३) छै अनायतन और (४) और तीन मूढता।

आठ शङ्कादि दोष :—

(१) शङ्का :— जैन धर्म के तत्वादिक में शङ्का करना।

(२) कांक्षा :— सामारिक भोगो में वाञ्छा करना।

(३) विचिकित्सा :— धर्मात्मा लोगों को रोगादि सहित व दीनावस्था में देख कर घृणा करनी अथवा मैले पुद्गलों को देख कर उनका सच्चा स्वरुप न विचार करके ग्लानि करना।

(४) मूढदृष्टि :— मूढताई से किसी चमत्कार को देख कर किसी कुदेव, कुगुरू और कुधर्म की श्रद्धा कर लेना।

(५) अनुपगूहन :— धर्मात्मा के दोपों को इस इच्छा से प्रकाश करना कि इसकी निन्दा हो।

(६) अस्थितिकरण :— अपने या दूसरे को धर्म-मार्ग में शिथिल होते हुए स्थिर न करना।

(७) अवात्सल्य :— धर्मात्माओ से प्रीतिभाव न रखना।

(८) अप्राभवना :— धर्म की प्रभावना नहीं चाहना व धर्म वृद्धि करने का यत्न न करना।

आठ मददोष :—

(१) जातिमद :— अपने मामा, नाना के बड़प्पन का घमण्ड करना।

(२) कुलमद :— अपने पिता, दादा आदि के बड़प्पन का अभिमान करना।

(३) लाभमद — अपने को धन ऐश्वर्य का अधिक लाभ देखकर मद करना।

(४) रूपमद — अपने सुन्दर शरीर को देख कर घमण्ड करना।

(५) बलमद — अपने शरीर की ताकत (शक्ति) को देख कर उसका अभिमान करना।

(६) विद्याकामद :— अपनी विद्वता की बड़ाई जान कर घमण्ड करना।

(७) अधिकारमद :— अपनी आज्ञा बहुत चलती है ऐसा जानकर मद करना।

(८) तप का मद :— आप तप, व्रत उपवास विशेष कर उसका घमण्ड करना।

छै अनायतन दोष —

(१) कुदेव अनायतन संगति — जहाँ धर्म प्राप्त नहीं हो सकता ऐसे रागी, द्वेषी देवों की संगति करनी।

(२) कुगुरु अनायतन संगति :— जिसमें धर्म प्राप्ति नहीं है ऐसे कुगुरुओं की संगति करनी।

(३) कुधर्म अनायतन संगति — धर्म जिसमें न पाइये ऐसे कुधर्म व कुधर्म प्रतिपादित शास्त्रों की संगति करनी।

(४) कुदेव-पूजक अनायतन संगति :— कुदेव के पूजनेवालों में धर्म का स्थान नहीं ऐसे लोगों की संगति करनी।

(५) कुगुरु-पूजक अनायतन संगति — कुगुरु के पूजनेवालो मे धर्म का स्थान नहीं है ऐसे लोगो की संगति करनी।

(६) कुधर्म-पूजक अनायतन संगति — कुधर्म के पूजनेवालो जिनमें धर्म नहीं है ऐसे लोगों की संगति करनी।

नोट — संगति का अर्थ यह है कि मित्र के समान रात-दिनव्यवहार करते हुए संगति रखना, इसका प्रयोजन यह है कि जिसमें श्रद्धान विचलित हो जावे ऐसी संगति न करनी, व्यवहार में व्यवहार सम्बन्धी कार्यादि रखने में कोई नुकसान नहीं है। जिस जीव को अभ्यास करना होता है उसकी सम्हाल के लिये उपाय है जो कोई अपने तत्वज्ञान मे परिपक्व होकर अन्य धर्मों की पुस्तकों को उनके तत्वों का ज्ञान करने हेतु देखना है उसके लिये यह बात नुकसान कारी नहीं है।

तीन मूढ़ता

१ देव मूढता :— वीतराग देव के सिवाय लोगो की देखा-देखी अन्य रागी, द्वेषी देवों की मान्यता करनी ।

(२) गुरु मूढता :— लोगों की देखा-देखी परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ गुरु के सिवाय अन्य परिग्रहधारी साधुओं को धर्मगुरु मान करके विनय करना ।

(३) लोक मूढता :— लोगों की देखा-देखी जो धर्म की क्रिया नही है उनको धर्म-क्रिया मान प्रवर्तने लगना । जैसे- सूर्य-ग्रहण मे स्नान, सक्रान्ति में दान, कार्तिक पूर्णिमा को गङ्गा स्नान कागज, कलम, दवात, मिट्टी, शस्त्र, देहली आदि की पूजा करना । उपर्युक्त सम्यग्दर्शन को मलिन बनाने वाले पच्चीस मल दोष है। अत: सम्यग्दृष्टि को इन दोषो मे अवश्यमेव बचना चाहिये ।

व्रत का लक्षण :—

अभिसंधिकृतो नियमो व्रतमित्युच्यते ।

अर्थ :— अभिप्रायपूर्वक नियम करने को व्रत कहते है ।

भावार्थ :— अभिप्रायपूर्वक दिन, पक्ष, महिना, वर्ष या जीवन पर्यन्त के लिये नियम या प्रतिज्ञा करने को व्रत कहते है। गृहस्थ के समस्त पापों का त्याग होना असम्भव है । अत. गृहस्थ एकदेश रूप से ही पापो का त्याग कर सकता है ।

अहिंसाणु व्रत का लक्षण

सर्व सावद्यनिवृत्यसंभवादणुव्रतं द्वीन्द्रियादीनां जङ्गमप्राणिनां प्रमत्तयोगेन प्राणव्यपरोपणान्मनोवाक्कायैश्च आगारीत्याद्यणुव्रतम् ।

अर्थ :— गृहस्थ संसार के सम्पूर्ण पापो का त्यागी नही हो सकता यानी समस्त पापो का त्यागी हो जाना उसके लिये असम्भव है। अत: जो गृहस्थ मन, वचन काय इन तीनो से एवं प्रमाद व कषाय से होनेवाले दो इन्द्रिय आदि त्रस जीवों के घात से दूर रहता है अर्थात् जो मन, वचन और काय इन तीनों मे त्रस जीवो की हिंसा करना छोड़ देता है उसका वह पहला अहिंसाणुव्रत कहलाता है ।

विशेष :— अहिंसाणुव्रत के विषय मे अन्य आचार्यों के मतानुसार नीचे कथन किया जा रहा है ।

संकल्पात्कृतकारितमननाद्योगत्रयस्य चर सत्वान् ।
न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः ॥५३॥

[रत्न करण्ड श्रावकाचार]

अर्थ :— संकल्प से मन, वचन और काय के द्वारा जो कृत, कारित और अनुमोदना से दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय चार इन्द्रिय और पांच इन्द्रिय जीवों का घात करना है उसको निपुण पुरुष गणधरादिकों ने स्थूलवध विरमण अर्थात् अहिंसाणुव्रत बताया है।

"त्रस हिंसा को त्याग वृथा थावर न संहारे" (छहढाला)

अर्थ :— त्रस हिंसा का सर्वथा परित्याग कर व्यर्थ स्थावर जीवों की हिंसा का न करना अहिंसाणुव्रत है।

जो जन मन वच काया से कृत कारित सो जेह।
त्रस को त्रासन दीजिये प्रथम अणुव्रत एह ॥ (एक कवि)

भावार्थ — संकल्प करके (इरादा करके) जो त्रस जीवों की हिंसा मन, वचन, काय तथा कृत, कारित, अनुमोदना से नहीं करनी सो स्थूलवध से विरमण रूप अहिंसाणुव्रत है। इन व्रतों में अपने भोजन औषधि के उपचार व पूजा के अर्थ किसी भी द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक त्रस जीवों को घात करने का इरादा नहीं करता है, न इस लिये वचन बोलता है, न काय से चेष्टा करता है, न दूसरे से करता है और न किसी के हिंसामई कार्य की प्रशंसा ही करता है।

स्थूल ग्रहणमुपलक्षणं तेन निरपराध संकल्पपूर्वकहिंसादीनामपि ग्रहणं अपराधकारिषु यथा विधि दण्ड प्रणेतॄणां चक्रवर्त्यादीनाम् अणुव्रतादिधारणं। पुराणादिषु बहुशः श्रूयमाणं न विरुद्ध्यते।

[सागारधर्मामृत]

अर्थ :— स्थूल शब्द से यहां निरपराधियों पर संकल्प करके हिंसादि करना ग्रहण किया गया है, क्योंकि अपराध करने वालों को यथा योग्य दण्ड देना यह बात चक्रवर्ती आदिकों के सम्बन्ध में पुराणों में बहुधा देखने व सुनने में आई है और वे अणुव्रत के धारी थे। इसमें दण्डादि देने में न्याय-पूर्वक जो प्रवृत्ति करना है उसका विरोध अणुव्रतधारी के नहीं है। इस व्रत के धारी (चारों ही वर्ण वालों के होते हैं) असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प और विद्या ऐसे षट्कर्मों का न्यायपूर्वक करने वाला आरम्भी गृहस्थी श्रावक होता है; अतः आरम्भी हिंसा को यह बचा नहीं सकता।

गृहवासो विनारम्भान्नचारम्भो विना वधात्।
त्याज्यः स यत्नातन्मुख्यो दुस्त्यजस्त्वानुषङ्गिकः ॥१२॥ *[सा० ध०]*

अर्थ :— आरम्भ के बिना गृहस्थाश्रम में रहना नहीं हो सकता और आरम्भ बिना वध के नहीं हो सकता, इसलिये अणुव्रती श्रावक को यत्न करके मुख्य कहिये संकल्पी हिंसा को तो छोडना ही चाहिये, क्योंकि व्यापारिक हिंसा का त्यागना तो कठिनता से होने योग्य है।

भेषजातिथिमन्त्रादि निमित्तेनापि नाङ्गिनः ।
प्रथमाणुव्रताशक्तैर्हिंसनीयाः कदाचन ॥७६७॥

[आ. अमितगति] सु. र. सं.

अर्थ :— प्रथम अहिंसाणुव्रत के पालने वाले को उचित है कि दवाई, अतिथि-सत्कार (महमानों की दावत) तथा मन्त्र वगैरह के लिये भी त्रस प्राणियों का घात कभी न करे।

त्रिज्ञान नेत्र सम्यक्त्व शुद्धिभाग्देश संयतः ।
सृष्टारमभिवन्द्यायात् कैलाशात् नगरोत्तमम् ॥ [आदिपुराण ३२१ प.४७]

अर्थ :— तीन ज्ञान रूपी नेत्र करके तथा सम्यक्त्व की शुद्धता करके सहित देश संयमी श्री भरतजी, श्री आदिनाथ स्वामी ब्रह्मा को नमस्कार करके कैलाश से अपने उत्तम नगर (अयोध्या) को आये।

सारांश यह है कि प्रथम अणुव्रती के हृदय में तो करुणा बुद्धि ऐसी होनी चाहिये कि वह स्थावर एकेन्द्रिय जीव और द्वीन्द्रियादि सब की रक्षा चाहे तथा प्रवृत्ति में खानपानादि व्यवहार के लिये जितनी जरूरत हो उतनी ही स्थावर काय की विराधना करे। आवश्यकता से अधिक व्यर्थ पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति कायिक की हिंसा न करे और त्रस जीवों की हिंसा खानपानादि व्यवहार व औषधि, मन्त्र, तन्त्र, पूजा-अर्चा, अतिथि का आदर आदि कार्यों के निमित्त जान बूझकर कदापि न करे। एकेन्द्रिय की भी जरूरत से अधिक हिंसा न करे।

स्तोकैकेन्द्रियघाताद् गृहिणां सम्पन्नयोग्यविषयाणाम् ।
शेषस्थावरमारण विरमणमपि भवति करणीयम् ॥ [illegible]

भावार्थ :— व्यापारादिक आरम्भ कार्यों में प्रवर्तन करते हुए वह जीवों की हिंसा का बचाव नहीं करता है, यद्यपि स्वयं और अन्याय-पूर्वक त्रस हिंसा कदापि नहीं करता। तीन वर्ण के श्रावकों का अपने २ पद के योग्य असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प और विद्या (इनमें से असि कहिये शस्त्रद्वारा रक्षा के

कार्य द्वारा क्षत्री, मसि, वाणिज्य से वैश्य और शिल्प, कृषि, व विद्या (गान कलादि)से शूद्र आजीविका करता है) इन षट् कर्मों के द्वारा आजीविका जब तक आरम्भ त्याग नाम श्रावक के आठवें दरजे में न पहुँचे तब तक थोड़ी या बहुत अपनी २ स्थिति के अनुसार करनी पड़ती है, तो भी दयालु श्रावक जहाँ तक बने बहुत विचार पूर्वक वर्तन करता है; उसके अन्तरङ्ग में तो यह श्रद्धा रहती है कि मुझे जीव हिंसा न करनी पड़े तो ठीक है, परन्तु प्रत्याख्यानावरणी कषाय के उदय से गृहकार्य आजीविका आदि त्यागने में असमर्थ होता है, इससे लाचारी वश आरम्भजनित हिंसा छोड़ नहीं सकता परन्तु यथासम्भव ऐसी हिंसा से बचने की चेष्टा करता रहता है जैसे संभव हो वैसे ही ऐसे आरम्भ बचाता है, जिनमें बहुत से त्रस जीवों का घात होता हो। क्षत्री, वैश्य और शूद्र इन एक वर्णवाला इस व्रत को पाल सकता है।

(१) अहिंसाणुव्रत के पञ्चातिचारों का वर्णन :—

तस्य प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपण लक्षणस्य पञ्चातिचारा भवन्ति। बंधो, वधः, छेदः, अतिभारारोपणं, अन्नपाननिरोधश्चेति तत्राभिमतदेश गमनं प्रत्युत्सुकस्य तत्प्रतिबंध हेतोः कीलादिषु रज्ज्वादिभिर्व्यतिषंगो बंधः। दण्डकशावेत्रादिभिः प्राणिनामभिघातो वधः कर्णनासिकादीनामवयवानामपनयनं छेदः। न्यायादनपेतादुभारतिरिक्तस्य भारस्यवाहनमति लोभाद् गवादीनामतिभारारोपणं तेषां गवादीनां कुतश्चित्कारणात् क्षुत्पिपासाबाधोत्पादनमन्नपाननिरोध इति।

अर्थः— प्रमाद के निमित्त से त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करने रूप अणुव्रत के बंध, वध, छेद, अतिभारारोपण और अन्नपाननिरोध ये अतिचार हैं।

(१) बंधातिचार :— जो पुरुष स्त्री पुरुष पशु अपनी इच्छानुसार जिस स्थान को जाना चाहते हैं उसे रोकने के लिये खूटा आदि में रस्सी से बांधना बंध कहलाता है।

(२) वधातिचार — लकड़ी, कोड़ा, चाबुक और बेंत आदि के द्वारा उनको मारना वध कहलाता है।

भावार्थ :- इससे दूसरों को पीडारूप होने से हिंसा का पाप लगता है इसलिये यह वधातिचार है ।

(३) छेदातिचार :- कान, नाक आदि अवयवों का काटना छेद है ।

(४) अतिभारारोपणातिचार -- बैल, घोडा आदि जीव अपनी शक्ति के अनुसार न्याय से ले जाने योग्य जितना बोझ ले जा सकते है उतना ही बोझ लादना, उससे अधिक बोझा लादना अतिभारारोपण नामका अतिचार कहलाता है।

(५) अन्नपाननिरोधातिचार -- किसी भी कारण से उन बैल, घोडा आदि जानवरों को भूख प्यास की बाधा देना अन्नपान निरोध कहलाता है ।

(२) सत्याणुव्रत का लक्षण व अतिचार --

स्नेहस्य द्वेषस्य मोहस्य वोद्रेकाद्यदसत्यभिधानं ततो निवृत्ताद-रोगृहीति द्वितीयमणुव्रतम्, । तस्य व्रतस्य पञ्चातिक्रमा भवन्ति । मिथ्योपदेशः, रहोऽभ्याख्यानं, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार, साकार-मंत्रभेदश्चेति ।

सत्याणुव्रत का लक्षण-

अर्थ :- स्नेह, द्वेष और मोह के उद्रेक से असत्य भाषण किया जाता है उस असत्य के त्याग करने में आदर रखना गृहस्थ का दूसरा सत्याणुव्रत कहलाता है, इस सत्याणुव्रत के भी (१) मिथ्योपदेश (२) रहोभ्याख्यान (३) कूटलेख-क्रिया (४) न्यासापहार और (५) साकार मत्र भेद ये पाँच अतिचार होते हैं।

सत्याणुव्रत के पांच अतिचार-

तत्राभ्युदयनिःश्रेयसार्थेषु क्रियाविशेषेषु अन्यस्यान्यथा प्रवर्त्तनमभिसंधानं वा मिथ्योपदेशः । स्त्रीपुरुषाभ्यामेकांते ऽनुष्ठितस्यक्रियाविशेषस्य प्रकाशनं रहोऽभ्याख्यानम् । अन्येनानुक्तं यत्किंचित्परप्रयोगवशादेवं तेनोक्तमनुष्ठितमिति बञ्चनानिमित्तं लेखनं कूटलेखक्रिया । हिरण्यादेर्द्रव्यस्य निक्षेप्तुर्विस्मृतसंख्यस्याल्पसंख्यानमाददानस्य 'एवमित्य'-नुज्ञावचनं न्यासापहारः । अर्थ प्रकरणाङ्गविकारभ्रूक्षेपादिभिः पराकूतमुपलभ्य यदाविष्करणमसूयादिनिमित्तं तत्साकारमंत्रभेद इति ।

(१) मिथ्योपदेशातिचार का लक्षण :- अभ्युदय और मोक्ष सिद्ध करने वाली

विशेष क्रियाओं में किसी भी अन्य पुरुष को विपरीत इनमें प्रवृत्त करा अथवा विपरीत अभिप्राय बतलाना मिथ्योपदेश है यानी झूठा उपदेश है मिथ्योपदेश नामकसत्याणुव्रत का अतिचार है।

(२) रहोभ्याख्यानातिचार :- स्त्री पुरुषों के द्वारा एकान्त में की हुई रति क्रियाओं को दूसरों के समक्ष में प्रगट (प्रकाशित) करदेना द्वितीय रहोभ्याख्यानातिचार है।

(३) कूटलेखक्रियातिचार - जो बात किसी दूसरे ने नहीं कही है उसे बात को किसी की प्रेरणा से उसने यह बात कही है अथवा उसने यह बात किया है इस प्रकार से ठगने के लिये झूठा लेख (दस्तावेज) लिखना कूटलेख नामका तृतीयातिचार है।

(४) न्यासापहारातिचार :- कोई पुरुष सोना, चांदी आदि द्रव्य किसी के धरोहर रख गया हो और फिर अपनी रक्खी हुई संख्या भूलकर थोड़ा ही द्रव्य मांगता हो उसके लिये वह धरोहर रखने वाला कहता है कि "अच्छा ठीक है कि जितना रख गये थे उतना ले जावो" इस प्रकार कपट से आज्ञा देता है उस धरोहर रखने वाले के न्यासपहार नामका अतिचार लगता है।

(५) साकार मंत्र भेदातिचार :- किसी अर्थ के प्रकरण से अथवा अङ्गों के विकार से या भौंह चलाने आदि किसी भी कारण से दूसरे का अभिप्राय जानकर ईर्षा और डाह के निमित्तसे उस अभिप्राय को प्रकट कर देना साकार मन्त्रभेदातिचार कहलाता है।

(३) अचौर्याणुव्रत का लक्षण :-

अन्यपीड़ाकरंपार्थिवादिभयवशादवशपरित्यक्तं वा निहितं
विस्मृतं वा यददत्तं ततो निवृत्तादरः श्रावक इति तृतीयमणुव्रतम्।

अर्थ :- जो राजा आदि के भय के वश से, परवश होकर छोड़ दिया गया हो अथवा कोई रखा गया हो या किसी से पड़गया हो एवम् कोई भूल गया हो ऐसे दूसरे को दुःख देनेवाले बिना दिये हुए द्रव्य को ग्रहण करना चोरी है उसका त्याग करना या उसका त्याग करने में आदर रखना श्रावक का तृतीय अचौर्याणुव्रत कहलाता है।

विशेष :- निहितंवा पतितंवा सुविस्मृतंवा परस्वमविसृष्टम्।
यन्न न हरति यन्न च दत्ते तदकृश चौर्यादुपारमणम् ॥५७॥
[र. श्रा. द्व अ.]

अर्थ :– रक्खा हुआ, गिराहुवा, भूला हुवा व बिना दिया हुआ दूसरे का न जो नही लेता है और न किसी को देता ही है सो वह अचौर्याणुव्रत है।

श्री आचार्य अमितगति ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट किया है :–

येऽप्यहिंसादयो धर्मास्तेऽपि नश्यन्ति चौर्यतः।
मत्वेति न त्रिधा ग्राह्यं परद्रव्यं विचक्षणैः ॥७७६॥
अर्थाः बहिश्चराः प्राणाः प्राणिनां येन सर्वथा।
पर द्रव्यं ततः सन्तः पश्यन्ति सदृशं मृदा ॥७७८॥

अर्थ :– चोरी करने से अहिंसा आदिक धर्म भी नष्ट हो जाते है, ऐसा जानकर मन, वचन, काय से चतुर पुरुषों को दूसरो के द्रव्य को नही चुराना चाहिये। प्राणियों का वाह्य प्राण द्रव्य (धन) ही है इसलिये दूसरे का द्रव्य सर्वथा मिट्टी के सामान है - ऐसा सन्त पुरुष मानते (देखते) है।

यह अणुव्रती उन जीवो को विना दी हुई ले सकता है जिन चीजो की राजा व पञ्चायत अथवा किसी समाज की तरफ से लिये जाने की आज्ञा (इजाजत) है। जैसे- हाथ धोने को मिट्टी, स्नान करने एव पीने के लिये नदी, तालाब तथा कुवे का जल व इस ही तरह (किस्म) की और कोई छोटी चीज जैसे:- पत्ते, फल, फ़ूल, तिनका, घास आदि अगर इन चीजो के लिये कही मनाई हो अथवा इनका कोई मालिक हो ऐसी वस्तुओ को बिना पूछे लेलेना यह भी चोरी है। जिस चीज को लेने पर कोई पकड़ नही सकता और न मना कर सकता है ऐसी सर्व साधारण से लेने योग्य चीज को लेना सो स्थूल चोरी नही है।

अचौर्याणुव्रत के पांच अतिचार –

अदत्तादानविरतेः पञ्चातिचाराः भवन्ति। स्तेनप्रयोगःतदाहृतादानं विरूद्धराज्यातिक्रमोहीनाधिकमानोन्मानंप्रतिरूपकव्यवहारश्चेति। मोषकस्य त्रिधा प्रयोजनंमुश्लंतंस्वयमेवप्रयुक्ते। अन्येन वा प्रयोजयति अन्यप्रयुक्तमनुमन्यतेवायः स स्तेनप्रयोगः। अप्रयुक्तेनानुमतेन च चोरेणानीतस्य ग्रहणं तदाहृतादानम्। विरुद्धं राज्यं विरुद्धराज्यं, उचितन्यायादन्येन प्रकारेणादानग्रहणमतिक्रमः, तस्मिन् विरुद्धराज्ये योऽसावतिक्रमः स विरुद्धराज्यातिक्रमः प्रस्याऽमानं तुलाद्युन्मानमेतेन न्यूनेनान्यस्मै देयमधिकेनात्मनाग्राह्यमित्येवमादि

कूटप्रयोगो हीनाधिकमानोन्मानम् कृत्रिमैं हिरण्यादिभिर्वंचनापूर्वको व्यवहारः प्रतिरूपक व्यवहार इति ।

अर्थ :— इस अचौर्याणुव्रत के पांच अतिचार होते हैं। (१) स्तेन प्रयोग (२) तदाहृतादान, (३) विरुद्धराज्यातिक्रम (४) हीनाधिकमानोन्मान और (५) प्रतिरूपक व्यवहार ये पांच अतिचार अचौर्याणुव्रत के होते हैं।

(१) स्तेन प्रयोग :— चोर को तीन तरह से प्रेरणा की जा सकती है- एक तो चोर को स्वयम् प्रेरणा करना दूसरे अन्य किसी से प्रेरणा करवाना और तीसरे चोरी करने वाले को अच्छा (भला) मानना, इन तीनों क्रियाओं को स्तेनप्रयोग नामक अचौर्याणुव्रत का सर्व प्रथम अतिचार कहा है।

भावार्थ:— चोरी करने के लिये प्रेरणा करली। जिनको मन, वचन, काय, कृत, कारित और अनुमोदना से स्थूल (मोटे रूप से) चोरी का त्याग है, उसके लिये तो चोर से चोरी कराना, व्रत का भङ्ग करना ही होगा, परन्तु यहाँ अतिचार इसलिये कहा है कि जैसे किसी के पास खाने को या खर्च करने को द्रव्य नहीं है यानी गरीब है ऐसी स्थिति में उससे (गरीब से) कहना कि जो वस्तु तुम लावोगे उसको हम ले लेंगे (खरीद लेंगे) अथवा बेच देगें इस प्रकार के भाव करने मात्र से ही एक देश भङ्ग होने से अतिचार है।

(२) तादाहृतादानातिचार :— जिसको चोरी करने के लिये न तो प्रेरणा की है और न जिसकी चोरी करने में सहमत हुवा है ऐसे चोर के द्वारा लाये हुये द्रव्य को ग्रहण करना तदाहृतादान नामक दूसरा अतिचार है।

भावार्थ :— चोरी का लाया हुवा पदार्थ लेना। चोरी का पदार्थ गुप्त रीति से ले लेना ऐसा करना भी चोरी ही है, परन्तु व्यापारार्थ कुछ अल्प मूल्य मे खरीद लेना अथवा किसी दूसरे को दिलवा देना भी अचौर्याणुव्रत का द्वितीयातिचार है।

(३) विरुद्धराज्यातिक्रमातिचार — जिस राज्य में विरुद्धता फैली हो उसे विरुद्ध राज्य कहते हैं, उचित न्याय को छोड़कर दूसरी तरह से ग्रहण करना अतिक्रम कहलाता है। किसी विरुद्ध राज्य में अतिक्रम करना अर्थात् उचित य को छोड़कर अन्याय पूर्वक लेलेना व देदेना विरुद्ध राज्यातिक्रमातिचार है।

:— जहाँ राज्य भ्रष्ट हो गया है अथवा छत्र भङ्ग हो गया है वहां जा अमर्यादा से व्यापार करना यानी उचित न्याय छोड़ कर द्रव्यादिका लेना

देना सो विरुद्ध राज्यातिक्रम नामका तीसरा अतिचार है। कोई कोई ऐसा अर्थ भी करते हैं कि राज्य की आज्ञा के विरुद्ध महसूल (टैक्स) कम चुकाना भी इस ही अतिचार (दोष) में गर्भित है। राजा की आज्ञा के विरुद्ध व्यवहार करना अथवा राज्य के नियमों का उल्लंघन करना एवम् राज्य नियम को लंघन करने वालों को सहायता देना और सहायता देकर प्रसन्न होना भी इस ही अतिचार में सम्मिलित किया गया है।

(४) हीनाधिकमानोन्मानातिचार :– नापने के सेर पायली (माप) आदि को मान कहते हैं और तोलने के तोले, सेर, छटाक आदि को उन्मान कहते हैं इन नाप तोल के बाटों को कमती बढ़ती रखना अर्थात् कमती से दूसरे को देना और बढ़ती से लेना इस प्रकार के छल कपट के प्रयोग करने को चतुर्थ हीनाधिकमानोन्मानातिचार कहते हैं। इससे राजदण्ड भी मिलता है।

(५) प्रतिरूपक व्यवहारातिचार – कृत्रिम सोने व चांदी आदि के द्वारा ठगने का व्यवहार करना अर्थात् खरी वस्तु में खोटी वस्तु मिलाकर असली के रूप में बेचना जैसे दूध में पानी, घी में तेल, सोने में तांबा मिलाकर दूध, घी, और सोना (स्वर्ण) कहकर बेचना सो पञ्चमप्रतिरूपकव्यवहारातिचार है।

विशेष :– "स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा" ग्रन्थ की संस्कृत टीका में कहा है :–

"ताम्रेण घटिता रूप्येन च, सुवर्णेन न घटितास्ताम्ररूप्याभाव-घटिता द्रम्माः (Greek) तत् हिरण्यमुच्यते, तत्सदृशाः केनचित् लोक-वंचनार्थं घटिता द्रम्माः प्रतिरूपकाः उच्यते तैः प्रतिरूपकैः असत्य-माणकैः (Coins) व्यवहारः क्रय विक्रय प्रतिरूपक व्यवहारः ॥"

भावार्थ :– अधिक मूल्य की वस्तु में अल्प मूल्य की वस्तु मिलाकर बेचना या ऐसी चालें अन्य (दूसरे) को सिखादेना अथवा अन्य से करा देना। ऐसे कपटपूर्ण कार्यों के करने से राजदण्ड के अतिरिक्त लोक में निन्दा और अविश्वसनीय हो जाता है।

विशेष :– किसी [illegible] के [illegible] की यदि वास्तविकता [illegible] तो [illegible] कोई ही होती अथवा खोटे सिक्के बनाकर उनसे लेन देन करना जैसे खोटे [illegible] के बने हुए द्रम्म को हिरण्य कहते हैं। किसी ने लोगों को ठगने के लिये उन ही के समान दूसरे सिक्के बना लिये [illegible] झूंठे सिक्के (बनावटी रूप से) बनाकर लेन देन करना [illegible] व्यवहार है। उपर्युक्त [illegible] व्यवहार को [illegible] है कि

उपर्युक्त पाँचों अतिचार यानी दोषों से बचे क्योंकि निर्दोषव्रत पालने से इस लोक में विश्वास और व्यापार बढ़ेगा, यश पावेगा और ऐसा पाप नहीं बाँधेगा जिससे अशुभ गति का बन्ध हो और परलोक में दुःख उठावे।

(४) ब्रह्मचर्याणुव्रत का लक्षण :–

"उपात्ताया अनुपात्तायाश्च पराङ्गनायाः सङ्गाद्विरतरतिविरत
विरत इति चतुर्थमणुव्रतम्" ।

अर्थ – उपात्त (विवाहित) और अनुपात्त (अविवाहित) परस्त्रियों के सङ्ग से विरक्त रहना सो विरताविरत श्रावक का चतुर्थ ब्रह्मचर्याणुव्रत कहलाता है।

"न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत्
सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसन्तोष नामापि ॥५९॥ [रत्न. श्रा.]

अर्थ – जो न तो पर स्त्रियों से काम भोग करता है और न दूसरों से कराता है उसके परदार निवृत्ति अर्थात् स्वस्त्री सन्तोष व्रत होता है –

स्वनारी वनिता होय जो या में कर सन्तोष ।
त्याग करो पर कामिनी या सम और न दोष ॥४॥

कवित्त – जो परनारी निहार निलज्ज हँसे विगसे बुधिहीन बड़ेरे ।
जूठन की जिमि पातर देखि खुशी उर कूकर होत घनेरे ॥
है जिनकी यह टेव वहै तिनको इस भौ अपकीरति है रे ।
ह्वै परलोक विषै दृढ़ दण्ड करै शत खण्ड सुखाचल केरे ॥

अर्थ – [illegible]

[illegible] कहा है कि –

हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत् ।
बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत् ॥१०८॥
यदपि क्रियते किञ्चिन्मदनोद्रेकादनङ्गरमणादि ।
तत्रापि भवति हिंसा रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात् ॥१०९॥

अर्थ :– पर (स्वस्त्री के अतिरिक्त) अन्य स्त्रियों को माता, बहिन (भगिनी) व पुत्री के समान देख करके अपनी स्त्री से ही सन्तोषित रहना चौथा ब्रह्मचर्याणुव्रत नाम से कहा जाता है।

परस्त्री स्वर्ग के मार्ग में अर्गला (आगल या आड) वत् है, नरक गति में ले जाने के लिये सखी स्वरूप है, कृष्णवर्ण के महाभयंकर सर्पराज की दृष्टि के समान बुरा ही करने वाली है और दूर नही होने वाली अग्निशिखा ही है।

विशेष :– पुरुषों को अपनी विवाहित स्त्री में और स्त्री को अपने स्वकीय विवाहित पति में ही सन्तोष रखना चाहिये।

गाथा :– पव्वेसु-इत्थि सेवा अणङ्ग क्रीड़ा सदा विवज्जंतो।
थूलपड़ब्रह्मचारी जिणेहिंभणिदो पवयणम्हि ॥ *[स्वा. टीका]*

पर्व में स्वस्त्री की सेवा एवम् अनङ्गक्रीडा भूलकरके भी ब्रह्मचर्याणुव्रती नही करता है; ऐसा जिनेन्द्रदेवने अपने प्रवचन में कथन किया है।

भावार्थ :– एक माह में दो अष्टमी और दो चतुर्दशी पर्व दिवस महा मुनियों द्वारा बताये गये हैं; इसके अतिरिक्त विशेष रूप से तीन अष्टाह्निका महापर्व एव तीन ही दशलक्षणदिवस तथा तीन ही सोलहकरण (षोडसकारण) और तीन ही रत्नत्रय दिवसों में शीलव्रत पालना चाहिये।

अष्टाह्निकापर्व :– अषाढ शुक्ला अष्टमी (८) से पूर्णिमा (१५) तक तथा कार्तिक शुक्ला अष्टमी (८) से पूर्णिमा (१५) तक और फाल्गुण शुक्ला अष्टमी (८) से पूर्णिमा (१५) तक अष्टाह्निका पर्व होता है।

षोड़सकारणपर्व :– भाद्रपद कृष्णा प्रतिपदा [१] से भाद्रपद शुक्ला पूर्णिमा [१५] तक तथा माघ कृष्णा प्रतिपदा [१] से माघ शुक्ला पूर्णिमा [१५] तक और चैत्र कृष्णा प्रतिपदा [१] से चैत्र शुक्ला पूर्णिमा [१५] तक षोड़स कारण (सोलहकारण) पर्व होता हैं।

दशलक्षणपर्व :– भाद्रपद शुक्ला पञ्चमी [५] से भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी [१४] तक तथा माघ शुक्ला पञ्चमी [५] से माघ शुक्ला चतुर्दशी [१४] तक और चैत्र शुक्ला पञ्चमी [५] से चैत्र शुक्ला चतुर्दशी [१४] तक उत्तम-क्षमादि दशलक्षण पर्व दिवस होते हैं।

रत्नत्रयपर्व :– भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी [१३] से पूर्णमासी [१५] तक तथा माघ शुक्ला त्रयोदशी [१३] से माघ शुक्ला पूर्णमासी [१५] तक और चैत्र

शुक्ला त्रयोदशी [१३] से चैत्र शुक्ला पूर्णमासी [१५] तक रत्नत्रय पर्व दिवस होते हैं।

उपर्युक्त तीनो अष्टाह्निकापर्व तीनों षोड़सकरण पर्व तीनों दशलक्षणपर्व और तीनों रत्नत्रय पर्व एवम् प्रत्येक माह की दो अष्टमी और दो चतुर्दशी को ब्रह्मचर्याणुव्रती श्रावक को पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहना चाहिये यानी स्वस्त्री से भी कामक्रीड़ा तथा कामोद्दीपक वार्तालाप भी नहीं करना चाहिये।

"स्वनायामपि निर्विण्णः सन्ततेः कुरुते रतिम् ।
शीतं नुनुत्सुर्वा वह्नौ ब्रह्मचारी न पर्वणि ॥६५॥ [धर्म सं. श्रावकाचार]

अर्थ :- स्वदार सन्तोषव्रत पालन करने वाले ब्रह्मचर्याणुव्रतधारी पुरुषों को पर्व दिवसो में अपनी स्त्री से विरक्त रहना चाहिये पर्व दिवसों में भी विषयों का सर्वथा परित्याग करना चहिये।

भावार्थ :- जिस प्रकार से शीत की बाधा दूर करने के लिये पुरुष अग्नि को सेवन करता है न कि हाथ जलाने के लिये, उसही प्रकार से स्त्री का सेवन इसलिये किया जाता है कि यदि हमारे सन्तान हो जावे तो हम गृहस्थ का भार उस पर रखकर निवृत्ति मार्ग मोक्षमार्ग मे चलेजावें न कि कर्म बन्धन के लिये विषय सेवन किया जाता है, जिससे आत्म कल्याण न करते संसार में भ्रमण करता रहे।

(४) ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाँच अतिचारों का वर्णन :-

स्वदारसन्तोषव्रतस्यातीचाराः पञ्च भवन्ति। परविवाह करणं, इत्वरिकापरिगृहीतागमनं, इत्वरिका परिगृहीतागमनं, अनङ्गक्रीड़ा, कामतीव्राभिनिवेशश्चेति। तत्सद्वेद्यस्य चारित्रमोहस्य चोदयाद्वि-वहनं विवाहः परस्य विवाहकरणं परविवाहकरणं। ज्ञानावरणक्षयो-पशमादापादितकलागुणज्ञतया चारित्रमोहस्त्रीवेदोदय प्रकर्षादंगो-पाङ्ग नामोदयावष्टंभाच्च परपुरुषानेतीति इत्वरिका या गणिका-त्वेन वा पुंश्चलीत्वेन परपुरुषगमनशीला अस्वामिका सा अपरि-गृहीता, तस्यां गमनमित्वरिकापरिगृहीतागमनं। या पुनरेकपुरुष-भर्तृका सा परिगृहीता, तस्यां गमनमित्वरिका परिगृहीतागमनं। अङ्ग प्रजननं योनिश्च ततोऽन्यत्रानेकविध प्रजननविकारेण

रतिरनङ्गक्रीड़ा कामस्य प्रवृद्धः परिणामोऽनुपरतवृत्यादिः कामतीव्राभिनिवशःइति।

अर्थ :– इस स्वदारसन्तोषव्रत के पाँच अतिचार होते हैं। (१) पर विवाह करण (२) इत्वरिका अपरिगृहीतागमन (३) इत्वरिका परिगृहीतागमन (४) अनङ्गक्रीडा और (५) कामतीव्राभिनिवेश ये पाँच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार हैं।

साता वेदनीय कर्म और चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से जो पञ्चाग्नि और देवो की साक्षी पूर्वक पाणिग्रहण किया जाता है उसे "विवाह" कहते हैं।

(१) **परविवाह करण**.– दूसरे का विवाह करना परविवाह करण कहलाता है।

(२) **इत्वरिका अपरिगृहीतागमन** :– ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम होने से जो कलागुण आदि प्राप्त हुए हैं उनके कारण तथा चारित्रमोहनीय कर्म के अन्तर्गत स्त्रीवेद कर्म के विशेष उद यहोने से और अङ्गोपाङ्ग नाम कर्म के उदय की प्राप्ति होने से जो पर (दूसरे) पुरुषो के समीप जाती है उसे इत्वारिका कहते हैं। वेश्या होकर अथवा व्यभिचारिणी बनकर पर पुरुषों के समीप जाने का जिसका स्वभाव है, जिसका कोई स्वामी नहीं है उसे इत्वरिका अपरिगृहिता कहते हैं; उसमे गमन करना इत्व- रिका अपरिगृहिता गमन कहलाता है।

विशेष :– बिनापरणी हुई स्त्री जैसे कन्या, दासी, वेश्या आदि से सम्बन्ध रखना यानी रागात्मक रूपसे स्त्रीत्व सम्बन्ध रखना।

गमनं :– **"जघनस्तनं व दंतनिरीक्षणं, संभाषणं हस्तभ्रू कटाक्षा-विसंज्ञाविधानं इत्येवमादिकं निखिलं रागित्वेन दुश्चेष्टितं गमनं इत्युच्यते"।** *[गृहस्थ धर्म ६९ पृष्ठ]*

अर्थ :– परस्त्री व वेश्यादि के जघन, स्तन व दाँत आदि अङ्गों का देखना, उनसे प्रेमपूर्वक (विषय भोगरूपी भावों से) बातचीत करना, हाथ भौं के कटाक्ष वगैरह से संकेत करना उसको गमन कहते हैं।

(३) **इत्वरिकापरीगृहीतागमन** :– जिसका एक पुरुष स्वामी हो वह परिगृहिता कहलाती है अथवा अन्य की परणी हुई स्त्री व्यभिचारिणी हो उससे सम्बन्ध रखना यानी लेने देने, बोलने, बैठने उठने तथा उसके साथ कुशील सेवन करने की खोटी चेष्टा करना ब्रह्मचर्याणुव्रत का तीसरा परगृहीतेत्वरिकागमन नामका

अतिचार है।

(४) अनङ्गक्रीड़ातिचार :— उत्पन्न होने के स्थान को अर्थात् योनि को अङ्ग कहते है, उस स्थान विशेष को (निर्दिष्ट भोग स्थानको छोड़कर किसी भी दूसरी जगह शरीर मे काम क्रीडा करना अनङ्गक्रीडा नामका ब्रह्मचर्यव्रतका चतुर्थातिचार कहलाता है।

भावार्थ :— अपनी विवाहिता स्त्री के साथ अथवा अन्य किसी पुरुष एवं नपुंसक को स्त्री के समान मान करके काम सेवन के अङ्गों को छोड़ कर अन्य अङ्गोपाङ्गो से काम चेष्टा करनी सो अनङ्ग क्रीड़ा नामकातिचार है।

(५) कामतीव्राभिनिवेश :— कामवासना के अत्यन्त बढ़े हुए परिणामों को अर्थात् काम सेवन से तृप्त न होना सदा उसही में परिरमण करते रहना (लगे-रहना) आदि को कामतीव्राभिनिवेश नामका ब्रह्मचर्याणुव्रत का पञ्चमातिचार है।

भावार्थ :— द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का विचार न रखकर स्वकीया (अपनी विवाहित स्त्री) से भी काम सेवन की अत्यन्त लालसारखना यानी काम की तीव्रता रखना अर्थात् अपनी स्त्री के साथ भी अत्यन्त तृष्णा (लालसा) में होकर काम सेवन करना और तृप्तता न पाना ब्रह्मचर्यव्रत का कामतीव्रभिनिवेष नामका पञ्चमातिचार है।

विशेष :— वास्तव में जब स्त्री रजस्वला हो उसको शुद्ध हो जाने के बाद ही सन्तानोत्पत्ति की इच्छा से गर्भाधानादि क्रिया करनी चाहिये। शेष दिनों में सन्तोषित रहना चहिये।

ब्रह्मचर्यव्रत शरीर की रक्षा एव आत्मिक उन्नति का साधक है क्योंकि शरीर मे वीर्य अपूर्व रत्न है, इसकी यथा सम्भव रक्षा करनी अत्यन्त आवश्यक है। स्त्री सेवन के भाव मात्र करने से ही वीर्य रुपी रत्न मलीन हो जाता है।

(५) परिग्रहपरिमाणाणुव्रतका लक्षण: —

"धनधान्यक्षेत्रादीनामिच्छावशात् कृत परिच्छेदो गृहीतिपञ्चममणुव्रतम्"।

अर्थ :— अपनी इच्छानुसार धन धान्य क्षेत्र आदिका परिमाण या मर्यादा कर लेना सो गृहस्थ का पञ्चम परिग्रहपरिमाणुव्रत कहलाता है।

परिग्रह परिमाणाणुव्रत के पञ्चातिचारों का वर्णन :-

परिग्रहविरमणव्रतस्य पञ्चातिक्रमा भवन्ति। क्षेत्रवास्तुहिरण्य सुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यमिति, तत्र क्षेत्रं शस्याधिकरणं, वास्तु अगारं, हिरण्यं रूप्यादिव्यवहारप्रयोजनं, स्वर्णं प्रतीतं (विख्यातं), धनंगवादि, धान्यं व्रीह्यादि, दासी दासं, भृत्यस्त्रीपुंवर्गः, कुप्यंक्षौमकार्यसकौशेयचन्दनादि एतेषु एतावानेव परिग्रहोममनातोऽन्य इति परिच्छिन्नात्प्रमाणाक्षेत्रवास्त्वादि विषयादतिरेकः, अतिलोभवशात्प्रमाणातिरेक इति।

अर्थ :- इस परिग्रह परिमाणाणुव्रत के पांच अतिचार है। क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य सुवर्ण, धन धान्य, दासी, दास और कुप्य ये पांच अतिचार है। जिनमें धान्य पैदा होता है ऐसे खेतों को क्षेत्र कहते हैं, मकान को वास्तु कहते हैं, रुपया पैसा आदि जिससे संसार का व्यवहार चलता है उन्हे हिरण्य कहते है। सोने को सुवर्ण कहते है। गाय, भैंस, घोडा, बकरी आदि जानवरों को धन कहते है। गेहूँ, जौ आदि को धान्य कहते हैं। नोकर रहने वाले स्त्री पुरुषों के समूह को दासी दास कहते हैं। कपड़ा, कपास, कोसा, चन्दन आदि घर की सामग्री को कुप्य कहते है। परिग्रहपरिमाणाणुव्रत धारण करने वाले को इन सब चीजों का परिमाण कर लेना चाहिये। मैं इन चीजों को इतनी रक्खूंगा इससे अधिक नही। इस प्रकार से परिमाण कर लेने पर अतिशय लोभ के वश होकर उस परिमाण का उल्लंघन (अतिरेक) करना सो परिग्रहपरिमाण व्रत के अतिचार है।

(१) क्षेत्र वास्तु परिग्रहपरिमाणातिचार :- क्षेत्र (खेत, जमीन यानी धान्य के पैदा होने की जगह) तथा वास्तु (घर, दुकान, कोठा व धान्य भरने की जगह) इन दोनों क्षेत्र एवम् वास्तु की कीगई मर्यादा को लोभ वश वढा लेना सो क्षेत्र वास्तु नाम का परिग्रह परिमाणव्रत का अतिचार है।

(२) हिरण्यसुवर्ण परिग्रहपरिमाणातिचार :- हिरण्य (सोना, चांदी, तांवा आदि के बने हुए सिक्के तथा सुवर्ण यानी सोना आदि की कीगई मर्यादा को लोभ वश वढालेना अर्थात् किसी ने दस हजार रुपये तथा सौ तोला 'सोने को रखने का परिमाण रक्खा और सोने का भाव घटता देखकर रुपये से सोना खरीद कर वढा लेवे व सोने का भाव वढा हुवा देखकर रुपया वढा लेवे सोही अतिचार है। एवं किन्ही आचार्यों ने अहिंसाणुव्रत में गर्भित किया है।

[illegible]

"[illegible] रात्रिभोजन [illegible] अणुव्रत का लक्षण –

[illegible] [illegible]णुव्रतं" ।

अर्थ – [illegible] (अन्न, पान, खाद्य, लेह्य आदि) [illegible] प्रकार के आहार का त्याग करना रात्रि भोजन विरमण [illegible] अणुव्रत कहलाता है।

भावार्थ – किन्हीं आचार्यों ने इस रात्रि भोजन [illegible] किन्हीं आचार्यों ने छठा अणुव्रत [illegible] है [illegible]

वधादसत्याच्चौर्याच्च कामाद्ग्रन्थान्निवर्तनम् ।
पंचधाणुव्रतं राज्यभुक्तिः षष्ठमणुव्रतम् ॥

अर्थ – हिंसा, असत्य, चोरी, कामसेवन और परिग्रह [illegible] होना त्याग करना पाँच प्रकार का अणुव्रत कहलाता है तथा रात्रि भोजन त्याग करना छठा अणुव्रत कहा जाता है।

विशेष – उपर्युक्त पंचाणुव्रतों के अतिरिक्त जो रात्रि भोजन त्याग [illegible] छठा अणुव्रत वर्णित किया गया है उसको मुनिराज भी छठा अणुव्रत के रूप में मानते हैं। इसका मुनिराज भी प्रतिदिन व [illegible] करते रहते हैं।

"आहावरे छट्ठे अणुव्वदे राइभोयणादो वेरमणं, से असणं, पानं, खादियं, रसाइयं, चंदि चउव्विहो आहारो सो तित्तो वा, कडुओ वा, कसाइलो वा, अमिलो वा, महुरो वा, लवणो वा, दुच्चितिओ, दुव्मासिओ, दुप्परिणामिओ, दुस्सामिणीओ, रत्तीए,

भुत्तो, भुंजाविया, भुंज्जिज्जंतोवा, समणुमाएणदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं" ॥६॥

अर्थ :– पाँच महाव्रतों से जुदा छट्ठा अणुव्रत रात्रि भोजन से विरमण है, प्राणातिपातादिक (महाव्रतों) की तरह इसमें पूर्णरूप से विरति का अभाव है इसलिये अणुव्रत कहा है क्योंकि इस रात्रि भोजन विरमणव्रत में रात्रि में ही भोजन का त्याग होता है, दिन में नहीं होता। दिन मे यथाकाल भोजन में प्रवृत्ति सम्भव है इसलिये अणुव्रत है, वह रात्रि भोजन विरमण व्रत, भात दालादि असन, दूध, छाछ, जलादि पान मोदकादि खाद्य, रुच्यत्पादक, सुपारी इलायची आदि स्वाद्य, इस प्रकार चार प्रकार का है। उक्त चार प्रकार का आहार तिक्त (चरपरा) कटुक (कड़वा) कषाय (कसायला) आमिल (खट्टा) मधुर (मीठा) और लवण (खारा) रुप होता है; वह खाने पीने योग्य चिन्तवन किया गया, अयोग्य भी आहार खावे ऐसा कहा गया हो, अयोग्य आहार को भी खाने के लिये काय (शरीर) से स्वीकारता दी गई हो और दुःस्वप्निस अर्थात् स्वप्न में खाया, इस प्रकार रात्रि में स्वयं खाया हो, खिलाया हो या खाने की अनुमोदना की हो इससे सम्बन्ध रखने वाला मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

रात्रि भोजनत्याग व्रत के समर्थन में जैनेतर ग्रन्थों में भी अनेक स्थलों के प्रमाणों का दिग्दर्शन कराते हैं:–

रात्रौ श्राद्धं न कुर्वीत राक्षसी कीर्तिता हि सा ।
संध्ययोरुभयोश्चैव सूर्ये चैवोचिरोदिते ॥२८०॥

[मनुस्मृति अध्याय तृतीय]

अर्थ :– रात्रि राक्षसी मानी जाती है, अतः रात्रि के समय में, दोनों सन्ध्याओं में और सूर्य के उदय हुए थोड़ी देर हुई हो तब श्राद्ध न करे।

श्री कृष्ण ने महाभारत में जो बताया है कि :–

ये रात्रौ सर्वदाहारं वर्जयन्ति सुमेधसः ।
तेषां पक्षोपवासस्य फलं मासेन जायते ॥१॥
नोदकमपि पातव्यं रात्रावत्र युधिष्ठिरः ।
तपस्विना विशेषेणगृहिणां च विवेकिना ॥२॥ [महाभारत]

अर्थ :– जो उत्तम बुद्धि के धारक मनुष्य हैं वे रात्रि में सदाही सब प्रकार के

आहारों का त्याग करते हैं; उनको एक मास में पन्द्रह दिन के उपवासों का फल होता है।

हे युधिष्ठिर! जो तपस्वी है अथवा हेयोपादेय का ज्ञाता गृहस्थ है, उसे रात्रि के समय खास तौर पर जल पान भी नहीं करना चाहिये।

मद्यमांसाशनं रात्रौ भोजनं कन्द भक्षणम्।
ये कुर्वन्ति वृथा तेषां तीर्थं यात्रा जपस्तपः॥ [पद्मपुराण रविषेणाचार्य]

अर्थ :— जो मनुष्य मद्य पीते हैं व मांस खाते हैं रात्रि भोजन करते हैं तथा जमीकन्द खाते हैं, उनका जप, तप, तीर्थ यात्रादि करना वृथा अर्थात् निष्फल है।

जैन धर्म में और भी कहागया है :—

कुगुरु, कुदेव, कुवृष की सेवा, अनर्थ दण्ड, अधम व्यापार।
जुआ, मांस, मद्य, वेश्या, चोरी, परतिय हिंसन दान शिकार॥
त्रस की हिंसास्थूल असत्य, अरु, बिनछानो जल, निशि आहार।
यह सत्रह अनर्थ जग मांहि, यावज्जीव करो परिहार॥१॥

अर्थ :— (१) कुगुरुसेवा (२) कुदेवसेवा (३) कुधर्मसेवा (४) अनर्थदण्ड (५) खोटा व्यापार (६) जुवा खेलना (७) मास खाना (८) मदिरा पान करना (९) वेश्या गमन (१०) चोरी करना (११) परस्त्री सेवन करना (१२) हिंसा के उपकरणो का दान करना (१३) शिकार खेलना (१४) द्वीन्दियादि त्रस जीवो की हिंसा करना [१५] स्थूल झूंठबोलना [१६] बिना छना पानी पीना [१७] रात्रि भोजन करना दुनियाँ में ये सत्रह अनर्थ है इन्हें जिन्दगी भर के लिये त्याग देना चाहिये।

—' अणुव्रतों का वर्णन सम्पूर्ण हुआ :—

शील सप्तक वर्णनम् :—

स्यवीयसोविरतिमभ्युपगतस्यश्रावकस्यव्रत विशेषो गुणव्रतत्रयं शिक्षाव्रत चतुष्टयं शीलसप्तकमित्युच्यते। दिग्विरतिः, देशविरतिः अनर्थदण्डविरतिः सामायिकं प्रोषधोपवासः उपभोगपरिभोगपरिमाणं अतिथिसंविभागश्चेति।

अर्थ :— जो श्रावक अपने व्रतों को स्थिर रखना चाहता है उसे ...
और चार शिक्षाव्रत इन सातो विशेष व्रतों को ...

व्रतों को शील कहते हैं। [१] दिग्विरति, [२] देश विरति, [३] अनर्थ दण्ड विरति [४] सामायिक [५] प्रोषधोपवास [६] उपयोग परिभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग व्रत ये इन सात शीलों के नाम हैं।

तत्र प्राची, अवाची, उदीची, प्रतीची, ऊर्ध्वं अधो विदिशश्चेति। तासांपरिमाणंयोजनादिभिः पर्वतादि प्रसिद्धाभिज्ञानैश्च ताश्च दिशो दुष्परिहारैः क्षुद्रजंतुभिराकुलाः अतस्ततो बहिर्न यास्यामीतिनिवृत्ति दिग्विरतिः निरवशेषतो निवृत्तिं कर्तुमशक्नुवतः शक्त्याप्राणिवधविरतं प्रत्यागूर्णस्यात्र प्राणनिमित्तं यात्रा भवतु मा वा सत्यपि प्रयोजनभूयस्त्वे परिमिताद्दिग्वधेर्बहिर्नयास्यामीति तिर्यगतिक्रमः प्रणिधानादहिंसाद्यणुव्रतधारिणोऽप्यस्य परिगणिताद्दिग्वधेर्बहिर्मनोवाक्काययोगैः कृतकारितानुमतविकल्पैर्हिंसादिसर्वनिवृत्तिरिति महाव्रतं भवति।

अर्थ :– [१] पूर्व दिशा [२] पश्चिम [३] उत्तर [४] दक्षिण [५] ऊर्ध्व [ऊपर] [६] अधो [नीचे] [७] ईशान [८] आग्नेय [९] नैऋत्य [१०] और वायव्य ये दश दिशायें कहलाती हैं।

(१) दिग्व्रतका लक्षण :– पर्वत, नदी आदि प्रसिद्ध चिन्हों के द्वारा अथवा योजनादि के द्वारा उन दसों दिशाओं का परिमाण कर लेना और यह नियम कर लेना कि ये सब दिशायें जो हटाये न जा सकें ऐसे छोटे छोटे जीवों से भरी हुई हैं इसलिये इस किये हुए परिमाण के बाहर जीवन पर्यन्त मैं नहीं जाऊंगा इस प्रकार परिमाण के बाहर जाने आने का त्याग करना दिग्विरति है। जो श्रावक सम्पूर्ण पापों का त्याग नहीं कर सकता इसलिये अपनी शक्ति के अनुसार प्राणियों की हिंसा का त्याग करना चाहता है वह यह समझता है कि प्राणों के लिये यात्रा हो अथवा न हो, भारी से भारी प्रयोजन व कार्य होने पर भी नियमित दिशाओं के बाहर नहीं जाऊंगा ऐसी प्रतिज्ञा करने वाले तथा अहिंसा आदि पाँचों अणुव्रतों को धारण करने वाले श्रावक के नियमित दिशाओं के परिमाण के बाहर मन वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से हिंसादि समस्त पापों का पूर्ण रीति से त्याग हो जाता है इसलिये मर्यादा के बाहर [illegible] उसके महाव्रत समझा जाता है।

भावार्थ :— सासारिक, व्यापारिक या व्यवहारिक कार्य के लिये जन्मपर्यंत दसों दिशाओं में जाने की; ऐसे ही अन्य रीति से पत्रादि द्वारा व्यवहार करने की जो प्रतिज्ञा लेनी उसे दिग्व्रत कहते हैं। तीर्थ यात्रा व धर्म सम्बन्धी कार्य के लिये मर्यादा नहीं होती है, जैसा कि "ज्ञानानंद श्रावकाचार" में कहा है कि:- "क्षेत्र का प्रमाण सावद्य [पाप] योग के अर्थ करे, धर्म के अर्थ नहीं करे। धर्म के अर्थ कोई त्याग है ही नहीं"।

गृहस्थी को अपनी तृष्णा को रोकने के लिये यह व्रत करना चाहिये। जहाँ तक उसको व्यापारादिक करना हो वहाँ तक की अपनी इच्छानुसार सीमा बाँध ले फिर उस सीमा (हद) के बाहर जाने की चाह (इच्छा) न करें। जैसे किसी को भारत वर्ष के सिवाय अन्य यूरोपीय आदि देशों में भी व्यवहार (व्यापार) करना है तो जहाँ तक आवश्यकता हो वहाँ तक रखले, शेष का त्याग करे। चार दिशा (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण) चार विदिशा (ईशान, नैऋत्य, आग्नेय, वायव्य) उर्ध्व (ऊपर-आकाश) अधो (नीचे) यानी १० दिशाओं में कोस व मीलों के प्रमाण से व प्रसिद्ध स्थान जैसे नदी, पर्वत आदि की हद (सीमा) निश्चित करता हुवा प्रतिज्ञा ले ले। जैसे - यह प्रतिज्ञा लेवे कि ८ (आठ) दिशाओं में हर एक में १००० (एकहजार) कोस की तथा ऊपर नीचे पाँच पाँच कोस की हद रक्खी अथवा यों प्रमाण करे कि पूर्व में अमुक नदी, पश्चिम में अमुक पहाड़, दक्षिण में अमुक नगर, उत्तर में अमुक पहाड़ी ऐसे ही विदिशा व ऊपर, नीचे का प्रमाण करे। जिस जगह जो जमीन की सतह हो उससे यदि किसी पर्वत पर चढ़े तो, यदि पाँच कोस की मर्यादा हो तो उतना ही जावे। वैसे ही उससे नीचे किसी स्थान व सन्दक में जितनी मर्यादा हो उससे अधिक न जावे।

इस दिग्व्रत में बड़ा भारी लाभ यह होता है कि जहाँ तक सीमा रक्खी है उससे आगे जाने आने, लेन देन करने का त्याग होने से इच्छा रुक जाती है और लोभादि के पाप घटते हैं। कषाय घटाने से ही भद्र परिणामों की उत्पत्ति होती है और अन्त में ऐसा जीव मुक्ति का अधिकारी होता है। इस में ही इस जीव का भला है।

दिग्व्रत के पाँच अतिचारों का वर्णन :—

दिग्विरमणव्रतस्यपञ्चातिचारा भवन्ति :

क्रमः तिर्यगतिक्र

तत्र पर्वत म

घोतिक्रमः भूमिवि

नादिभिः परिच्छि

मिदं मया योज

दिग्विरमणव्रत

स्यगृहांतरस्यत्र

तन्निवृत्तिर्दिग्विर

अर्थ :- दिग्वि

अधोतिक्रम (३)

अतिचार होते हैं।

(१) ऊर्ध्वाति

से ऊपर की

कहते हैं।

भावार्थ :- ...॥८॥

उल्लंघन कर ... लव्रत का लंघन करना

जावेगा। ... और विषयों में अत्यासक्ति

(२) अधो

धन कम

भावार्थ ... इस तालाव के भीतर मकान

को ... देर तक ... ाहर अन्य

(३) ... देना ... । इस एक

रात्रि ...

... है।

की

दा

ागे

उमे

ाच-

। व्रतो

र अना-

(४) क्षेत्रवृद्धिक्रमातिचार :— योजनादि के द्वारा जो सब दिशाओं का परिमाण किया था उसके आगे जाने के लिये भी लोभ के कारण आकांक्षा रखना क्षेत्र वृद्धि है।

भावार्थ :— दिग्व्रत में नियत की हुई मर्यादा को पश्चिम आदि दिशाओं से घटा कर पूर्वादि दिशाओं की ओर बढा लेना, यह क्षेत्र वृद्धि अतिचार है। जैसे किसी मनुष्य ने पूर्व और पश्चिम की तरफ पाँच पांच सौ योजन की मर्यादा की कारणवश उसे पूर्व दिशा की ओर आठ सौ योजन जाने का काम पड़ा, तब लोभ वश उसने पश्चिम की ओर से योजन न घटा कर पूर्व की ओर मिला लिया (इस प्रकार एक हजार योजन की दोनों तरफ की मर्यादा थी, सो तो तोड़ी नही; इसलिये तो व्रत का अभङ्ग (भंग नहीं हुवा) परन्तु पूर्व की तरफ की मर्यादा वढा लेना, पश्चिम की मर्यादा कम कर लेना यह व्रत भङ्ग है क्योंकि मर्यादा करते समय पूर्व पश्चिम की मर्यादा बढाने घटाने का अभिप्राय नही था और अब बढाघटा लिया, इससे यह अतिचार हो गया क्योंकि भूल में व्रत की अपेक्षा रखकर मर्यादा का छल बल कर लिया इसलिये भङ्गा भङ्ग रुप अतिचार हो गया।

अगर असावधानी से क्षेत्र की मर्यादा का उल्लंघन हुवा होवे तो वहीं से शीघ्र ही लौट आना चाहिये। यदि मर्यादा का ज्ञान होवे तो कदापि आगे नही जाना चाहिये और अन्य को भी नही भेजना चाहिये। कदाचित् आगे चला भी जावे तो जो कुछ वहाँ उसको प्राप्त हो उसे छोड़ देना चाहिये। ऐसा अन्य शास्त्रकारों का भी मन्तव्य है।

(५) स्मृत्यन्तराधानातिक्रमातिचार :— मैंने योजनादिकों के द्वारा इतना इतना परिमाण किया है ऐसी स्मृति का भूल जाना स्मृत्यन्तराधान नाम का पञ्चमातिचार है। ये सब अतिचार प्रमाद से या मोह से अथवा व्यासंग से होते है।

भावार्थ :— जो मर्यादा ली हो उसको स्मरण न रखना। इसका अतिचार इस तरह होगा कि जैसे किसी ने १०० कोस की मर्यादा ली थी अब वह उस ओर गया और जाते ? याद न रहने से शङ्का आगई कि मर्यादा १०० कोस की थी या ५० कोस थी। ऐसी दशा में यदि ५० कोस से आगे गया तो अतिचार हो जायेगा। अतः श्रावक को उचित है कि इस व्रत को भली प्रकार पाले मन्द बुद्धि का होना अथवा कोई सन्देह आदि हो जाना अज्ञान कहलाता है। अत्यन्त

व्याकुल होना अथवा चित्त की वृत्ति का दूसरी तरफ लग जाना प्रमाद है। इस प्रमाद का अज्ञान से नियमित की हुई मर्यादा को भूल जाना सो सीमा की विस्मृति है। निश्चित मर्यादा स्मरण नही रहने से "मैंने सौ योजन की मर्यादा की थी अथवा पचास की" ऐसी कल्पना करता हुआ यदि वह पचास के आगे जायगा तो उसे अतिचार लगेगा और यदि सौ योजन के आगे जायगा तो उसे व्रत का भङ्ग होगा।

"अतिक्रमोमानशशुद्धिहानिः व्यतिक्रमो यो विषयाभिलापः।
तथातिचारं करुणालसत्वं भंगोह्यनाचारमिहव्रतानि" ॥

अर्थ :— मन की शुद्धि में, हानि का का नाम व्यतिक्रम है तथा व्रतो के आचरण में प्रमाद एव आलस्य और शिथिलता करना सो अतिचार है तथा व्रतो के भङ्ग करने का नाम अनाचार है।

विशेष :— श्री आचार्य अमितगति द्वारा भी सामायिक पाठ में अतिचार अनाचार के भेद :—

क्षतिमनः शुद्धि विधे रतिक्रमं
व्यतिक्रमं शीलव्रतेर्विलंघनम्।
प्रमोऽतिचारं विषयेषु वर्तनं,
वदन्त्यचारमिहातिसक्तताम् ॥९॥

अर्थ :— मन की शुद्धि मे क्षति होना अतिक्रम है। शीलव्रत का लंघन करना व्यतिक्रम है। विषयो से प्रवृत्ति करना अतिचार है और विषयों में अत्यासक्ति का नाम आनाचार है।

(२) देशव्रत :— मैं इस घर में रहता हूँ अथवा इस तालाव के भीतर मकान मे रहता हूँ इसलिये इतने दिन तक अथवा इतनी देर तक इसके बाहर अन्य (दूसरे) देश में नही जाऊँगा इस प्रकार त्याग कर देना देशविरति है। इस एक देश विरति का प्रयोजन भी दिग्व्रत के समान ही समझना चाहिये।

ओर भी ग्रन्थों का आधार है :—

अद्य रात्रिर्दिवा वापि पक्षो मासस्तया ऋतु।
अयनं वत्सरः कालावधिमाहुस्तपोधनाः ॥३५-७॥

[धर्म सं. श्रावकाचार]

अर्थ — दिग्व्रत में की हुई मर्यादा के भीतर भी घटाकर नियम करना देशव्रत है। जैसे - आज रात्रि में तथा दिन में, पक्ष में, महिने में, दो महिने में, छह महिने में, वर्ष आदि के द्वारा देशव्रत की मर्यादा करनी चाहिये।

"दिग्व्रत परिमित देशेऽवस्यानमस्ति मितसमयम्।
यत्र निराहुर्देशावकाशिकं, तद्व्रतं तज्ज्ञाः ॥९२॥
गृहहारिग्रामाणां क्षेत्र नदीदाव योजनानाम् च।
देशावकाशिकस्य स्मरन्ति सीम्नां तपोवृद्धः ॥९३॥ [र. क. श्रा.]

अर्थ :— तप में वृद्ध जो गणधरादिक देव है वे इस प्रकार देशव्रत की मर्यादा का वर्णन करते हैं कि जो तुमने दिग्व्रत की मर्यादा की है, उसमें भी रोज (प्रतिदिन) का नियम करो, अपनी शक्ति के अनुसार गमनागमन घटाओ। जैसे - आज मैं अमुक ग्राम, अमुक मोहल्ला, अमुकघर, कटक (सेना) या अमुक योजन तक ही जाऊँगा। अथवा :— महल, शहर, मन्दिर, धर्मशाला, बाग, बगीचा वन प्रवेश इत्यादि में इतनी देर तक इसके बाहर नहीं जाऊँगा इस प्रकार घडी, घण्टा, दिन, सप्ताह आदि तक दिग्व्रत में की हुई मर्यादा को घटाना देशव्रत कहलाता है।

देशव्रत के पाँच अतिचारों का वर्णन :—

तस्य पञ्चातिचारा भवन्ति। आनयनंप्रेष्यप्रयोगः शब्दानुपातः रूपानुपातः पुद्गलक्षेप इति। तत्रात्मना संकल्पितदेशेस्थितस्य प्रयोजन वशाद् यत्किंचिदानयेत्याज्ञापनमानयनं। परिच्छिन्नदेशाद्बहिः स्वयमगत्वाऽन्ये प्रेष्यप्रयोगेणैवाभिप्रेतव्यापारसाधनं प्रेष्यप्रयोगः व्यापारकरान्पुरुषानुद्दिश्याभ्युत्कासिकादिकरणं शब्दानुपातः। मम-रूपंनिरीक्ष्य व्यापारमचिरान्निष्पादयंतीति स्वाङ्गदर्शनं रूपानुपातः। कर्मकरानुद्दिश्य हलोष्टपाषाणादिपातः पुद्गलक्षेप इति। दिग्वि-रतिः सार्वकालिकी देशविरतिर्यथाशक्तिकाल नियमेनेति।

(१) आनयन (२) प्रेष्यप्रयोग (३) शब्दानुपात (४) रूपानुपात और (५) पुद्गल क्षेप नाम के देशव्रत के पाँच अतिचार है।

(१) आनयन नाम का अतिचार :— जितना देश अपने रहने के लिये संकल्प कर रखा है उसमें रहकर भी किसी प्रयोजन से मर्यादा के बाहर से तुम यह ले आओ ऐसी आज्ञा देना दसों दिशाओं में की हुई मर्यादा को

की गई मर्यादा का किसी प्रयोजन वश लाभ या मोह या स्वार्थ वश कम बढ कर लेना यह आनयन नाम का पहिला अतिचार है ।

(२) प्रेष्य प्रयोगनाम का अतिचार :– जितना देश नियत कर रक्खा है उसके बाहर स्वयं न जाकर भी किसी दूसरे को भेजकर ही अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेना अथवा स्वयं मर्यादा के भीतर रहकर अपनी इष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिये अपने नोकर मित्र या सम्बन्धी अथवा कुटुम्बीजन को की हुई सीमा से बाहर भेजकर अपनी अभीष्ट वस्तु को मर्यादा के बाहर से मँगवा लेना **प्रेष्य प्रयोग नाम का दूसरा अतिचार है ।**

(३) शब्दानुपात नाम का अतिचार :– मर्यादा से बाहर व्यापार करने वाले आदि पुरुषों की ओर लक्ष्य रख कर ही अर्थात् उन्हें अपना मुख्य अभिप्राय बतलाने के लिये ही खाँसना, खखारना, ताली पीटना, चुटकी बजाना आदि शब्दानुपात के द्वारा अपना मन्तव्य समझा देना **शब्दानुपातनाम का तीसरा अतिचार है ।**

(४) रूपानुपात नाम का चतुर्थातिचार :– देशव्रत की, की हुई मर्यादा के बाहर काम करने वाले लोग मेरे रूप को यानी मुझे देख कर काम को बहुत जल्दी कर डालेगें यही समझ कर अपना शरीर दिखाना अथवा अपने समीप बुलाने आदि के हेतु से मुँह से शब्द का उच्चारण नही करके, जिसको बुलाना है उसे अपना शरीर या अवयव आदि दिखाना सो यह रूपानुपातनामका चतुर्थातिचार है।

(५) पुद्गलक्षेप नाम का पञ्चमातिचार :– अपने नोकर, चाकर अथवा काम करने वालों को अपना मन्तव्य समझाने के लिये ढेला, पत्थर आदि फेंकना अथवा नियत की हुई सीमा से बाहर स्वयम् न जा सकने के कारण अपने किसी अभिप्राय से बाहर कुछ काम करने वाले लोगो को सूचना देने के लिये पत्थरादि फेंकना **पद्गलक्षेपणनाम का पांचवा अतिचार है ।**

विशेष :– (१) पुद्गलक्षेपण (२) शब्दानुपात (शब्द श्रावण) (३) रूपानुपात (स्वाङ्गदर्शन) ये तीनों ही यदि अभिप्राय पूर्वक इच्छित पदार्थ की सिद्धि यानी प्राप्ति के लिये किये जावे तो अतिचार (दोष) हैं। यदि बिना अभिप्राय या कपट के सहज रीति से हो जावे तो अतिचार यानी दोष नहीं है। दिग्व्रत और देशव्रत धारण करने से मनुष्य बाहरी चिन्ताओं से मुक्त होकर अपने कर्त्तव्य और धर्मानुष्ठान में दत्तचित्त होता है ।

दिग्व्रत का नियम जन्म भर के लिये होता है और देशव्रत अपनी शक्ति

के अनुसार काल की मर्यादा को (घड़ी, घण्टा, पहर, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास और वर्ष) लेकर होता है।

देशव्रती को उचित है कि अपने परिणामों की उज्वलता के लिये इस व्रत को निर्दोष पालकर अपनी आत्मोन्नति में पद, पद पर बढता ही जावे।

(३) अनर्थदण्ड व्रत का लक्षण :-

प्रयोजनंविनापापादानहेतुरनर्थदण्डः ।

विना ही प्रयोजन के जितने पाप लगते हों उसे अनर्थदण्ड कहते

भावार्थ :- निरर्थक व्यापारों से त्रस तथा स्थावर जीवों को पीड़ा दे अनर्थदण्ड है और इस प्रकार के निः प्रयोजन भूत व्यापार को त्याग देना अनर्थदण्डव्रत है।

विशेष :- और आचार्यों द्वारा इस विषय में स्पष्ट किया गया है :-

अभ्यन्तरं दिगवधेर पार्थिकेभ्यः सपाप योगेभ्यः ।
विरमणमनर्थदण्डव्रतं च विदुर्व्रतधराग्रण्यः ॥७४॥ [रत्न. श्रा.

अर्थ :- जितनी दिशाओं की मर्यादा की हो उसके भीतर अप्रयोजन (बिना मतलब) पापरूप मन, वचन, काय की क्रियाओं से विरक्त रहना यो अनर्थदण्ड त्यागव्रत है।

पीड़ापापोप देशद्यैर्देहाद्यर्थाद्विनांगिनाम् ।
अनर्थदण्डस्तत्यागोऽनर्थदण्ड व्रतं मतम् ॥६॥ [सागार धर्मामृत]

अर्थ :- अपने अथवा अपने मनुष्यो के शरीर, वचन और मन के प्रयोजन के विनाही (१) पापोपदेश (२) हिंसादान (३) दुःश्रुति (४) अपध्यान और (५) प्रमादचर्या इन पांच अप्रयोजनभूत स्वकीय हलन-चलन क्रियाओं से द्विन्द्रियादिकत्रस तथा एकेन्द्रियादिक स्थावर जीवों को कष्ट पहुँचाना (पीडा देना) अनर्थदण्ड है और इस प्रकार के अकारण निरर्थक व्यापारको (क्रिया-कलाप को) त्याग देना (छोड़ देना) ही अनर्थदण्डव्रतका लक्षण है।

अनर्थदण्डव्रत के ५ पांच भेद निम्नाङ्कित है :-

(१) अपध्यान (२) पापोपदेश (३) प्रमादाचरित्त (प्रमाद चर्या) (४) हिंसादान और (५) अशुभ श्रुति [दुःश्रुति]।

सच पञ्चविधः। अपध्यानं पापोपदशः प्रमादाचरितं हिंसाप्रदानं अशुभश्रुतिरिति। तत्र जयपराजयवधबंधांगछेदसर्वस्वहरणा-

दिकं कथंस्यादितिमनसाचिन्तनमपध्यानं । पापोपदेशश्चतुर्विधःक्लेशवणिज्यातिर्यग्वणिज्या वधकोपदेशः आरम्भ कोपदेशश्चेति । तत्रास्मिन् प्रदेशे दासीदासाश्चसुलभास्तान्नमून्देशान्नीत्वा विक्रयेकृते महानर्थलाभो भविष्यतीति क्लेश वणिज्या । गोमहिष्यादीन्पशूनत्र गृहीत्वाऽन्यत्र देश व्यवहारे कृतेसति भूरि वित्तलाभ इति तिर्यग्वणिज्या । वागुरिकशौकरिकशाकुनिकादिभ्यो मृगवराहशकुन्तप्रभृतयोऽमुष्मिन्प्रदेशे संतीति वचनं वधकोपदेशः । आरंभकेभ्यः कृषिवलादिभ्यः क्षित्युदकज्वलनपवनवनस्पत्यारंभोऽनेनोपायेनकर्त्तव्य इत्याख्यानमारंभकोपदेशः इत्येवं प्रकारं पापसंयुक्तंवचनं पापोपदेशः । प्रयोजनमंतरेणभूमिकुट्टनसलिलसेचनाग्निविध्यापनवातप्रतिघातवनस्पति च्छेदनाद्यवद्यकर्म प्रमादाचरित विषशस्त्राग्निरज्जुकशादण्डादि हिंसोपकरण प्रदानं । हिंसाप्रदानं रागादिप्रवृद्धितोदुष्टकथाश्रवणश्रावणशिक्षणव्यापृतिरशुभश्रुतिरिति । एतस्मादनर्थदण्डाद्विरतिः कार्या ।

अर्थ :– (१) अपध्यान अनर्थदण्डव्रत :– हारना, जीतना, मारना, बांधना, अङ्गों को काटना, सब धन का अपहरण हो जाना आदि ऐसे हो इस प्रकार मन से चितवन करना सो अपध्यान है ।

विशेष :– "वध बन्धछेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः ।
आध्यानमपध्यानं शासति जिन शासने विशदाः" ॥७८॥
[र. श्रा.]

अर्थ :– राग द्वेष से दूसरों को हानि पहुँचाना या वध, बन्धन करवाना, अपने चित्त में किसी को हानि पहुँचाने का विचार करना, किसी स्थान पर जनता समुदाय होवे वहाँ के लोगों को उनटा समझाकर फूट करा देना या किसी की स्त्री को और प्रकार से समझाकर उसकी हँसी उड़ाना, दूसरों को नीचा दिखाकर या कलह करवाकर मार करा आनन्द मानना इत्यादि सब अपध्यान अनर्थदण्ड है । इसका त्याग करना चाहिये ।

अर्थात् जैसे – किसी की बुराई विचारना, अमुक का विचारना किसी की स्त्री को हरने का बारबार विचार करना व मोह करना इत्यादि चिं-

मतलब खोटा ध्यान करना सो अपध्यान है।

(२) पापोपदेश :- पाप रूप वचन कहना पापोपदेश है। पापोपदेश चार प्रकार का है - (१) क्लेशवणिज्या (२) तिर्यग्वणिज्या (३) वधकोपदेश और (४) आरम्भकोपदेश।

(१) क्लेशवाणिज्या :- अमुक देश में दासी दास बहुत मिलते हैं उन्हें वहां से लेजाकर वेचने से बहुत से धनका लाभ होगा ऐसा बताना क्लेशवाणिज्य है।

(२) तिर्यग्वाणिज्या - गाय, भैंस आदि पशुओं को यहाँ से ले जाकर दूसरे देश में वेचने से बहुत सा धन मिलेगा इसको तिर्यग्वाणिज्य कहते हैं।

(३) वधकोपदेश :- हरिण आदि पशु मारने वालों को यह कहना कि अमुक देश मे हरिण बहुत है, सूअर मारने वालो को यह कहना कि अमुक देश सूअर बहुत है और पक्षी मारने वाले को यह कहना कि अमुक देश में पक्षी बहुत है सो वधकोपदेश है।

(४) आरंभकोपदेश :- किसान आदि आरम्भ करने वालों को यह उपदेश दे कि पृथ्वी का आरभ (जोतना, खोदना आदि) इस प्रकार से करना चाहि तथा जल, अग्नि वायु, वनस्पति आदि का आरंभ इस उपाय से करना चाहि ऐसा उपदेश व व्याख्यान देना उसको आरंभकोपदेश कहते है। इस प्रकार पाप रूप वचन का कहना ही पापोपदेश नामा अनर्थदण्ड है।

(३) प्रमादा चरित :- विना ही प्रयोजन के पृथ्वी को खोदना, पानी सींच अग्नि जलाना, वायु रोकना, वनस्पतियो को काटना आदि पाप कार्यों को प्रम चरित्र कहते है।

(४) हिंसादान :- विष, शस्त्र, अग्नि, रस्सी, चाबुक, लाठी आदि हिंसा करने वाली चीजों को देना हिंसादान है।

(५) अशुभश्रुति :- राग, द्वेष आदि के उद्रेक से दुष्ट कथाओं को सुनना, शिक्षा देना, फैलाना आदि अशुभ श्रुति है।

इन पांचों अनर्थदण्डो का त्याग अवश्य करना चाहिये। इसे अनर्थदण्ड विरति कहते है।

अनर्थदण्डव्रत के पाँच अतिचारों का वर्णन :-

अनर्थदण्डविरमणव्रतस्य पञ्चातिचारा भवन्ति। कन्दर्पः। कौत्कुच्यंमौखर्यं, असमीक्ष्याधिकरणं, उपभोगपरिभोगनर्थक्यमिति।

चारित्रमोहोदयापादितात्रागोद्रेकाद्यो हास्यसंयुक्तोऽशिष्टवाक्प्रयोगः सःकंदर्प्पः । रागस्य समावेशाद्धास्य (हास्य) वचनमविशिष्टवचन-मित्येतदुभयं परस्मिनदुष्टेन कायकर्मणा युक्तं कौत्कुच्यं । अशालीनतया यत्किंचना नर्थकं बहुप्रलपनंतत्मौखर्यं । असमीक्ष्याधिकरणं त्रिविधं मनोवाक्काय विषय भेदात् तत्र मानसं परानर्थककाव्यादि-चिंतनं । वाग्गतं निः प्रयोजनकथाव्याख्यानं परपीड़ाप्रधानं यत्किंचन वक्तृत्वं च । कायिकं प्रयोजनमन्तरेण गच्छंस्तिष्ठन्नासीनो वा सचित्ताचित्तपत्र पुष्पफलछेदनभेदनकुट्टनक्षेपणादीनि कुर्यात् । अग्नि-विषक्षारादिप्रदानं चारभेत । इत्येवमादि तदेतत्सर्वमसमीक्ष्या-धिकरणं । यस्यथावदर्थेनोपभोगपरिभोगोपरिकल्पितौ तस्य तावाने र्थार्थं इत्युच्यते । ततोऽन्यस्याधिक्यमानर्थक्यं तदुभोगपरिभोगान-र्थक्यमिति ।

अर्थ :– इस अनर्थदण्डव्रत के पाँच अतिचार होते है । (१) कन्दर्प (२) कौत्कुच्य (३) मौखर्य (४) असमीक्ष्याधिकरण और (५) उपभोगपरिभोगन-र्थक ये पाँच अतिचार है ।

(१) कन्दर्पातिचार :– चारित्रमोहनीय के उदय से जो राग का उद्रेक होता है उससे हँसी (हास्य से) मिले हुए अशिष्टवचनों के कहने को कन्दर्प कहते है।

(२) कौत्कुच्यातिचार :– राग की तीव्रता के कारण दूसरे के लिये शरीर की दुष्ट क्रिया सहित (शरीर के खोटे विकारों सहित) हँसी के मिले हुए वचन तथा साधारण वचन इन दोनों का कहना कौत्कुच्य है ।

(३) मौखर्यातिचार :– सभ्यता के बाहर जो कुछ अनर्थक और बहुतसा बकवाद करना है वह मौखर्य कहलाता है ।

(४) असमीक्ष्याधिकरणातिचार :– इसके तीन भेद है । मन के द्वारा किया हुवा, वचन के द्वारा किया हुवा और शरीर के द्वारा किया हुवा इस प्रकार से असमी-क्ष्याधिकरण तीन प्रकार का है ।

- दूसरे का अनर्थ करने वाले काव्य आदिको का चिन्तवन करना, मन के द्वारा किया हुवा असमीक्ष्याधिकरण है ।

विना ही प्रयोजन के दूसरे को पीड़ा देने की प्रधानता रखने वाले

कथाओं का व्याख्यान करना अथवा दूसरों को पीड़ा देने की प्रधानता रखने वाले व्याख्यान देना, वचन के द्वारा किया हुवा असमीक्ष्याधिकरण है।

विना ही प्रयोजन के चलते हुए खड़े होकर अथवा बैठकर सचित्त व अचित्त पत्ते फूल आदि को छेदना, भेदना, कूटना, फेंकना तथा अग्नि विष, क्षार आदि का देना एवम् और भी ऐसी हो क्रियाओं को विना प्रयोजन करना शरीर कृत असमीक्ष्याधिकरण है।

(५) उपभोगपरिभोगानर्थक्यातिचार :– जिसका जितने धन से व जितनी चीजों से उपभोगपरिभोग हो सकता है वह तो उसका अर्थ कहलाता है।

आवश्यकता से अधिक संग्रह करना अनर्थक कहलाता है। इस प्रकार प्रयोजन से अधिक सामग्रियों का इकट्ठा करना उपभोग परिभोगानर्थक्यातिचार अनर्थदण्डनामक गुणव्रत के उपर्युक्त पांच अतिचार (दोष) है।

शिक्षाव्रत के चार भेदों का वर्णन :–

नाम (१) सामायिक (२) प्रोषधोपवास (३) भोगोपभोगपरिमाण और (४) अतिथिसंविभाग ये चार शिक्षाव्रत हैं।

(१) सामायिक शिक्षाव्रत :–

सम्यक्एकत्वेन अयनं गमनं समयः स्वविषयेभ्योविनिवृत्य कायवाङ्मनः कर्मणामात्मना सहवर्तनाद्रव्यार्थेन आत्मन एकत्वगमनमित्यर्थः। समय एव सामायिकं। समयः प्रयोजनमस्येति वा सामायिकं। तच्च नियतकाले नियतदेशे च भवति। निर्व्याक्षेपमेकांतं भवनं वनं चैत्यालयादिकं च देशंमर्यादीकृत्य केशबन्धं मुष्टिबंधं वस्त्रबंधं पर्यंकमकुरमुखाद्यासनं स्थानं च कालमवधिकृत्वा शीतोष्णादि परीषहविजयी उपसर्ग सहिष्णुर्मौनी हिंसादिभ्यो विषयकषायेभ्यश्च विनिवृत्य सामायिके वर्तमानो महाव्रती भवति। हिंसादिषु सर्वेषु अनासक्तचित्तोऽभ्यंतर प्रत्याख्यानसंयमघातिकर्मोदयजनित मंदाविरतिपरिणामे सत्यपि महाव्रतमित्युपचर्यते। एवं च कृत्वा अभव्यस्यापि निर्ग्रन्थलिङ्गधारिणएकादशाङ्गाध्यायिनो महाव्रतपरिपालनादसंयमभावस्याप्युपरिम ग्रैवेयकविमान वासितोपपन्ना भवति। एवमभव्योऽपि निर्ग्रंथ रूपधारी सामायिकवशादहमिन्द्र-

स्यान् वासी भवति चेत्कि पुनः सम्यग्दर्शनपूतात्मा सामायिकमापन्नः इति ।

अर्थ :- अच्छी तरह प्राप्त होना अर्थात् एकान्तरूप से आत्मा में तल्लीन हो जाना समय है। मन, वचन, काय की क्रियाओं का अपने अपने विषय से हट कर आत्मा के साथ तल्लीन होने में द्रव्य तथा अर्थ दोनों से आत्मा के साथ एक रुप हो जाना ही समय का अभिप्राय है। समय को ही सामायिक कहते हैं अथवा समय ही जिसका प्रयोजन हो उसको सामायिक कहते हैं। वह सामायिक नियम देश और नियत समय में ही किया जाता है। जिसमें कोई उपद्रव न हो और एकान्त हो ऐसे मकान वन तथा चैत्यालय आदि सामायिक के लिये योग्य देश हो, ऐसे किसी देश में केशों का बांधना, मुष्टिका बाधना, वस्त्रों का बांधना, पर्यंक आसन (पद्मासन) मकर मुखासन आदि अनेक आसनों मे से किसी एक आसन से बैठना इन सब की तथा उस स्थान की मर्यादा नियत कर सामायिक करना चाहिये। समय की मर्यादा बांधकर भी सामायिक करना चाहिये और उतने समय तक शीत, उष्ण आदि का परीषह यदि आजाय तो उन्हें जीतना चाहिये। उस समय उपसर्गों को भी सहन करना चाहिये, मौन धारण करना चाहिये। इस तरह सामयिक करने वाला गृहस्थ महाव्रती रुपमें सामयिक तक के समय में गिना जाता है। यद्यपि उस समय उस सामायिक करने वाले का चित्त हिंसादि समस्त पापों में से किसी भी पाप में आसक्त नहीं रहता तथापि संयम को घात करने वाले अन्तरंग कारण प्रत्याख्यानावरण कर्म के उदय होने से मंद मंद अविरति रुप (त्याग न करने रूप) परिमाण होते हैं। अतः उसे उपचार से महाव्रत कहते हैं। इस प्रकार सामायिक करने वाला यदि अभव्य भी हो और वह निर्ग्रंथरुप धारण कर ग्यारह अङ्ग का पाठी हो तो वास्तव में असंयम भाव धारण करने पर भी बाह्य महाव्रतों के पालन करने से वह उपरिम ग्रैवयक के विमानों में अहमिन्द्र उत्पन्न हो सकता है। इसी तरह भव्य जीव भी बाह्य निर्ग्रंथ लिङ्ग धारण कर केवल सामायिक धारण करने से अहमिन्द्रों के स्थान में जाकर उत्पन्न हो जाता है, यदि वही भव्य जीव सम्यग्दर्शन से अपने आत्मा को पवित्र करले और फिर सामायिक धारण करे तो फिर उसका क्या बात है! अर्थात् :- वह तो मुक्त होना ही है।

सामायिक व्रत के अतिचारों का वर्णन :-

समायिक व्रतस्यसर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानस्य पञ्चातिचारा भवन्ति। कायदुःप्रणिधानं, वाग्दुःप्रणिधानं, मनोदुःप्रणिधानं अनादरः स्मृत्यनुपस्थापनं चेति। तत्र दुष्टं प्रणिधानं, दुःप्रणिधानं, अन्यथा वा प्रणिधानं दुःप्रणिधानं। क्रोधादि परिणामवशात् दुष्टं प्रणिधानं भवति। शरीरावयवानामनिभृतावस्थानं कायदुःप्रणिधानं। वर्णसंस्कारेभावार्थे चागमकत्यंचापलादिवाग् दुःप्रणिधानं। मनसोऽनर्पितत्वं मनोदुःप्रणिधानंः इति कर्त्तव्यतांप्रत्यसाकल्यायथयाकथंचित्प्रवृत्तिरनुत्साहोऽनादरः। अनेकाग्रामसमाहितमनस्कता स्मृत्यनुपस्थापनं अथवा रात्रिदिवंप्रामादिकस्यसंचित्यानुपस्थापनं स्मृत्यनुपस्थापनं । मनोदुःप्रणिधानस्मृत्यनुपस्थापनयोरयंभेदः, क्रोधाद्यावेशात्सामायिकौदासीन्येन वा चिरकालमवस्थापनं मनसोमनोदुःप्रणिधानम्। चिन्तायाः परिस्पंदनादैकाग्रेणानवस्थापनं स्मृत्यनुपस्थापमिति विस्पष्टमन्यत्वम्।

अर्थ :— समस्त पापरूप योगों का त्याग करना ही सामायिक है ऐसी इस सामयिक के कायदुःप्रणिधान, वाग्दुःप्रणिधान, मनोदुःप्रणिधान, अनादर और स्मृत्यनुपस्थापन ये पाँच अतिचार सामायिक शिक्षाव्रत के है।

(१) कायदुःप्रणिधानातिचार :— दुष्ट प्रणिधान अथवा दुष्ट प्रवृत्ति को दुःप्रणिधान कहते है या अन्यथा रूप प्रवृत्ति करना भी दुःप्रणिधान है। क्रोधादि कषाय रूप परिणामों के निमित्त से दुष्टप्रवृत्ति वा दुःप्रणिधान होता है। हाथ आदि शरीर के अवयवों को निश्चल न रखना कायदु प्रणिधान है।

(२) वाग्दुःप्रणिधानातिचार :— अक्षरो के उच्चारण में अथवा भाव व में प्रमाणता न होना, उच्चारण मे व अर्थ में चपलता का होना वाग्दुःप्रणिधान

(३) मनोदुःप्रणिधानातिचार :— सामायिक में मन न लगाना मनोदुःप्रणिधान

(४) अनादरातिचार :— सामायिक मे करने योग्य कर्त्तव्य कर्मों को पूर्ण करना उनको जिस तिस तरह (यद्वा तद्वा) पूर्ण करना अथवा सामायिक सामायिक की क्रिया के करने का उत्साह न रखना अनादर है।

(५) स्मृत्यनुपस्थापनातिचार :— चित्त को एकाग्रह न रखना अथवा चित्त समाधानता न रखना स्मृत्यनुपस्थापन हैं; अत्यन्त प्रमादी होने के क

रातदिन चिन्तवन करते हुए भी स्मरण न रहना स्मृत्यनुपस्थापन नामका सामायिक शिक्षाव्रत का अतिचार है।

मनोदुःप्रणिधान और स्मृत्यनुपस्थापन इन दोनों मे यह भेद है कि क्रोधादिकषायों के आवेश से अथवा सामायिक में उदासीनता रखने के कारण बहुत थोड़ी देर तक सामायिक में चित्त लगाना मनोदुःप्राणिधान हैं और चिन्तवन के परिस्पंदन होने से अर्थात् वदल जाने से चित्त को एकाग्र न रखना, स्थिर न रखना स्मृत्यनुपस्थापन है। इस प्रकार से दोनो अतिचारों की भिन्नता स्पष्ट है।

(२) प्रोषधोपवास कालक्षण :-

प्रोषधः पर्व पर्यायवाची, शब्दादिग्रहणं प्रति निवृत्तौत्सुक्यानि पञ्चापीन्द्रियाणि उपेत्यतस्मिन्वसन्तीत्युपवासः। उक्तं च-

"उपेत्याक्षाणि सर्वाणि निवृत्यानि स्वकार्यतः।
वसन्ति यत्र स प्राज्ञैरुपवासोभिधीयते ॥"

पर्वणि चतुर्विधाहारनिवृत्तिः प्रोषधोपवासः, निरारम्भः श्रावकः स्वशरीरसंस्कार कारण स्नानगंधमाल्याभरणादिभिर्विरहितः शुच्यावकाशेसाधुनिवासेचैत्यालयस्वप्रोषधोपवासगृहेवा धर्मकथा श्रवण श्रावण चिंतनावहितांतःकरणसन्नुप वसेत्। प्रोषधोपवासस्य पञ्चातिचार भवन्ति। अप्रत्यवेक्षिता प्रमार्जितोत्सर्गः, अप्रत्यवेक्षिता प्रमार्जितादानं अप्रत्यवेक्षिता प्रमार्जितसंस्तरोपक्रमणं, अनादरः स्मृत्यनुपस्थापनं चेति। तत्र जंतवः सन्ति न सन्ति वेति प्रत्यवेक्षणं, चक्षुषोर्व्यापारोमृदुनोपकरणेन यत् क्रियते प्रयोजनं तत् प्रमार्जनं, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितायां भुवि मूत्रपुरीषोत्सर्गः, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गः। अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितस्यार्हदाचार्यादिपूजोपकरणस्यगंधमाल्यधूपादेरात्मपरिधानाद्यर्थस्य वस्त्रपात्रादेश्चादानमप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादानम्। अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितस्यप्रावरणादेः संस्तरणस्योपक्रमणप्रत्यवेक्षिता प्रमार्जितसंस्तरोपक्रमणं। क्षुत्पीड़ितत्वादावश्यकेष्वनुत्साहोदनादरः स्मृत्यनुपस्थापनं व्याख्यातमेव।

अर्थ :– प्रोषध शब्द का अर्थ पर्व है। कान आदि पाँचों इन्द्रियों को
शब्द आदि विषयों की ग्रहण करने की उत्सुकता छोड़कर आत्मा में अ
निवास करने को उपवास कहते हैं। लिखाभी हैं।

उपेत्याक्षाणीत्यादि अर्थात् समस्त इन्द्रियां अपने अपने कार्यों से वि
होकर आत्मा में आकर निवास करें उसे विद्वान् लोग उपवास कहते हैं।

पर्व के दिन चारों प्रकार के आहार का त्याग करना प्रोषधोपवास
उस दिन श्रावक को सब तरह के आरम्भ छोड़ देना चाहिये। अपने शरी
संस्कार करने वाले शोभा बढाने वाले स्नान, गंध माला और आभरण
को का त्याग कर देना चाहिये तथा किसी पवित्र जगह में साधुओं के वि
स्थान में, चैत्यालय में अथवा अपने खास प्रोषधोपवास के घर में रहकर
अन्तः करण में धर्मकथाओं को सुनते और चिन्तवन करते रहना चाहिये।

प्रोषधोपवास के पांच अतिचार :–

(१) अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग (२) अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान
अप्रत्यवेक्षिता प्रमार्जित संस्तरोपक्रमण (४) अनादर और (५) स्मृत्यनुप
ये पांच अतिचार प्रोषधोपवास के है।

(१) अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग :– यहां पर जीव है या नहीं
प्रकार आंख से देखने को प्रत्यवेक्षण कहते है। किसी भी कोमल उपक
जीवों को बचाने को प्रमार्जन कहते हैं। किसी भी कोमल उपकरण से
की हुई जमीन पर मूत्र पुरीष करना, शौच व टट्टी जाना तथा बिना देखे
बिना शोधे पुस्तक, चौकी व पूजा के उपकरण आदि और शरीर के व
प्रमाद वश भूमि आदि पर रखना। यह प्रथम अतिचार है।

(२) अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान – अरहन्त व आचार्य आदि परमेष्ठि
पूजा के जो बर्तन आदि उपकरण है अथवा गंध, माला, धूप आदि पू
सामग्री है अथवा अपने पहिनने के कपड़े व बर्तन आदि हैं उन सबको
प्रमार्जन (शोधे) ग्रहण करना यह दूसरा अतिचार है।

(३) अप्रत्यवेक्षिता प्रमार्जित संस्तरोपक्रमण :– बिना देखे बिना
बिना शोधे के वस्त्रों को रखना व बिछाना (प्रषधोपवास के दिन चटा
बिछाना) यह तीसरा अतिचार है।

(४) अनादर :– भूख की अधिक बाधा होने अथवा और किसी कारण
पूजा आदि आवश्यक कर्मों में उत्साह न रखना यह चौथा अतिचार है।

(५) स्मृत्यनुपस्थापन :— प्रोषधोपवास में करने योग्य क्रियाओं को भूल जाना। जैसे—जो नित्य स्वाध्याय जाप, पाठ आदि करता था उसको करने की याद न रहना, प्रमाद व आलस्य में ऐसे बेखबर हो जाना कि करने योग्य धर्म कार्य की सम्हाल न रखनी तथा अष्टमी व चौदस तिथि का खयाल न रखना यह पाँचवा अतिचार है।

विशेष :— प्रोषधव्रती व्रत प्रतिमा में शिक्षारूप तथा प्रोषधोपवास प्रतिमा में नियम रूप से इन अतिचारों को बचावे।

व्रत प्रतिमा वाले के यदि अतिचार लगे तो उस श्रेणी की अपेक्षा अयोग्य न होगा किन्तु प्रतिमारूप पालने वाला अतिचारों को अवश्य बचावे, यदि कदाचित् प्रमादवश कोई दोष लग जावे तो उसका प्रायश्चित लेवे अर्थात् प्रतिक्रमण करे। व्रती श्रावक कोमल रूमाल व सूत के कोमल धागों की बनी हुई पिच्छिका से स्थान को देखते हुए झाड देवे और फिर किसी चेतन व अचेतन पदार्थ को रखे।

प्रोषधोपवास की विधि :— "सप्तमी त्रयोदश्यां च दिवसे मध्याह्ने भुक्त्वा उत्कृष्टप्रोषधव्रती चैत्यालयं गत्वा प्रोषधं गृह्णाति, मध्यमप्रोषधव्रती तत् संध्यायां प्रोषधं गृह्णाति, जघन्यप्रोषधव्रती अष्टमीचतुर्दशीप्रभाते प्रोषधं गृह्णाति, प्रोषधे आरम्भं गृह हट्ट व्यापार क्रय, विक्रय, कृषि, मसि, वाणिज्यादि उत्थं आरम्भं न करोति। प्रोषधप्रतिमाधारी अष्टम्यां चतुर्दश्यां च प्रोषधोपवासम् अङ्गीकरोति। व्रतं तु प्रोषधोपवासस्य नियमो नास्ति।"

[स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा० ३७३]

भावार्थ :— प्रोषधव्रती तीन प्रकार से प्रोषधोपवास करे। उत्कृष्ट तो सप्तमी या त्रयोदशी को मध्याह्न में भोजन करके चैत्यालय में जाकर प्रोषध धारण करे। मध्यम प्रोषधव्रती सप्तमी या तेरस की सन्ध्या को प्रोषध ग्रहण करे तथा जघन्य अष्टमी या चौदस के प्रभातकाल प्रोषध लेवे अर्थात् इस प्रकार १६ (सोलह) पहर, १२ (बारह) पहर एवं ८ (आठ) पहर ऐसे ३ (तीन) प्रकार का प्रोषधोपवास हुआ। आठ पहर का प्रोषधोपवास भी शिथिल शक्ति की अपेक्षा कहा करना है, परन्तु सामर्थ्य शक्ति को नहीं छिपाना है। इससे प्रोषध नहीं बन सकता, क्योंकि प्रोषध के प्रारम्भ पर घर व व्यापार का त्याग देना, किन्तु

लेखन, वाणिज्य आदि सब प्रारम्भ नहीं करना होता है, केवल धर्म-कार्यों में ही प्रवर्तन करना होता है।

प्रोषध प्रतिमाधारी तो अष्टमी व चतुर्दशी को प्रोषधोपवास अवश्य करे, परन्तु व्रत प्रतिमा के प्रोषधोपवास का नियम नहीं है, यही अन्तर है। व्रत प्रतिमा के यह व्रत शिक्षा रूप है। जैसे-कोई उम्मीदवार किसी कार्यालय में प्रतिदिन जाता है, काम करता है, परन्तु जब तक वह वेतन पाने वाला नोकर नही हुवा है तो उसके लिये यह खास पाबन्दी नही कि वह कार्यालय में जावे ही जावे। किसी दिन कारणवश नहीं भी जावे व देर हो जावे तथा जाकर काम करे यह उसके लिये कोई आवश्यक नहीं है यह उसकी मन की इच्छा पर निर्भर है। उसके लिये यह भी पाबन्दी नही है कि इतना काम करना ही पडेगा। इस ही तरह व्रत प्रतिमा वाला हर अष्टमी व चौदस को अपनी शक्ति के अनुसार तीन प्रकार में से किसी भेद रूप उपवास करे, परन्तु यदि कोई विशेष कारण आजाय तो कभी नहीं भी करे। जिस विधि व जितने समय के लिये कहा है उस विधि व समय में कभी भी करे। जैसे-व्रती संध्या को कुरला करके अष्टमी के दिन एक बार लघु भोजन तक करे तो कोई हर्ज नहीं होगा, अष्टमी का दिन धर्मध्यान में बितावे, परन्तु कोई विशेष घर का व व्यापार का अत्यन्त जरूरी आरंभ आजावे तो कर भी लेवे, इसके पूरा २ नियम नहीं है। जहां तक बने वहां तक आप परिणामों को चढाने का ही उद्यम रखे, ढीला न होने दे।

प्रोषध शब्दः पर्व पर्यायवाची। शब्दादि ग्रहणं प्रति निवृत्तौ-त्सुक्यानि पञ्चापीद्रियाण्युपेत्य तस्मिन् वसन्तीत्युपवासः। चतुर्विधाऽहार परित्यागः इत्यर्थः। प्रोषधे उपवासः प्रोषधोपवासः। स्वशरीर संस्कारकारणस्नानगन्धमाल्याभरणादि विरहितः शुभावकाशे साधु निवासे, चैत्यालये, स्वप्रोषधोपवासगृहे वा धर्म कथा श्रवण श्रावण चिन्तवा वहितान्तरङ्गः सन्नुपवसेत् निरारम्भश्श्रावकः।

[सर्वार्थ सिद्धि ४२ अ० ७] श्री पूज्य पादस्वामी

अर्थ:— प्रोषध का अर्थ पर्व का है। शब्द आदि विषयों के लेने में इन्द्रियों की रुचि रहित होकर जिसमें आकर बस जाय यानी ठहर जावे सो उपवास है अर्थात् पांचों इन्द्रियों के विषयों को त्याग कर निर्विषय अतीन्द्रिय आनन्द की

रुचि में प्रयत्नशील हो जितेन्द्रिय रहना सो उपवास है अर्थात् खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेह्य चारों प्रकार के आहार का त्याग करना। प्रोषध यानी पर्व में उपवास (अष्टमी चतुर्दशी को) करना सो प्रोषधोपवास है। अपने शरीर को शृङ्गार करने के लिये स्नान, पान, गंध, माला, आभरणादि धारण न करे। शुभ स्थान जैसे साधुओं के निवास, चैत्यालय या अपने घर में नियत प्रोषधोपवास वाले कमरे में धर्म कथा के विचार में अपने मन को लगाये हुए बैठे तथा आरम्भ व्यापारादि न करे।

(३) भोगोपभोग परिमाण शिक्षाव्रत :–

उपेत्यात्मसात्कृत्य भुज्यत इत्युपभोगः, अनशनपानगंधमाल्यादि सकृद् भुक्त्वापरित्यज्यपुनरपिभुज्यत इति परिभोगः। आच्छादन प्रावरणालंकारशयनासनगृहयानवाहनादिः तयोः परिमाणमुपभोग परिभोगपरिमाणं, भोगपरिसंख्यानं पञ्चविधं त्रसघातप्रमादबहु-वधानिष्ठानुसेव्यविषयभेदात्। तत्र मधुमांसं सदा परिहर्तव्यं त्रस-घातंप्रतिनिवृत्तचेतसा, मद्यमुपसेव्यमानं कार्याकार्यविवेकसंमोहकर-मिति तद्वर्जनं प्रमाद विरहायकेतकमर्जुनपुष्पादीनि बहुजंतुयोनिस्था-नानि। आर्द्रश्रृङ्गवेरमूलकहरिद्रानिंब कुसुमादीन्यनंतकाय व्यपदेशा-र्हाणि। एतेषामुपसेवनेनबहुघातोल्पफलमितितत्परिहारः श्रेयान्। यान वाहनाभरणादिष्वेतावदेवेष्टमतोन्यदनिष्टमित्यनिष्टान्निवर्तनं कर्तव्यं। नहि यतमभिसन्धि नियमाभावेसतिइष्टानामपि चित्र वस्त्र विकृतवेषाभरणादीनामनुपसेव्यानां परित्यागः कार्योयावज्जीवं यद न शक्तिः काल परिच्छेदेनवस्तुपरिमाणेन च शक्त्यनु रूपं निवर्तनं कार्यं।

अर्थ — जो अपने पास आकर भोगा जाय उसको उपभोग कहते हैं। जैसे— भोजन व पीने की चीजें, गंध, माला आदि यह उपभोग है। एक बार भोग करके भी फिर दुबारा जिसको उपभोग किया जावे उसे परिभोग कहते हैं। ओढने, बिछाने, पहिनने के कपड़े आभूषण, शैय्या, आसन, घर, रथ, पालकी आदि सवारी और घोड़े हाथी आदि सवारी के साधन ये सब परिभोग हैं। इन उपभोग परिभोग दोनों का परिमाण करना उपभोगपरिभोगपरिमाण

गो का त्याग त्रसघात (जिसमे त्रस जीवों का घात हो) प्र
. . प्रमाद व वेहोशी हो) वहुवध (जिसमें वहुत से स्थावर जीवों का घ
हो अनिष्ट जो इष्ट न हो) अनुपसेव्य (जो सेवन करने योग्य न हो) इन
विपय भेद से पाच भेद किये जाते है । जिसके हृदय में त्रस जीवों को हिंसा का
त्याग है उसे मधु (शहद) और मास सदा के लिये छोड़ देना चाहिये । मद्य
(शराव का) सेवन करने वाला मोहित व वेहोश हो जाता है, उसे कार्य अकार्य
का कुछ भी ज्ञान नही रहता । इसलिये प्रमाद दूर करने के लिये मद्य का त्याग
करना आवश्यक है । केतकी का फूल, अर्जुन वृक्ष के फूल तथा और भी ऐसे
फूलो मे अनेक छोटे-छोटे जीव पैदा होते रहते हैं । वे फूल छोटे-छोटे जीवो के
पैदा होने के स्थान है, गीला अदरख, गीली मूली, गीली हल्दी, गीले नीम के
फूल आदि चीजों में अनन्त कायिक जीव रहते है इन सब चीजों के सेवन करने
से फल तो बहुत थोड़ा होता है और घात वहुत से जीवों का होता है, इसलिये
इनका त्याग कर देना ही कल्याणकारी है । रथ, पालकी आदि सवारी की
चीजें हाथी घोड़े आदि सवारी के जानवर तथा आभूपण आदि चीजों में से मुझे
इतना इतना रखना ही अभीष्ट है इतने के सिवाय सब अनिष्ट हैं यही समझ
कर अनिष्ट का त्याग अवश्य कर देना चाहिये । जब तक प्रतिज्ञा पूर्वक नियम
न लिया जावे तब तक व्रत कभी नही कहलाया जा सकता, इसलिये जो पदार्थ
इष्ट हैं अर्थात् अपने नियत किये हुए परिमाण में आगये है उनमें भी अनेक रंग
के वस्त्र चित्र विचित्र पोशाक और चित्र विचित्र आभरण आदि जो सेवन करने
के अयोग्य हैं उनका त्याग भी जीवन पर्यन्त तक के लिये कर देना चाहिये ।
यदि जन्म भर के त्याग करने की शक्ति न हो अथवा अधिक पदार्थों के त्याग
करने की शक्ति न हो तो काल का परिमाण नियत कर तथा उन पदार्थों का
परिमाण नियत कर अपनी शक्ति के अनुसार त्याग कर देना चाहिये ।

उपभोग परिभोग परिमाण व्रत के पांच अतिचारों का वर्णन :—

उपभोगपरिभोगपरिमाणस्यातिचाराः पञ्च भवन्ति । सचित्ता-
हारः सचित्तसंबन्धाहारः सचित्तसन्मिश्राहारः, अभिषवाहारः दुःपक्वा-
हारश्चेति । तत्र चेतनावद् द्रव्यं सचित्तंहरितकायः तदभ्यवहरणं
सचित्ताहारः सचित्तोपश्लिष्टः सचित्तसंबन्धाहारः सचित्तेनव्यति-
कीर्णं सचित्तसन्मिश्राहारः सौवीरादिद्रवोवावृष्यं वा अभिष...

शान्तस्तंदुलभावेनातिक्लेदनेन वा दुष्टः पक्वो दुःपक्वाहारः। संबंध-मिश्रयोरयंभेदः संसर्गमात्रं सम्बन्धः सूक्ष्म जंतुव्याकीर्णत्वाद्विभागी-कर्तुमशक्यः सन्मिश्रः। एतेषामभ्यवहरणे सचित्तोपयोगः इन्द्रियमद-वृद्धिवार्तादिप्रकोपो वा स्यात्। तत्प्रतीकार विषयेपापलेपो भवति। अतिथयश्चैनं परिहरेयुरिति।

अर्थ :– इस उपभोग परिभोग परिमाण शिक्षाव्रत के पांच अतिचार होते हैं। (१) सचित्ताहार (२) सचित्तसंबंधाहार (३) सचित्त सन्मिश्राहार (४) अभिपावाहार और (५) दुःपक्वाहार ये पाच अतिचार है।

(१) सचित्ताहारातिचार :– जिसमे चेतना हो ऐसे हरितकाय वनस्पति आदि द्रव्यों को सचित्त कहते हैं ऐसे द्रव्यो का भोजन करना सचिताहार कहलाता है।

(२) सचित्तसंबंधहारातिचार :– जिस भोजन का सचित्त वाले द्रव्य के साथ संबंध व संसर्ग हो गया हो उसे सचित्त सम्वन्धाहार कहते है।

(३) सचित्तसन्मिश्राहारातिचार :– जिस भोजन में सचित्त द्रव्य मिल गया हो उसे सचित्तसन्मिश्राहार कहते है।

(४) अभिपवाहारातिचार :– जो सोवीर (सोमरस) आसव आदि पतले व पौष्टिक पदार्थ हैं उन्हे अभिपवाहार कहते हैं।

(५) दुःपक्वाहारातिचार :– पक कर भी चांवल ही ऐसे बने रहने से अथवा अधिक पक कर गल जाने से जिनका पाक दुष्ट पाक अर्थात् जिस भोजन का पाक ठीक न बना हो (अधिक पक गया हो या थोडा पका हो) उसे दुःपक्वाहार कहते हैं।

सचित्त संबंध और सचित्त सन्मिश्र इन दोनो मे यह भेद है कि जिसके साथ केवल सचित्त का सम्बन्ध हुवा हो वह तो सचित्त सम्बन्ध है और जिसमें सूक्ष्म जन्तु इस प्रकार मिल गये हों कि जिन्हे कभी अलग नही कर सकते है ऐसे भोजन को सचित्तसन्मिश्र कहते हैं। इन उपर्युक्त सब प्रकार के भोजन करने से अपना उपयोग सचित्त रूप होता है। इन्द्रियों का मद बढता है और वायु आदि दोषों का प्रकोप होता है तथा उनके प्रतीकार करने में भी (उन रोगों का इलाज करने में भी) पाप का लेप होता है अर्थात् पाप बढता है और अतिथि व साधु लोग भी इन चीजो को छोड देते हैं। इसलिये ये सब उपभोगपरिभोगपरिमाण के अतिचार हैं।

(४) अतिथि संविभाग व्रत का लक्षण :–

संयममविनाशयन्नततीत्यतिथिः अथवानास्यतिथिरस्तीत्यतिथिर-नियत कालगमनमित्यर्थः । अतिथयेसंविभागोऽतिथिसंविभागः, स चतुर्विधः भिक्षोपकरणौषधप्रतिश्रयभेदात् । उक्तं च-

प्रतिग्रहोच्चस्थाने च पादप्रक्षालनमर्चनम् ।
प्रमाणोयोगशुद्धिश्च भिक्षा शुद्धिश्चते नव ॥

उक्तं च:- श्रद्धा शक्तिरलुब्धत्वं भक्तिर्ज्ञानं दया क्षमा ।
इति श्रद्धादयः सप्तगुणाः स्युर्गृहमेधिनाम् ॥

एवं विधनवविधपुण्यैः प्रतिपत्ति कुशलेन सप्तगुणैः समन्वितेन-मोक्षमार्गमभ्युद्युताय अतिथये संयमपरायणायशुद्ध चेतसा आश्चर्य-पंचकादिकमनिच्छतानिरवद्याभिक्षादेया । धर्मोपकरणानिच सम्यग्द-र्शनज्ञानचारित्रोपबृंहणानिदातव्यानि । औषध ग्लानाय वातपित्त-श्लेष्म प्रकोपहताय योग्यमुपयोजनीयं प्रतिश्रयश्चा परमधर्मश्रद्धय' प्रतिपादयितव्यं इति ।

अर्थ :– जो सयम का नाश न करते हुए विहार करें उन्हे अतिथि कहते हैं अथवा जिनकी तिथि नियत न हो अर्थात् अनियमित समय में गमन करते हो उन्हे अतिथि कहते है (मुनियो की भिक्षा में उत्सव पर्व आदि कोई भी बाधक नही होते इसीलिये उनकी भिक्षा के लिये कोई तिथि नियत नहीं रहती वे भिक्षा के लिये कब आवेंगे ऐसा किसी को भी मालूम नही रहता) ऐसे अतिथि के लिये दान देना अतिथिसंविभागव्रत कहलाता है। यह दान आहारदान उपकरण, औषध, प्रतिश्रय (वसतिका) के भेद से चार प्रकार का है। अन्य शास्त्रों मे लिखा है–प्रतिग्रहोच्चस्थानेत्यादि ।

अर्थात्– प्रतिग्रह, उच्चस्थान, पादप्रक्षालन, पूजन, प्रणाम, मनको शुद्ध रखना, वचन को शुद्ध रखना, काय को शुद्ध रखना और आहार देना ये नौ प्रकार की भक्ति व विधि कहलाती है। इसी तरह-श्रद्धाशक्तिरलुब्धत्वमित्यादि।

श्रद्धा, शक्ति, लोभ न करना, भक्ति, ज्ञान, दया और क्षमा ये श्रद्धा आदि सात दान देने वाले गृहस्थों के गुण हैं।

इस प्रकार नवतरह की भक्ति यानी नौ तरह के पुण्य अथवा विधि के

पालन करने में जी अत्यन्त कुशल है और श्रद्धा आदि सातों गुण जिसमें मौजूद हैं ऐसे गृहस्थ को जो मोक्षमार्ग के धारण करने में सदा तत्पर है और संयम पालन करने मे सदा तल्लीन हैं ऐसे अतिथि साधु के लिये शुद्ध चित्त से पंचाश्चर्य आदि किसी की भी इच्छा न रख कर निर्दोष आहार देना चाहिये । इसी तरह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की वृद्धि करने वाले धर्मोपकरण (पीछी शास्त्र कमण्डलु आदि) देने चाहियें जो साधु वात, पित्त कफ आदि के प्रकोप से पीडित है ऐसे रोगी मुनि के लिये औषधि देना चाहिये तथा परमधर्म की श्रद्धा पूर्वक वसतिका बनवा देनी चाहिये ।

भावार्थ :– "अतिथये संविभागः" अर्थात् अतिथि को अपने ही उद्देशित (स्वयं के वास्ते बनाये हुए) शुद्ध आहार में से विभाग करके देना सो अतिथि-संविभाग है । इस ही का दूसरा नाम आहारदान (दान) भी है –

"अनुगृहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानं" *(त० सू० क० उमास्वामी)*

भावार्थ :– अपने और पर के उपकार के अर्थ द्रव्य का जो त्याग करना सो दान है । दान देने से अपना भला तो यह होता है कि लोभादि कषायों की मन्दता से पुण्य बन्ध होता है तथा परोपकार इस अपेक्षा होता है कि साधुगण अपने शरीर की रक्षा कर मोक्षमार्ग में सुख से गमन कर सकते हैं अथवा क्लेशित जीवों का दुःख दूर होकर उनके द्रव्य प्राणों की रक्षा होती है । इस दान के लिये निम्नांकित चार कार्यों (बातों) का विशेष रूप से ध्यान रखा जावे ।

"विधिद्रव्यदातृपात्र विशेषात्तद्विशेषः"– *(उमास्वामी)*

विधि, द्रव्य, दाता और पात्र इन चार बातों को समझना चाहिये । इन चारों की जिस प्रकार (कदर) उत्तमता होगी उसही कदर फल अधिक ही होगा । दान देने के लिये नव (९) प्रकार की विधि है जो कि देने वाले के आधीन है ।

"संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामं च ।
वाक्कायमनः शुद्धिरेषण शुद्धिश्च विधिमाहुः ॥१६८॥ [पु० सि०]

भावार्थ :– संग्रह (विधि)–प्रथम श्री मुनिराज को पडगाहना यानी शुद्ध वस्त्र पहिने हुए और प्रासुक शुद्ध जल का कलश लिये हुए अपने द्वार पर णमोकार-मंत्र जपता हुवा पात्र की राह मे खड़ा रहे ।

उस समय घर में रसोई तैयार हो यानी रसोई किये जाने का (बने का) किसी भी प्रकार का आरम्भ घर में न होता हो—जैसे-पानी से अन्न धोया जाना, ऊखली में कूटा जाना, आग का जलाना या आग का जलता रहना व अग्नि पर किसी चीज का पकाया जाना क्योंकि अग्नि का आरम्भ देख कर मुनिराज लौट जावेंगे। रसोई तैयार करके चूल्हा ठण्डा कर दिया जावे और सर्व सामान शुद्ध स्थान में यत्नाचार रखा रहे। राह देखते हुए जब मुनिराज नजर पड़े और उस घर के पास आवे तब यह नमोऽस्तु कह करके अत्यंत हर्ष उत्साहपूर्वक कहे "आहार जल शुद्ध है, अत्र तिष्ठ तिष्ठ तिष्ठ" इस प्रकार से कहने का प्रयोजन यह है कि हमारे यहां आहार व पानी (जल) सब शुद्ध और और दोष रहित है। आप कृपा करके यहां पधारें २, पधारें (ठहरें)। तीन बार कहने का प्रयोजन है कि हमारी अत्यन्त भक्ति है, आप अवश्य कृपा करें। इस ही का नाम संग्रह है।

(२) उच्चस्थान :— घर के भीतर मुनिराज को ले जाकर गृहस्थ पहिले रसोई घर में प्रवेश करे और महाराज को वचनोच्चारण करके आह्वान करे तथा किसी ऊँचे स्थान (जैसे—काष्ठ का पाटा या चौकी आदि) पर बैठावे (विराजमान करे) और विनय सहित खड़ा होवे।

(३) पादोदक :— शुद्ध प्रचित्त जल से पैरों को धोवे।

(४) अर्चन :— अष्ट द्रव्यों से भाव सहित पूजन करे। अर्घ चढ़ावे। पूजन में बहुत अधिक समय न लगावे, नहीं तो आहार का समय निकल जावेगा। पांच, सात मिनट में ही पूजन करले और मुनिराज का दर्शन करके अपने को कृतार्थ समझे।

(५) प्रणाम :— भावसहित नमस्कार करे।

(६) वाक्शुद्धि :— जिस समय से मुनि को पडगाहा जाय उस समय से लेकर जब तक श्रीमुनिराज घर से विदा न हों तब तक आप भी वचन, धर्म व न्याय युक्त मतलब के बहुत मिष्टता व शान्तता से कहे और घर के अन्य जन भी जो वचन जरूरी हो सो कहें नहीं तो मौन रक्खें। उस समय घर में कोलाहल, दौड़ धूप व घबराहट किसी प्रकार की न हो, ऐसी शान्तता हो कि मानो यह एक जनरहित स्थान है।

(७) कायशुद्धि :— दान देने वाले का शरीर शुद्ध होना चाहिये यानी मलमूत्र आदि की बाधा सहित व रुधिर, पीप बहने वाले घाव सहित व अन्य किसी

तीव्र रोग सहित न हो किन्तु वह स्नानादि किये हुए व धोये हुए और उजले वस्त्र पहिने हो तथा अपने हाथों से कमर के नीचे का अङ्ग व कपड़ा न छुए, अपने हाथ ऊपर ही रक्खे। यदि हाथ छुए जायेंगे तो मुनि भोजन न करके लौट जायेंगे। इसलिये घर में जो पुरुष, स्त्री व बालक मुनि के सम्मुख आवे उनके शरीर अपवित्र न हो।

(८) मनशुद्धि :—दाता का मन धर्म-प्रेम से वासित हो, मन में क्रोध, कपट, लोभ, ईर्षा, आकुलता व शीघ्रता न हो बहुत ही शान्त मन रक्खे। मन में आचार्य, उपाध्याय और साधु के गुणों को विचारता हुवा ऐसे साधु की भक्ति में अपने जन्म को सफल मान कर अशुभ विचारो को न आने देवे।

(९) एषणाशुद्धि :— भोजन की शुद्धता हो जिसमें निम्नांकित चार बातों की शुद्धता पर ध्यान दिया जावे।

(क) द्रव्यशुद्धि .— जो अन्न, दूध, मीठा आदि रस व पानी रसोई के काम में लिया जाय वह शुद्ध मर्यादा का हो लकड़ी बिनाघुनी (बिनाबींधी) देख करके काम मे ली जाय तथा जो रसोई बनाने मे प्रवर्ते उसका शरीर भी शुद्ध होना चाहिये। वह स्नान करके धुले हुए साफ उज्ज्वल कपडे पहिने हो तथा अपने शरीर पर कोई हड्डी चमडे आदि की अशुद्ध चीज न हो। जैसे-हाथी दांत व सरेस के बने हुए विलायती चूड़े, सीप के बटन, झूँठे मोती, ऊन व बाल के कपडे आदि। कपडे शरीर पर जहा तक हो बहुत अधिक न हो।

(ख) क्षेत्रशुद्धि :— रसोई बनाने की जगह शुद्ध हो यानी उसमें रसोई का ही काम किया जावे। जितना रसोईघर रसोई बनाने व जीमने का स्थान हो वह प्रतिदिन कोमल झाड़ू मे साफ किया जाय तथा पानी से धोया जाय या मिट्टी से लीपा जाय। गोबर पशु का मल है उससे नही लीपना चाहिये, क्योंकि उसमें सूक्ष्म जीवो की उत्पत्ति हो सकती है। पूरे चौके पर चन्दोवा (चंदवा) रखना चाहिये, ताकि रसोई में कोई जीव जन्तु व जाला आदि न गिर पड़े। इस क्षेत्र की हद-बन्धी हो ताकि अशुद्ध स्त्री, बालक व पुरुष उस चौके में घुसने न पावे। यदि शुद्ध वस्त्रधारी स्त्री व पुरुष चौके मे जावे तो प्राशुक जल से पैर धोकर जावे और जितनी बार बाहर आवे पैर धोये, बिना भीतर न जावे। श्रावक को घर में अचित्त पानी से ही व्यवहार करना चाहिये, क्योंकि सचित्त का व्यवहार देखकर मुनि भोजन नहीं करेंगे।

(ग) कालशुद्धि – ठीक समय पर रसोई को तैयार करके रखना व ठीक समय पर ही मुनि को आहार दान देना। सामायिक के समय के पहिले पहिले ही सब निपटा देना यानी ग्यारह बजे के पहिले ही आहार दान देना चाहिये।

(घ) भावशुद्धि – दातार को यह कभी भी भाव न करने चाहिये कि इन मुनि महाराज को पड़गाहना है इस कारण से इस इस प्रकार की रसोई बनाऊं क्योंकि मुनि के लिये मैं कुछ बनाऊं ऐसे आरम्भ से बनी हुई रसोई के आरम्भ का दोष दाता को लगता है, यदि ऐसा मुनि को भास हो जाय कि मेरे नि- यह रसोई खास तौर से की गई है तो वे कभी भी भोजन नहीं करेंगे। दा- अपने प्रतिदिन के अनुसार ही खास अपने व अपने कुटुम्ब के लिये जितनी रसो- रोज (प्रतिदिन) बनती थी उतनी ही बनवायें। आज मुनि को दान करता इससे ज्यादा रसोई बनवाऊं ऐसा संकल्प न करें। अपने भाव ऐसे रक्खे कि मैं खाता हू उसमें से विभाग करना मेरा कर्तव्य है, ऐसा जान हर्ष पूर्वक भाव से दान दे-सो भाव शुद्धि है।

द्रव्यविशेष – जो कोई श्रावक मुनि को दान करने की इच्छा से नाना प्रकार के व्यंजन मुनि को प्रसन्न करने की कामना से बनवाता है वह उद्देशिक भोजन का दान कर पाप का बन्ध करता है। जो भोजन रसोई में अपने यहां तैयार हो उनमें से भी वह भोजन मुनिराज को दे जो उनके शरीर को हानि कारक न हो, किन्तु उनके संयम को बढ़ाने वाला है; जैसा कि कहा है।–

"रागद्वेषासंयममददुःखभयादिकं न यत्कुरुते।
द्रव्यं तदेव देयं सुतपः स्वाध्याय वृद्धिकरम् ॥१७०॥ [पु० सि०]

अर्थ.– ऐसा द्रव्य भोजन में देना चाहिये जो मुनि के राग, द्वेष, असंयम, मद दुःख, भय, रोग आदि को पैदा न करे, किन्तु जो सम्यक् तप और स्वाध्याय को बढ़ाने वाला हो अर्थात् गरिष्ठ भोजन, आलस्य लाने वाला भोजन कभी भी न देवे। जैसे-आपके यहां मूंग की, उड़द की दाल, भात, रोटी, गेहूं की व बाजरे की या लड्डू चने के तैयार है तो आप मुनिराज के शरीर व ऋतु को देख कर ऐसा भोजन दो जिसका की शीघ्रमेव पाचन हो और हल्का हो यानी आप मूंग की दाल, गेहूं की रोटी व भात अधिक दो, लड्डू व बाजरे की रोटी तथा उड़द की दाल बहुत कम देवो या मत देवो।

दातृविशेष :— दान देने वाला बहुत विचारवान होना चाहिये, छोटे बालक व नादान स्त्री तथा असमर्थ निर्बल, रोगी मनुष्य को दान देने के लिये तैयार नहीं होना चाहिये । ऐसे जीव केवल दान को देते हुए देख कर उसकी अनुमोदना कर सकते है ।

दातार मे मुख्य रूप से सात गुण होने चाहिये —

"ऐहिकफलानपेक्षाक्षान्तिर्निः कपटानसूयत्वम् ।
अविषादित्वमुदित्वे निरहङ्कारित्वमिति हि दातृगुणः ॥१६६॥ [पु०सि०]

भावार्थ :— (१) ऐहिकफलानपेक्षा :—दान का देनेवाला लौकिक फल की इच्छा न करे कि मुझे धन व पुत्र तथा यश का लाभ हो ।

(२) क्षांति :— क्षमाभाव रक्खे, यदि दान के समय कोई क्रोध आने का कारण भी बने तो क्षमा भाव मे उसे रोके ।

(३) निष्कपटता :— कपट व छल भाव को न करे । छल से अशुद्ध वस्तु का दान न करे तथा अन्य किसी भी प्रकार का कपट मन मे न रक्खे ।

(४) अनसूयत्व :— दान देते हुए अन्य दातारों से ईर्षाभाव न रक्खे कि मैं अन्यो (दूसरों) से बढ चढ कर यानी औरो को लज्जित करके दान करूं ।

(५) अविषादित्व:— दान के समय किसी भी प्रकार का रज (शोक) न करे ।

(६) मुदित्व :— दान देते समय हर्षित भाव रक्खे ।

(७) निरहंकारित्व :— दातार इस दान का अहंकार न करे कि मैं बड़ा दानी हूं, मेरे तो पात्र का लाभ सुगमता मे हो जाता है, मैं पुण्यात्मा हू, अन्य तो पापी है ।

शास्त्र के भाव को जानने वाला दातार हो, जो केवल इस ही भाव मे दान करे कि मेरे निमित्त से इनके रत्नत्रय पालन में सहायता होगी सो मेरा द्रव्य आज सफल हुवा-मोक्ष साधन मे परिणत हुवा । धन्य है मुनि ! मैं कब ऐसे रत्नत्रय को पालने योग्य बनूंगा; ऐसा हर्षायमान होता हुवा अपने को कृतार्थ और धन्य माने ।

पात्रविशेष :— जो दान लेने योग्य हो उसे पात्र कहते हैं । पात्र तीन प्रकार के होते हैं :—

पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारण गुणानाम् ।
अविरत सम्यग्दृष्टिर्विरतविरतश्च सकल विरतश्च ॥१७१॥ [पु०सि०]

भावार्थ :– जिनमे मोक्ष प्राप्ति के साधन जो सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रादिगुण का संयोग हो अर्थात् जिनमे यह गुण पाये जावें वे पात्र हैं। ऐसे पात्र उत्तम मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार के हैं :–

(१) उत्तमपात्र :–सर्व परिग्रह के त्यागी महाव्रतधारी मुनि तो उत्तमपात्र हैं

(२) मध्यमपात्र :– अर्जिका ऐलक, क्षुल्लक क्षुल्लिका से लेकर द्वितीय प्रतिमा तक मध्यम पात्र हैं।

(३) जघन्यपात्र :– अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर छटी प्रतिमाधारी श्रावक जघन्य पात्र है तथा अव्रती जैन धर्म के श्रद्धालु श्रावक भी दान का पात्र है।

उपर्युक्त सब ही पात्र दान देने के योग्य धर्म के स्थान हैं। उन पात्रों को दान देना श्रावक का परम कर्तव्य है।

विशेष :– श्रावक के घर मे पांचो पापो और कषायों की प्रवृत्ति पाई जाती है इसलिये वह सदा अपवित्र रहता है। अतः जब तक उत्तम पात्र (ऐलक क्षुल्लक ब्रह्मचारी आदि) जघन्यपात्र (प्रथम प्रतिमा से छटी प्रतिमाधारी श्रावक तथा अव्रती सम्यग्दृष्टि साधर्मी भाई) जब तक उस घर में अपने पुनीत चरणों के द्वारा आहारार्थ प्रवेश न करे तब तक वह घर सदा ही अपवित्र रहता है। इस लिये श्रावक का परमोत्तम कर्तव्य है कि वह उपर्युक्त सत्पात्रों को अवसर प्रतिदिन आहार दान देकर अपने घर को पवित्र कर कृतकृत्य होवे।

अतिथिसंविभाग के पांच अतिचारों का वर्णन :–

अतिथिसंविभागव्रतस्य पञ्चातिचारा भवन्ति। सचित्तनिक्षेप: सचित्तपिधानं परव्यपदेश: मात्सर्यं, कालातिक्रमश्चेति। तत्र सचित्ते पद्मपत्रादौ निधानं सचित्तनिक्षेप:। सचित्तेनावरणं सचित्तपिधानं। अयमत्र दातादीयमानोऽप्ययमस्येति समर्पणं परव्यपदेश: प्रयच्छतोऽपि सत आदरमन्तरेण दानं मात्सर्यं अनगाराणामयोग्यकाले भोजनं कालातिक्रमं इतिपात्रदानं स्वस्य परस्य चोपकार स्वोपकार: पुण्यसंचय: परोपकार: सम्यग्ज्ञानादिवृद्धि: तच्चदानं पारम्पर्येण मोक्षकारणं साक्षात्पुण्य हेतु:। विधिविशेषाद्द्रव्यविशेषाद्दातृविशेषात्पात्रविशेषाद्दान विशेष:। तत्र प्रतिग्रहोच्चदेशस्थापनमित्येवमादीनांक्रियाणामादरेण करणं विधि विशेषा:। दीयमानेऽन्नादि

.तिगृहीतुस्तपः स्वाध्यायपरिवृद्धिकरणत्वाद्द्रव्यविशेषः प्रतिगृही-
. तृजनेऽभ्यस्तयात्यागोऽविषादोदित्सोददतोदत्तवतश्चप्रीतियोगः,
कुशलासंधितावसुधारासुरप्रशंसादिदृष्टफलानपेक्षिता, निरुपरोधत्व-
तनिदानत्वेश्रद्धादिगुणसमन्वितत्वमित्येवमादि दातृविशेषः। मोक्ष-
कारणगुणसंयोगः पात्र विशेषः ततश्च फलविशेषः।

"सत्पात्रोपगतं दानं सुक्षेत्रगतबीजवत्।
फलाय यदपि स्वल्पं तदनल्पाय कल्प्यते ॥

तथा च–दानफल विशेषेण श्रीषेणोत्तमभोगभूमौ दशविधकल्प-
वृक्ष जनित सुखफलमऽन्वभूत्।

तथा च–दानानुमोदेनरतिवररतिवेगाख्यकपोतमिथुनं विजया-
र्द्ध प्रतिवद्धगांधारविषयसुसीमानगराधिपतेरादित्यगते रतिवरचरो-
हिरण्यवर्मनामानन्दनोऽभूत्। तस्मिन्नेव गिरौ गिरिविषयेभोगपुरपते-
र्वायुरथस्यरतिवेगचरो प्रभावत्याख्या तनयाऽभूत्। एवं हिरण्यवर्मा
प्रभावती च जातिकुलसाधित विद्या प्रभावेनसुखमन्वऽभूताम्। उक्त
हिंसादिपंचदोषविरहिते न द्यूतमद्यमांसानि परिहर्तव्यानि। तथा
चोक्तं महापुराणे :–

"हिंसासत्यस्तेयब्रह्मपरिहाच्च बादर भेदात्।
द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरतिगृ हिणोऽष्ट संत्यमी मूलगुणा ॥

कितवस्य सदा रागद्वेषमोहवंचनानृतानि प्रजायंते, अर्थक्षयोपि
भवति। जनेष्वविश्वसनीयश्च, सप्तव्यसनेषु प्रधानंद्यूतं तस्मात्तत्परि-
हर्तव्यं।

तथा च–भरतेऽस्मिन्कुलालविषये श्रावस्तिपुराधिपतिः सुकेतु-
महाराजो महाभोगीद्यूतव्यसनाभिहतः स्वकीयकोशंराष्ट्रमंतः पुरं
च द्यूते हारयित्वा महादुःखाभिभूतोऽभूत्। तथा च युधिष्ठिरोऽपि
द्यूतेन राज्याद्भ्रष्टः कष्टांदशामवापत्।

मांसान्निवृत्तिरहिंसाव्रत परिपालनार्थं मांसासिनं साधवो विनि-
न्दन्ति प्रेत्य च दुःखभाग्भवति। तथा चान्यैरुक्तं –

"मांसः भक्षयति प्रेत्य यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवंदति मनीषिणः ॥
मांसं प्राणिशरीरं प्राण्यंगस्य च विदारेण बिना ।
तन्नाप्यते ततस्तत्यक्तं जैनैः सदा सर्वैः ॥

तथाहि—कुम्भनाम्नो नगरपतेर्भीमो नामामहानशिकस्तिर्यंमांस
मलभमानो मृतशिशुमांसं सर्वंमारेण सन्मिश्रं कृत्वा कुम्भस्य दत्तवान्।
ततः प्रभृति सोऽपि नरमांसलोलुपः संजातः । तज्ज्ञात्वा प्र...
राज्यस्यायमयोग्य इति तं परिहृत वत्यः । तया च विध्यमलय कू
जवने किरातमुख्यः खदिरसारः । समाधिगुप्त मुनिंदृष्ट्वा प्रणतम
स्मै धर्मलाम इत्युक्ते कोऽसौ धर्मः, कोऽसौ लाभ इत्युक्तापरिप्रश्न
मांसादि निवृत्तिः धर्मस्तत्प्राप्तिलाभस्ततः स्वर्गादिसुखं संजायते
इत्युक्तवति मुनौ तत्सर्वं परिहर्तुं महमशक्त इति वचने तदाकूतम
वधार्य त्वयाकाकमांसं पूर्वं किं भक्षितमुत न वेत्युक्तेऽकृतमक्षणोहि
मिति प्रतिवचने यद्येवं तदभक्षण व्रतं त्वया गृह्यतामित्युपदेशे
तत्परिगृह्यातिवंद्यगतवतः कालांतरेतस्यामये समुत्पन्ने सतिवैद्य
काकमांसमक्षणादस्यव्याधेरुपशमो भविष्यतीत्युक्ते कण्ठगतेष्व
प्राणेषु मया न कर्तव्यं तत्काकमांसोपयोग विरमणव्रतं तपोधनस
परिगृहीतं संकल्पमंगं कुतः सत्पुरुषता ततः काकमांसाभ्यवहरण
करिष्यामीति प्रतिज्ञाने समुपलक्षिततदीयाकूतस्तं मांसमुपभोज
सौरपुराधिपतिः शूरवीरनामा तस्य मैथुनः समागच्छन्वनगह
वटतरोरधः कांचिदभिरुदंती समीक्ष्य कथय केन हेतुना रोदिषि
त्वं इत्यनुयुक्ता साऽवाचदहं यक्षी तव श्यालकं बलवदामयपरि
मांसमक्षणविरमणव्रतफलेन मे भविष्यंतमधिपतिं भवानध
भोजनेन नरकगतिभागिनं कर्तुं प्रारंभत इति रोदनमनुभव
तयोदितः श्रद्धेहितदहं न कारिष्यामीति व्याहृत्यगत्वातम
शरीरामय निराकरणहेतुस्त्वया काकमांसोपयोगः क्रियतामिति

हितार्थं वचनमेतन्नरकगतिप्रापणहेतुत्वादेवं म्रियमाणोऽपि म्रियेन तु प्रतिज्ञाहानिं करोमीति। निगदितस्तदभिप्राय विचारणात् स तस्मै यक्षी निरूपित वृत्तांतमकथयत्। सोऽपि तदाकर्णनार्दाहिंसादिश्रावकव्रतमविकलमादाय जीवितांते सौधर्मकल्पे देवोऽभवत्। शूरवीरश्च तस्य परलोक क्रियावसाने उपगच्छन् यक्षीं निरीक्ष्य कथय स किं मे मैथुनस्तवपतिरजायतेति, परिपृष्टा सा (यक्षी) ऽवोचत्। स्वीकृत समस्तव्रतसंग्रहस्यामुख्यव्यन्तरगति परान्मुखस्य सौधर्मकल्पे समुत्पत्तिरासीत्। ततोमदधिपतिरत्र प्रच्युतः प्रकृष्ट दिव्य भोगमनुभवतीति। हृदयगततद्वचनार्थनिश्चितमतिरहोव्रतप्रभावः समभिलषित फलप्रदान समर्थ इति। समाधिगुप्तमुनी समीपे परिगृहीतश्रावकव्रतो बभूव। खदिरसारोद्विसागरोपमकालंदिव्यभोगमनुभूय समनुष्ठित भोगनिदानः स्वजीवितांते ततः प्रच्युतः प्रत्यंतपुरे सुमित्रनामा मित्रराज्ञः पुत्रोभूत्। निदर्शनतपः कृत्वा व्यन्तरो आसीत्, ततः कुणिक नरपतेः श्रीमतिदेव्याश्च श्रेणिकोऽभूदिति एवं हष्टाहष्टफलस्याप्यहितं मांसं।

अर्थ :– अतिथि संविभाग व्रत के (१) सचित्तनिक्षेप, (२) सचित्तापिधान, (३) परव्यपदेश, (४) मात्सर्य और (५) कालातिक्रम ये पाँच अतिचार हैं।

(१) सचित्तनिक्षेप :– आहार देने योग्य भोजन को कमल के पत्ते आदि सचित्त पदार्थ पर रखना सचित्तनिक्षेप है।

(२) सचित्तापिधान –कमलके पत्ते आदि सचित्त पदार्थ सेभोजन को ढकना। सचित्तापिधान है।

(३) परव्यपदेश :– इस पदार्थ का देने वाला दाता यह है तथा यह जो भोजन दिया जा रहा है वह इसका है, इस प्रकार कह कर आहार देना परव्यपदेश है।

(४) मात्सर्य :– आहार देते हुए भी बिना आदर से देना मात्सर्य है।

(५) कालातिक्रम :– जो समय मुनियो की भिक्षा का नहीं है उसमें भोजन कराना कालातिक्रम है।

इस प्रकार अतिचार रहित पात्र दान देने में अपना उपकार भी होता·

है और दूसरे का भी उपकार होता है। पुण्य की वृद्धि होना अपना उपकार है और सम्यग्ज्ञान की वृद्धि होना परोपकार है। वह पात्र दान परम्परा से मोक्ष काकारण और साक्षात् पुण्य बढाने का हेतु है।

विधि की विशेपता होने से द्रव्य की विशेपता होने से दाता की विशेपता होने से और पात्र विशेपता होने से दान में भी विशेपता हो जाती है। प्रतिग्रह, उच्चस्थान आदि नवधा भक्ति की क्रियायें है उन्हें आदर पूर्वक करना विधि की विशेपता कहलाती है। आहार मे जो अन्न दिया जाय वह यदि आहार लेने वाले साधु के तपश्चरण स्वाध्याय आदि को बढाने वाला हो तो वही द्रव्य की विशेपता कहलाती है। आहार देने वाले को अभ्यास पूर्वक दान देना, दान देने में किसी तरह का विषाद न करना जो दान देने की इच्छा रखता है जो दान देता है और जिसने दान दिया है उसके प्रति सदा प्रेम प्रकट करना अपने दान देने की कुशलता ससार में प्रसिद्ध हो, मेरे घर रत्नों की वर्षा हो, देव गण भी मेरी प्रशंसा करें इत्यादि प्रत्यक्ष फलों की इच्छा न रखना, दान देते हुए किसी को नही रोकना। निदान नही करना और श्रद्धादि सातों गुणों को धारण करना तथा और भी ऐसे ही गुणों को धारण करना दाताकी विशेपता कहलाती है। मोक्ष के कारण जो गुण है उनको धारण करना पात्र की विशेपता है, इस प्रकार विधि, द्रव्य, दाता और पात्र की विशेपता होने से दान में विशेपता होती है और दान में विशेपता होने से उसके फल में विशेपता होती है।

सत्पात्रोपगतं दानमित्यादि :–

अर्थात् :– जिस प्रकार से अच्छे क्षेत्र (खेत) में छोटा सा भी बीज बोया जाता है तो भी उस पर अनेक बड़े-बड़े फल लगते है उस ही प्रकार श्रेष्ठ (उत्तम) पात्र को थोड़ा सा भी दान दिया जाय तो भी उसका बड़ा भारी फल प्राप्त हुआ करता है।

दान के फल की विशेषता से ही राजा श्रीषेणने उत्तम भोगभूमि में जन्म लेकर दस प्रकार के कल्पवृक्षो से उत्पन्न हुए अपूर्व सुख का अनुभव किया था।

इस ही प्रकार दान की अनुमोदना करने से "रतिवर" कबूतर और "रतिवेगा" कबूतरी ने सुखों का अनुभव किया था। रतिवर कबूतर तो दान की अनुमोदना से विजयार्द्ध पर्वत पर बसने वाले गांधार देश की सुसीमा नगरी के राजा [illegible] के हिरण्यवर्मा नामका पुत्र हुआ और रतिवेगा कबूतरी उसी

रजयार्द्ध पर्वत पर गिरिनाम के देश के भोगपुर नाम के नगर के राजा वायु-य की प्रभावती नाम की पुत्री हुई थी, इन दोनों का परस्पर विवाह हुवा था ौर दोनों को जाति, कुल आदि के द्वारा सिद्ध हुई अनेक विद्यायें प्राप्त थी, इस लिये उन विद्याओं के प्रभाव से उन दोनों ने अनेक तरह के सुखों का अनुभव किया था।

ऊपर जो हिंसा, झूँठ, चोरी कुशील और परिग्रह ये पाँच पाप बतलाये ैं उनका त्याग (एक देश त्याग) करने वाले श्रावक को जुवा खेलना, मद्य ान करना और मांस भक्षण करने का भी त्याग कर देना चाहिये। यही ाहापुराण में भी लिखा है। हिंसासत्यस्तेयोत्यादि :–

अर्थात् :– स्थूल हिंसा, स्थूल चोरी, स्थूल अब्रह्म और स्थूल परिग्रह से विरक्त ोना तथा जुवा, मांस व मद्य का त्याग करना ये आठ मूलगुण कहलाते हैं। ुवा खेलने से सदा राग, द्वेष, मोह, ठगी, झूँठ आदि पैदा होते रहते हैं, धन का ाश भी होता है और जुवा खेलने वाला लोगों में अविश्वास पात्र गिना जाता ै। इसके सिवाय यह जुवा खेलना सातो व्यसनो मे सबसे प्रधान है। सबसे ुख्य है इसलिये जुवा खेलने का त्याग अवश्य कर देना चाहिये। देखो इस ही रतक्षेत्र से कुलाल नामके देश में श्रावस्तिपुर नगर का राजा महाराज-केतु ड़ा ही ऐश्वर्यशाली और सुखी राजा था परन्तु जुवा खेलने के व्यसन में पडकर ह सब अपना खजाना हार गया और सब राज हार गया तथा सब अन्तःपुर ार गया एवं उसे अनेक तरह के महादुःख भोगने पड़े। इस ही तरह राजा ुधिष्ठिर को भी जुवा खेलने से राज्य से भ्रष्ट होना पडा और बडी ही दुःखित वस्था भोगनी पडी।

अहिंसाव्रत की रक्षा करने के लिये मांस का त्याग करना भी आवश्यक ै, मांस भक्षण करने वाले की साधुलोग भी निन्दा करते है और परलोक में भी उसे बहुत से दुःख भोगने पड़ते हैं। इस ही बात को अन्य लोगों ने भी कहा है।

मांसं भक्षयति प्रेत्येत्यादि :–

बुद्धिमान लोग मांस शब्द का अर्थ यही बतलाते हैं कि इस जन्म में जिसका मांस खाता है वह भी परलोक में मुझे अवश्य खावेगा (मांस अर्थात् वह मुझे खायगा यही मांस शब्द का अर्थ है)। मास प्राणियों का शरीर है प्राणियों के शरीर को विदारण किये बिना वह मिल नहीं सकता, इसलिये सभी जैनी लोग उस मांसका परित्याग सदा के लिये कर देते हैं।

देखो राजा कुंभ के भीम नामका रसोईया था किसी एक दिन उसे तिर्यंच का मास नही मिला इसलिये उसने मरे हुए बालक का मांस पकाया और उसमें सब मसाले डाल कर राजा कुंभ को दिया, उसे भी वह बहुत अच्छा लगा और तब से ही वह मनुष्यों का मांस खाने का लोलुपी हो गया। यह बात वहा की प्रजा को मलूम हुई। अब यह राजा राज्य के अयोग्य है, यह समझ कर उसे राज्य से अलग कर दिया।

इस ही तरह विन्ध्याचल के मलयकुटजवन में खदिरसार नाम का भीलों का राजा था, उसने किसी एक दिन समाधिगुप्त नामके मुनिराज के पास जाकर उन्हे प्रणाम किया, मुनिराज ने उत्तर में धर्म लाभ ही ऐसा कहा। खदिरासर ने पूछा कि धर्म क्या है और लाभ किसे कहते हैं? इसके उत्तर में मुनिराज ने कहा कि मांसादिक का त्याग करना धर्म है और धर्म की प्राप्ति होना लाभ है। धर्म की प्राप्ति होने से अर्थात् धर्मपालन करने से स्वर्गादिक के सुख प्राप्त होते हैं। इस पर खदिरासर ने कहा कि मैं उन सबका (सब तरह के मांस का) त्याग नही कर सकता, तब मुनिराज ने उसका अभिप्राय समझकर पूछा कि क्या तूने पहिले कभी कौए का मांस खाया है या नहीं? इसके उत्तर में खदिरसार ने कहा कि आज तक मैंने कौए का मांस नहीं खाया है तो इस उसके न खाने का व्रत स्वीकार करके मुनिराज के उपदेश से उसने व्रत स्वीकार किया और मुनिराज को नमस्कार कर अपने घर चला गया। उसके बाद किसी एक समय उसी खदिरसार को कोई रोग हो गया उस पर वैद्यों ने इसे उपाय बताया कि कौए का मास खाने से इसका रोग शान्त हो जावेगा। इस पर खदिरसार ने प्रतिज्ञा करी कि कण्ठगत प्राण हो जाने पर भी मैं यह काम नहीं कर सकता। मैंने मुनिराज के समीप कौए के मांस का त्याग करने का व्रत स्वीकार किया है। अपनी प्रतिज्ञा भङ्ग करने से सत्पुरुषपना कैसे रह सकता है? इसलिये मैं कौए का मांस कभी नहीं खाऊंगा। जब खदिरसार ने ऐसी प्रतिज्ञा की है तब उसका अभिप्राय जानकर उसे कौए का मांस खिलाने के लिये सौरपुर नगर का राजा शूरवीर नामका उसका बहनोई अपने नगर से चले आए, उसने गहन वन में वट के वृक्ष के नीचे एक स्त्री को रोते हुए देखा और उससे पूछा कि बच्चा तू यहाँ बैठी हुई यहां क्यों रो रही है [illegible] उसने कहा कि मैं यक्षी हूं। मेरा स्वामी जो यहुत [illegible] है और जिसने कौए के मांस भक्षण करने का व्रत लिया है वह

इस व्रत के फल से मरकर मेरा पति होने वाला है, परन्तु तुम लोग जाकर उसे कौए का माँस खिलाकर उसे नरक में भेजने का काम कर रहे हो इसलिये मैं रो रही हूँ। उस स्त्री की यह बात सुनकर उससे शूरवीर ने कहा कि तू विश्वास रख, मैं यह काम नही करूंगा अर्थात् उसको कौए का माँस नही खिलाऊँगा ऐसा कहकर वह अपने साले के पास पहूँचा उसे देखकर वह कहने लगा कि शरीर का रोग दूर करने के लिये तुझे माँस का उपयोग करना चाहिये अपने प्यारे बहनोई के वचन सुनकर खदिरसार ने कहा कि हे! शूरवीर तू मेरे प्राणों के समान प्यारा भाई है तुझे मेरे कल्याण करने वाले वचन कहने चाहिये, परन्तु ये तुम्हारे बचन मेरा कल्याण करने वाले नही है क्योकि ये वचन मुझे नरक गति मे ले जाने वाले हैं। इस प्रकार यदि मुझे मरना पड़ेगा तो मर जाऊँगा परन्तु अपनी प्रतिज्ञा नही तोड़ूंगा। इस प्रकार वचन सुन कर और उसका अभिप्राय जानकर शूरवीर ने उसके लिये उस यक्षी का कहा हुवा सब हाल कहा,-उसे सुन कर खदिरसार ने भी अहिंसा आदि श्रावक के सम्पूर्ण व्रत धारण कर लिये और आयु के अन्त में मरकर वह सौधर्म स्वर्ग में देव हुवा। इधर शूरवीर ने उसके शरीर की अन्तिम सब क्रियायें की और फिर अपने नगर की ओर चलने लगा, तब मार्ग मे वही यक्षी (यक्षिणी) फिर मिली; शूरवीर ने उससे पूछा कि वह मेरा साला तेरा पति हुवा ? इसके उत्तर में उस यक्षी ने कहा कि उसने श्रावक के समस्त व्रत स्वीकार कर लिये थे इसलिये वह व्यन्तर देवों की गौण गति में उत्पन्न नही हुवा किन्तु गौण गति से विमुख होकर सौधर्म स्वर्ग में उत्तम देव हुआ है इसलिये यह मेरा पति होने से छूट गया है और उत्तम दिव्य भोगों का अनुभव कर रहा है। यक्षी की यह बात सुनकर शूरवीर अपने हृदय में विचार करने लगा कि देखो व्रतों का प्रभाव कैसा है ? यह व्रतों का प्रभाव इच्छानुसार समस्त फल देने में समर्थ है यही निश्चय कर उसने श्रीसमाधिगुप्त मुनि के समीप श्रावक के समस्तव्रत स्वीकार कर लिये। इधर खदिरसार ने दो सागर तक दिव्य भोगों का अनुभव किया और भोगों का निदान कर आयु पूरी होने पर वहाँ से च्युत हुवा तथा प्रत्यन्तपुर नामके नगर में सुमित्र नामका मित्र राजा का पुत्र उत्पन्न हुवा। वहां पर उसने सम्यग्दर्शन रहित होकर तपश्चरण किया और मरकर व्यन्तरदेव हुवा फिर वहां से आकर राजा कुणिक की रानी श्रीमतीदेवी के श्रेणिक नामका पुत्र उत्पन्न हुवा। इसमें

[illegible] है और [illegible] भी बना है।

मद्यसेविनां हिताहितविवेको नास्ति वाच्यावाच्यता गम्यागम्यता कार्याकार्यता च नास्ति। मद्यपानेनेन्द्रियो जनस्य स्मृतिं विनाशयति, विनष्टस्मृतिकः किं न करोति, किं न भाषते, कं कुमार्गं न गच्छति, सर्वदोषाणामाकरः मद्येन सम्पाद्यते।

तथाहि :—कश्चित् ब्राह्मणो गुणी गङ्गास्नानार्थी गच्छन्नटवीमध्ये प्रहसनशीलेन [illegible] मांसभक्षण सुरापानतदंगनागमनेषु मध्ये अन्यतममवश्यं करणीयमन्यथा त्वां व्यापादयामीत्युक्तः चिन्तितवान्, प्राण्यङ्गत्वान्मांसभक्षणं पापोपलेपो भवति, शबरीसंसर्गे जातिनाशः संजायते, पिष्टोदकगुडधातक्यादिसमुत्पन्नं निरवद्यं मद्यमिदं पिबामीति पीत्वा विनष्टस्मृतिरगम्यगमनमभक्ष्यभक्षणं च कृतवान्। तथाहि-मद्यपायिनामपराधाद् द्वीपायन मुनिकोपात्सम्भूतायां द्वारवत्यां विनष्टा यादवा इति।

"मत्तो हिनस्ति सर्वं मिथ्या प्रलपति विवेकविकलतया
मातरमपि कामयते सावद्यं मद्यमत एव॥"

अर्थ :— मद्य सेवन करने वालों को (शराब आदि नशे की चीजें खाने पीने वालों को) तो हित अहित का कुछ विचार नहीं रहता। क्या कहना चाहिये क्या नहीं, कहा जाना चाहिये कहां नहीं तथा क्या करना चाहिये क्या नहीं। आदि किसी बात का ध्यान नहीं रहता है। जो मनुष्य मद्य सेवन करता है उसकी स्मरण शक्ति सब नष्ट हो जाती है और जिसकी स्मरण शक्ति नष्ट हो जाती है वह कौनसा पापकार्य नहीं कर सकता कौनसा वचन नहीं कह सकता और कौन से कुमार्ग में नहीं जा सकता। अभिप्राय यह है कि मद्य का सेवन करना सब दोषों का स्थान है। इस ही बात को दिखलाने (बताने) वाली कथा यहां पर लिखी जाती है।

कोई एक ब्राह्मण बड़ा ही गुणवान था। वह गंगास्नान करने के लिये चला, मार्ग में वह एक जंगल में होकर जा रहा था कि इतने में हँसी मजाक करने वाले और मद्य के मद से उन्मत्त हुये एक भीलने आकर उसे रोक लिया।

भील के साथ उसकी स्त्री भी थी। भील ने आकर उस ब्राह्मण को रोक कर कहा कि तुम या तो मांस भक्षण करो या मद्य सेवन करो (शराब पीओ) अथवा इस स्त्री के साथ संसर्ग करो यदि इन तीनों में से तुम कोई भी काम न करोगे तो मैं तुम्हें मार डालूंगा। ब्राह्मण देवता उस भील की यह बात सुन कर बड़े विचार में पड़ गये सोचने लगे कि मांस प्राणियों का अङ्ग है उसके भक्षण करने से बडा भारी पाप लगेगा और इस भीलनी के साथ संसर्ग करने से जाति का नाश हो जायगा! हाँ यह मद्य केवल औटा हुवा पानी गुड़ और धायके फूल आदि से बना है इसलिये यह निर्दोष है इसके पीने में कोई दोष नही है, यही समझ कर उसने वह मद्य पी लिया, जब वह बेहोश हुवा और उसकी स्मरण शक्ति नष्ट हो गई तब उसने अगम्यगमन (उस भीलनी के साथ संसर्ग) भी किया और अभक्ष्य भक्षण (मांस भक्षण) भी किया। देखो! मद्य पीने के अपराध से ही द्वीपायन मुनि को क्रोध हुवा था उस ही क्रोध के कारण द्वारिका नगरी सब जल गई थी और यादव लोग सब नष्ट हो गये थे।

मत्तोहिनस्ति सर्वमित्यादि :-

अर्थात्-शराब के नशे में मदोन्मत्त होकर यह जीव सब जीवों की हिंसा करता है, विवेक रहित होकर मिथ्या प्रलाप करता है और माता के साथ भी काम वासना प्रकट करता है इसलिये मद्य का सेवन सब पापों से भरा हुवा है।

विशेष :- जैन वाङ्मय में पांच अणुव्रत और तीन गुणव्रत बतलाये हैं क्योंकि गुणव्रत अणुव्रतों को महाव्रत रुप बनाने का गुण रखते है अतः उनको गुणव्रत कहते हैं।

तीन गुणव्रतों के अतिरिक्त चार शिक्षाव्रत वे भी अणुव्रतो को महाव्रत रुप होने की शिक्षा देते हैं। अतः उनको आचार्यों ने शिक्षाव्रत कहा है तथा अमवर्ती रक्खा है।

तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ही मिलकर सात शीलव्रत कहलाते हैं।

जब प्रतिमा पालन करते समय व्रत प्रतिमा ग्रहण की जाती है तो निरतिचार पांच अणुव्रत लिये जाते हैं इसके बाद में सातिचार शील सप्तक ग्रहण करते हैं; जैसे२ ऊपर की प्रतिमा ग्रहण की जाती है वैसे-वैसे ही उनके अतिचार दूर करने पड़ते हैं।

—: सप्तशील व्रत समाप्त :—

(३) सामायिक प्रतिमा का वर्णन :–

"सामायिक संध्यात्रयेऽपि भुवनत्रय स्वामिनं, वंदमानो वक्ष्यमाण व्युत्सर्गतपसि कथित क्रमेण ।

द्विनिषण्णं यथाजातं द्वादसवर्तमित्यापि,
चतुर्नति विशुद्धं च कृतिकर्म प्रयोजयेत् ॥

अर्थ :– सामायिक प्रात काल (सवेरे) मध्याह्न (दोपहर) और सायंकाल (शाम) तीनों समय करना चाहिये और वह तीनों लोकों के स्वामी भगवान जिनेन्द्र देव को नमस्कार कर आगे जो व्युत्सर्ग नामका तपश्चरण कहेंगे उसमें कहे हुए क्रम के अनुसार करना चाहिये ।

अर्थात् :– खड़े होकर अथवा बैठकर इन दो ही आसनों से उत्पन्न हुए बच्चे के समान निर्विकार होकर चारों दिशाओं में बारह आवर्त करना चाहिये । चारों दिशाओं में चार नमस्कार करना चाहिये, मन वचन काय तीनों को शुद्ध रखना चाहिये और इस तरह अपना कर्त्तव्य कर्म करना चाहिये ।

(१) सामायिक प्रतिमा :– अस्य सामायिकस्यानंतरोक्तं शील सप्तकांतर्गतं सामायिक व्रतं व्रतिकस्य शीलं भवतीति ।

अर्थ :– जो सात शीलों के अन्तर्गत सामयिक कहा है वही सामायिक इस सामायिक प्रतिमा पालन करने वाले श्रावक के व्रत हो जाता है और दूसरी व्रत प्रतिमा पालन करने वाले के वही सामायिक शील रूप से रहता है ।

विशेष :–सम् एकत्वेन आत्मनि आयः आगमनं परद्रव्येभ्यो निवृत्य उपयोगस्य आत्मनि प्रवृत्तिः समायः, अयम् अहं ज्ञाता दृष्टा च इति आत्मविषयोपयोगः, आत्मनः एकस्यैव ज्ञेयज्ञायकस्य संभवात् । अथवा समे रागद्वेषाभ्यां अनुपहृते मध्यस्थे आत्मनि आयः उपयोगस्य प्रवृत्तिः समायः स प्रयोजनं अस्य इति सामायिकं ॥

[श्री गोम्मटसार संस्कृत टीका श्रु तज्ञान प्र० अभयचन्द्र]

अर्थ :– अपने आत्मा के बिना सर्व परद्रव्यों से अपने उपयोग को हटा कर अपने आत्मस्वरूप में ही एक रूप होकर उपयोग को प्रवृत्त करना अर्थात् यह अनुभव करना कि मैं ज्ञाता दृष्टा हूँ (क्योंकि एक ही आत्मा जानने वाला ज्ञायक भी है और जानने योग्य ज्ञेय भी है) सो समाय है अथवा रागद्वेषों को हटाकर आत्मरूप माध्यस्थ समता में लीन ऐसा जो आत्मस्वरूप उसमें अपने उपयोग का

लाना (लगाना) सो समाय है। जिस क्रिया का समाय करना प्रयोजन हो
उसको सामायिक कहते हैं।

(४) प्रोषधोपवास प्रतिमा :-

**प्रोषधोपवासः मासे चतुर्ष्वपि पर्व दिनेषु स्वकीयां शक्तिमनि-
गूह्य प्रोषधनियमं मन्यमानो भवतीति व्रतिकस्य यदुक्तं शीलं प्रोष-
धोपवासस्तदस्यव्रतमिति।**

अर्थ :- प्रोषधोपवास प्रत्येक महिने के चारों पर्वों में अपनी शक्ति को न छिपा
कर तथा प्रोषध के सब नियमों को मानकर करना चाहिये। व्रती श्रावक के जो
प्रोषधोपवास शील रूप से रहता था वह प्रोषधोपवास इस चौथी प्रतिमावाले के
व्रत रूप से रहता है।

विशेष :- **सामायिक किसी दसा, चारि प्रहरलों होय।**
अथवा आठ प्रहर रहे, प्रोसह प्रतिमा सोय॥

[ना० स०] पं० बनारसीदासजी

अर्थ :- इस प्रोषध प्रतिमा में सामायिक जैसी ही स्थिति है चार पहर अथवा
आठ पहर की प्रोषधोपवास व्रत प्रतिमा होती है।

(५) सचित्त त्याग प्रतिमा :-

**सचित्तघतो दयामूर्तिमूलफल शाखाकरीरकंदपुष्पबीजादीनि न
भक्षयत्यस्योपभोगपरिभोग परिमाणशीलव्रतातिचारोव्रतं भवतीति।**

अर्थ :- सचित विरत प्रतिमावाला दया की मूर्ति होता है और वह मूल, फल,
शाखा, करीरकंद, पुष्प और बीज आदिकों को कभी नहीं खाता है। उपभोग
परिभोग परिमाण शील के जो अतिचार है उनका त्याग ही इस पांचवी प्रतिमा
वाले के व्रत कहलाता है।

सचित्ताचित्त का विशेष विवेचन :-

**"दयार्द्र चित्तो जिनवाक्यवेदी, न वल्भते किंचन यः सचित्तम्।
अनन्यसाधारण धर्मपोषी, सचित्तमोची स कषायमोची॥७१॥**

[श्र० श्रा० ॥ वां परिच्छेद]

अर्थ :- दया कर भीगा है चित्त जिसका जितेन्द्र के वचनों को जानने वाला,
ऐसा पुरुष कुछ भी सचित्त नहीं खाता है।

"फलपलासपल्लवकुसुमादिकायं स्त्रीकृत्य त्रोटनभक्षणमर्दन-

पेषणदहनादिभिस्तथा गुल्मलतापादपादिकं तनूकृत्य छेदनेन भेदनेनोत्पाटनेन, रोहणेन, दहनेन च, क्लेशभाजनतामुपयातोऽस्मि" ।

[भगवती आराधना गाथा १६८ विजयोदय टीका पृष्ठ ४१४]

अर्थ :– जब मैंने (जीवके) अग्नि शरीर को छोड़ कर फल, पुष्प, पत्र, कोंपल आदि को शरीर रूप से धारण किया था; तब तोड़ना, खाना, मर्दन करना, दाँतो से चबाना, अग्नि पर भू जना इत्यादि प्रकारों से मुझे जनता ने दुःख दिया। जब मैं (वनस्पति काय जीव) झाड़ लता, छोटे पेड़ इत्यादि रूप से जन्मा तब छेदन करना, भेदन करना, उखाड़ना, एक जगह से उठाकर दूसरे स्थान पर रोपना, जलाना इत्यादि अनेक प्रकार के जो दुःख भोगने पड़े, उनका वर्णन करना मेरी शक्ति के बाहर है। इस प्रकार टूटे हुए पत्र, फल, पुष्प, बेल, लता वगैरह तथा अंकुरो में जीव होते है। यह बात जैनाचार्यों ने अनेक ग्रन्थों में स्वीकार की है।

काय: शरीर वनस्पतिकायिकजीवपरित्यक्तः वनस्पतिकायः मृतमनुष्यादिकायवत्" ।

[राजवार्तिक] "अकलंक स्वामी"

अर्थ :– मनुष्य को कायवत् माना है अर्थात् मनुष्य की काय में जब पंचेन्द्रिय मनुष्य का जीव रहता है तत्पश्चात् आयुक्षय होने पर मृतक मनुष्य के शरीर में अनन्त सैनी पंचेन्द्रिय सम्मूर्छन जीव पैदा हो जाते हैं और होते रहते हैं। अब टूटी हुई वनस्पति चाहे साधारण हो अप्रतिष्ठित प्रत्येक हो या सप्रतिष्ठित प्रत्येक हो उसमे जीव है अर्थात् जब तक वह हरी है, तब तक उसमें जीव है। सूखे बिना या अग्नि पर पकाये बिना उसमें से जीव नहीं जाते। आगे वनस्पति का स्पष्ट विवेचन किया जाता है अर्थात् उसके भेद प्रभेदों की व्याख्या करतेहैं।

वनस्पति के भेद :– वनस्पति नामा नाम कर्म के उदय से जो जीव संसार में वनस्पति शरीर के धारण करता है उसे वनस्पतिकायिक कहा गया है। वनस्पति के दो भेद है :–(१) साधारण (२) प्रत्येक

(१) **साधारण वनस्पति :–** इसके दो भेद है (१) बादर (२) सूक्ष्म। इन दोनों भेदों में निगोदिया जीव हुआ करते हैं। सूक्ष्म साधारणनिगोदिया जीव भी घी के घड़े के समान समस्त संसार में ठसाठस भरे हुये हैं। कहीं भी जगह खाली नहीं है। बादर साधारण वनस्पति काय चित्रा पृथ्वी से सुमेरु पर्वत से नीचे सात (७) राजू प्रमाण है, जिसमें (६) राजू में तो (७) नरक है,

फिर एक राजू की मोटे स्थान में यह बादर साधारण निगोद है जो कि ठसा-ठस भरे हुये हैं। भगवान सर्वज्ञ देव ने इनकी संख्या असंख्यातानन्त बतलाई है, यहाँ भी वनस्पति कायिक वृक्ष उत्पन्न होते हैं तथा उगने के बाद या जल वगैरह का सम्बन्ध मिलने पर वैसी स्वभाव वाली वनस्पति बहुतायत से पैदा होती है।

वनस्पति में जीव हैं यह बिना जीव के नहीं होती इसका समर्थन शास्त्रों के प्रमाणों तथा ग्रन्थों से जानना चाहिये।

"मूला बीजा यथा प्रोक्ता, फलकाद्यार्द्रकादयः।
न भक्ष्याः दैवयोगाद्वा, रोगिणामप्यौषधिच्छलात् ॥८०॥
तद्भक्षणे महापापं प्राणिसन्दोहपीडनात्।
सर्वज्ञाज्ञाबलादेतद्, वर्जनीयं दृगङ्गिभिः ॥८१॥ [illegible]

अर्थ :— मूल, बीज, फल और अदरख आदि वस्तु [illegible] नहीं खाने चाहिये। यदि कदाचित् दैव योग से [illegible] के कारण खाने [illegible] तब भी नहीं खाना चाहिये क्योंकि इनके खाने से महान् पापबन्ध होता है, जीवों के समूह को [illegible] होती है। [illegible] भगवान् की आज्ञा का [illegible] है कि भगवान् ने कहा है कि इनके [illegible] पापबन्ध होता है।

"[illegible] ।
[illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥
[illegible] ।

अप्रागुकमथाततं, नीरंत्याज्यं व्रतान्वितैः ॥६९॥
यान्निआत्मीयवर्णादि, त्यक्तं द्रव्यादियोगतः ।
तप्तंयाचाग्निनाऽदेयं, नयनाभ्यां परीक्ष्य भोः ॥७०॥
अपक्वमर्द्धपक्वंवा, कन्दबीजफलादिकं ।
सचित्तंनात्ति यस्तस्य, पंचमीप्रतिमा भवेत् ॥७१॥
सचित्तंनात्ति योधीमान्, सर्वप्राणिसमायुतं ,
दयायुतैर्भवेतस्य सफलं जीवितं भुवि ॥७२॥
सचित्त' जीवसंयुक्तं, ज्ञात्वा योऽश्नाति दुष्टधीः ।
रसजिह्वालम्पटात् किं सः स्वं वेत्ति मरणच्युतं ॥७३॥
अश्नात्येव सचित्त', यस्तस्य स्यान्निर्दयं मनः ।
मनोनिर्दयतः पापं जायते स्वभ्रसाधकम् ॥७४॥ [आदिपुराण]

अर्थ :— आम, नारंगी, खजूर, कदली आदि वृक्षोंसे होने वाले फल, जिन वृक्षों के फूल निकलता है उनके फूल, तथा नीम आदि के फूल सचित्त हैं ।६४।

गेहूँ, तिल, धान, मूंग, चना आदि तथा इलायची, जीरा आदि के अलग किये गये बीज शक्ति अपेक्षा सचित्त है ।६५।

अदरख आदि कन्दमूल, गीलेवृक्ष की छाल व डाली तथा कोपल आदि भी सचित्त है नागवेल (नागरवेल) आदि के पत्ते भी सचित्त हैं, इन सभी सचित्त पदार्थों का सचित्तत्याग प्रतिमाधारी त्याग दे ।६७।

अग्नि से कम पके अथवा ज्यादा पके व जिनमें चेतना गुण पाया जावे वे पदार्थ सचित्त त्याग प्रतिमाधारी को ग्रहण करने लायक नहीं है ।६८।

जिसने अपने रूप को नहीं छोड़ा है तथा स्पर्श में फरक नहीं पड़ा है ऐसा बराबर प्रासुक नहीं हुआ है, बिना तपा हुआ जल सचित्तत्याग प्रतिमाधारी को त्यागने योग्य है ।६९।

किसी भी पदार्थ के संयोग से अपने वर्णादि को छोड़ देने वाला जल तथा आगसे तपाया हुआ जल आंखोंसे परीक्षण करके ग्रहण करना चाहिये ।७०।

जो बिना पके हुए तथा आधे पके हुए सचित्त कन्द, बीज, फल आदि को नहीं खाता है उसके पांचवीं प्रतिमा होती है ।७१।

इस पृथ्वी तल पर उस दयालु व्यक्ति का जीवन सफल है जो बुद्धिमान

प्राणियों सहित सचित्त पदार्थों को नहीं खाता।

जो दुर्बुद्धि सचित्त पदार्थों को जीव सहित जानकर जीभ की लंपटता से उन्हें खाता है वह अपने को जन्ममरण रहित कैसे जान सकता है।७३।

जो व्यक्ति सचित्त को खाता है उसका मन निर्दयी होता है और मन की निर्दयता से नरक प्राप्त करने वाले पाप का बन्ध करता है।७४।

"साहारणोदयेण णिगोदसरीरा हवन्ति सामण्णा।
ते पुण दुविहाजीवा, बादर सुहुमाति वियणेया ॥१९१॥[गो. जी.]

अर्थ:— जिन जीवों का शरीर साधारण नामकर्म के उदय के कारण निगोद-रूप होता है उन्हीं को सामान्य या साधारण कहते हैं। इनके दो भेद हैं—एक बादर दूसरा सूक्ष्म।

भावार्थ:— जिन जीवों के साधारण नामकर्म का उदय होता है उनका शरीर इस प्रकार का होता है कि जो अनन्तानन्त जीवों को समान रूप से आश्रय दे सके इस शरीर में एक जीव मुख्य नहीं रहता अनन्तानन्त जीव रहते हैं और वे भी सब समान रूप से रहते हैं, यही कारण है कि इन जीवों का नाम सामान्य तथा साधारण है। इनके दो भेद हैं—एक बादर और दूसरा सूक्ष्म।

नि–गो–द=(इत्यर्थः)–नियतां निश्चितां गां भूमिमाश्रयं ददाति यत् तत् निगोदं शरीरं येषांते निगोदशरीराः। एकस्मिन्नेव नियते शरीरे ये अनन्तानन्ता अपि जीवाः समान रूपेण वसन्तितें निगोदशरीराः "साधारण मम्यन्तो, साधारणं शरीरं येषां ते" इत्यादि। [षट् खण्डागम ? पृष्ठ ३११]

उपर्युक्त "षट् खण्डागम" के कथन से और भी स्पष्ट हो जाता है। संस्कृत सरल होने से विस्तारभय के कारण अर्थ नहीं लिखा गया है।

"साहारणमाहारो, साहारणमाणपाण गहणं च।
साहारणजीवाणं, साहारणलक्खणं भणियं ॥१९२॥ [गो. जी.]

अर्थ:— इन्हें साधारण क्यों कहते हैं? इन साधारण जीवों का साधारण शरीर [illegible] होता है और [illegible] का ग्रहण होता है। इस तरह [illegible] साधारण ही कहलाता है।

भावार्थ:— [illegible]

आहारादि पर्याप्ति और उनके कार्य सदृश तथा समान काल में होते हों उनको साधारण जीव कहते हैं।

"जत्थे वक्कमरइ जीवो, तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं।
वक्कमइ जत्थ एक्को, वक्कमणं तत्थ णंताणं ॥१९३॥ [गो.जी.]

अर्थ :- साधारण जीवों में जहां पर एक जीव मरण करता है वहां पर अनन्त जीवों का मरण होता है और जहां पर एक जीव उत्पन्न होता है वहां अनन्त जीवों का उत्पाद होता है।

भावार्थ :- साधारण जीवों में उत्पत्ति और मरण की अपेक्षा भी सादृश्य है। प्रथम समय में उत्पन्न होने वाले साधारण जीवों की तरह द्वितीयादि समयों में भी उत्पन्न होने वाले साधारण जीवों का जन्म मरण साथ ही होता है। यह इतना विशेष समझना कि एक बादर निगोद शरीर में या सूक्ष्म निगोद शरीर में साथ ही उत्पन्न होने वाले अनन्तानन्त साधारण जीव या तो पर्याप्तक ही होते हैं या अपर्याप्तक ही होते हैं किन्तु मिश्ररूप नहीं होते क्योंकि उनके समान कर्मोदय का नियम है।

खंधा असंखलोगा, अण्डरआवासपुलविदेहा वि।
हेट्ठिल्ल जोणिगाओ असंखलोगेण गुणिदकमा ॥१९४॥ [गो.जी.]

अर्थ :- स्कन्धों का प्रमाण असंख्यात लोक प्रमाण है। अण्डर, आवास, पुलवि तथा देह ये क्रम से उत्तरोत्तर असंख्यातलोक, असंख्यातलोक गुणित हैं, क्योंकि ये सब ही अधस्तनयोनिक हैं इनमें पूर्व पूर्व आधार और उत्तरोत्तर आधेय हैं।

भावार्थ :- अपने योग्य असंख्यातका लोक के समस्त प्रदेशों से गुणा करने पर जो लब्ध आवे उतना समस्त स्कन्धों का प्रमाण है। एक-एक स्कन्ध में असंख्यात लोक प्रमाण अण्डर है। एक-एक अण्डर में असंख्यात लोक प्रमाण आवास है एक-एक आवास में असंख्यात लोक प्रमाण पुलवि है। एक-एक पुलवि में असंख्यात लोक प्रमाण बादर निगोदिया जीवों के शरीर हैं, इसलिये जब एक स्कन्ध में असंख्यात लोक प्रमाण अण्डर है तब समस्त स्कन्धों में कितने अण्डर होंगे इस प्रकार त्रैराशिक करने से अण्डरों का प्रमाण निकलता है। इस प्रकार से आगे भी त्रैराशिक करने से आवास पुलवि और देह इनका भी उत्तरोत्तर क्रम से असंख्यातलोक, असंख्यातलोक गुणा प्रमाण निकलता है।

इस ही बात को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है :-

"जम्बूदीवं भरहो कोसलसागेदतग्घराइं वा।
खंधंडर आवासा, पुलवि शरीराणि दिट्ठंता ॥१९५॥ [गो० जी०]

अर्थ:— जम्बूद्वीप भरतक्षेत्र कौशलदेश साकेत–अयोध्यानगरी और साकेत गरी के घर ये क्रम से स्कन्ध, अण्डर, आवास, पुलवि और देह के दृष्टान्त हैं।
भावार्थ:— जिस प्रकार जम्बूद्वीप आदिक एक-एक द्वीप में भरतादिक अनेक त्र एक-एक भरतादि क्षेत्रमें कौशल आदि अनेक देश और एक-एक कौशल दि देश में अयोध्या आदि अनेक नगरी और उस एक-एक नगरी में अनेक र होते हैं। उस ही प्रकार एक-एक स्कन्ध में असंख्यात लोक, असंख्यात लोक माण अण्डर, एक-एक अण्डर में असंख्यात लोक प्रमाण आवास, एक-एक वास में असंख्यात-असंख्यात लोक प्रमाण पुलवि और एक-एक पुलवि में संख्यात लोक, असंख्यात लोक प्रमाण बादर निगोदिया जीवोंके शरीर होते हैं।

इस ही दृष्टान्त के द्वारा वनस्पति काय का स्वरूप फलोंमें आम्र हो या मून हो, नारंगी हो या ककड़ी हो, भिण्डी, तुरैया, टींडसी, खरबूजा, सेव, सपाति, निम्बू, मिर्च, अनार, अमरूद, अ गूर आदि किसी भी जाति का स्कन्ध , उसमें संख्यात, संख्यात व अनन्त जीवों का शरीर है इसलिये शास्त्रकारों वनस्पति कायिक फलों को स्पर्श करना, दबाना, तोड़ना, रांधना, पीसना, ना आदि जो भी किया जावे उसमें हिंसा होती है। इस ही कारण गृहस्थ ग पूर्ण संयमी नहीं हो सकते हैं। वे तो संयम के विचार करने वाले होते हैं, योंकि गृहस्थ अवस्था में श्रावकों को कई प्रकार की आपत्तियाँ हुवा करती हैं लिये यदि पूर्ण रूप से संयम न पाला जावे तो एक मास में चार पर्व–(दो ष्टमी दो चतुर्दशी) को अपनी शक्तिके अनुसार संयम पालन करना ही आत्मिक नति का एवं पुण्य बंध का कारण है। इसलिये संसार के दुःखों से छुटकारा गैर आत्मिक सद्गुणों की वृद्धि करना हो तो जीव रक्षा का उपाय करो।

अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्णिश्रृङ्गवेराणि।
नवनीत निम्ब कुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ॥८५॥
[सागार धर्मामृत ५ अध्याय]

र्थ:— जिस वनस्पति को कार्य में लेने से फल (लाभ) तो थोड़ा हो और न से स्थावर जीवों की हिंसा हो ऐसे गीले सचित्त अदरख, मूली, गाजर, ल्सन, नीम के फूल, केतकी के फूल इत्यादि वस्तुयें जिनमें फल थोड़ा और

हिंसा ज्यादा है वह त्याग देने ही योग्य है क्योंकि जरासी जिह्वा के स्वाद के खातिर असंख्यात गुणी हिंसा होने से दुर्गति का बन्ध होता है।

"नीली सूरण कालिन्दद्रोणपुष्पादिवर्जयेत्।
आजन्म तद्भुजां ह्यल्पं फलं घातश्च भूयसाम् ॥१६॥

(पुरुषार्थसिद्धयु०)

अर्थ :— सचित्त प्रतिमाधारी धर्मात्मा श्रावक पुरुषों को नाली, कमल की ना[illegible] सूरण, कालिन्द, तरबूज, द्रोणपुष्प, द्रोणवृक्ष का फूल और आदि शब्द से यह ग्र[illegible] है कि मूली, अदरख, नीम के फूल, केतकी आदि पदार्थों का जीवन पर्यन्त त्या[illegible] कर देना चाहिये क्योंकि इन पदार्थों के खाने वालों को एक क्षण भर के [illegible] जिह्वा इन्द्रिय को सन्तुष्ट करने मात्र का थोडा सा फल मिलता है, परन्तु उ[illegible] खाने से उन पदार्थों के आश्रित रहने वाले अनेक जीवों का घात होता है, [illegible] व्रत का भङ्ग करना ही संसार ताप को बढाना है इसलिये ऐसे पदार्थों [illegible] जीवन पर्यन्त त्याग कर देना चाहिये। फल, पत्र स्वरूप वनस्पति कोई [illegible] नहीं है परन्तु इनमें जीवों की बहुत प्रचुरता रहती है इसलिये इनके भ[illegible] जीव हिंसा का पाप लगता है। विशेष कर वर्षा ऋतु में हरी वनस्पति (अ[illegible] वस्था में) को त्यागना ही उचित है। गोबी (गोभी) कचनार के पुष्पों में बहु[illegible] जीव होते हैं इनमें स्थावर जीवों की अपेक्षा त्रस जीवों की अधिक हिंसा होती है। हरे पोदीना की पत्ती, पत्ते वाले शाक, पालक, मूली के पत्ते, [illegible] के पत्ते, गंवारपाठा उसकी फली आदि का भक्षण नहीं करना चाहिये। पत्ते वाले शाक का पत्ता मोटा होने से उसमें अनन्त काय जीव रहते हैं अतः त्याज्य है।

भावार्थ :— श्रावक तो पर्व दिवसों में शक्ति के अनुसार हरी सब्जी को अवश्य त्याग करे ही करे।

स्तोकैकेन्द्रियघाताद् गृहिणां सम्पन्नयोग्य विषयाणाम्।
शेषस्थावरमारणाविरमणमपि, भवति करणीयम् ॥७७॥

(लाटी सं०)

अर्थ — इन्द्रियों के विषयों को न्याय पूर्वक सेवा करने वाले श्रावकों को एक एकेन्द्रिय घात के अतिरिक्त शेष स्थावर जीवों के मारने का त्याग भी [illegible] करने योग्य है।

इस प्रकार से उपर्युक्त प्रमाणों व उद्धरणों द्वारा सचित्त का वर्णन कि[illegible]

गया है। इस पांचवी सचित्त प्रतिमाधारी श्रावक को तो शास्त्रोक्त वचन प्रमाण चलना अत्यावश्यक है।

(६) रात्रिभुक्त व्रत प्रतिमा :-

"रात्रिभक्तव्रतः रात्रौ स्त्रीणां भजनं रात्रिभक्तं तद्व्रतमस्येति सेवेत इति रात्रिव्रतातिचारा रात्रिभक्तव्रतः दिवाब्रह्मचारीत्यर्थः।

अर्थ :- छट्ठी प्रतिमा का रात्रिभक्तव्रत नाम है। रात्रि में ही स्त्री का सेवन करने का व्रत लेना अर्थात् दिन में ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा ... भक्त व्रत प्रतिमा है। रात्रि भोजन त्याग के अतिचार त्याग ... भक्त व्रत है।

एवं षट् प्रतिमा यावच्छ्रावका गृहिणोऽधमा।
निरुच्यन्तेऽधुना मध्यास्त्रयोऽन्य वर्णिनोऽपि ...

अर्थ :- इस छट्ठी प्रतिमा तक के श्रावक जघन्य श्रावक ... आठवी, नवमी इन तीन प्रतिमा के धारक मध्यम ... वर्णी संज्ञा है।

भावार्थ :- यह छट्ठी प्रतिमा प्रायः कुलीन ... पलती है। स्त्री तथा शूद्रों को इसका पालन करना ... संतान आदि को औषधि आदि देना तथा ... धार्य हो जाता है, जिसमें रात्रि का बचाव ... सम्पर्क रात्रि भोजियों से ही रहता है तथा ... रात्रि भोजन करते हैं, इसलिये उनसे ... नार्थ] ... क्योंकि अशक्य है।

यहाँ पर कोई प्रश्न करे ? कि ... धार्य ही है, व्रत नहीं देना चाहिये। ... वाला आत्मा

निराकरण (उत्तर)-शास्त्रों ... के भेदों को पालन तक का अधिकार बताया है ... है। उन्हीं शील या पालन का सर्वथा निषेध नहीं ...।

विशेष :- इस छट्ठी प्रतिमा ... आरम्भ न करने का, स्वामी ...)

श्री पं० दौलतराम ...

प्रतिमाधारी के लिये कहा है ।

समाधि तन्त्र में इस प्रतिमाधारी को रात्रि में गमनागमन तक का निषेध किया है ।

स्त्रियें भी गृहस्थावस्था में अपनी शक्ति के अनुसार व्रतों का पालन कर सकती है । जैसे श्राविका को वस्त्र रखते हुए भी उपचार से महाव्रत माने गये हैं क्योंकि उसके त्याग की हद (सीमा) हो चुकी है ।

(७) ब्रह्मचर्य व्रत प्रतिमा :–

ब्रह्मचारी शुक्रशोणितबीज रस रुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जा शुक्रसप्त धातुमयमनेक स्रोतोबिलं अपवित्रं मूत्र पुरीष भाजनंकृमि-कुलाकुलं विविधव्याधिविधुरमपायप्रायं कृमिभस्मविष्टापर्यवसान-मंगमित्य नंगाद्विरतो भवति ।

अर्थ :– सातवी प्रतिमा का नाम ब्रह्मचर्य प्रतिमा है । इस प्रतिमा का पालन करने वाला ब्रह्मचारी समझा जाता है कि यह शरीर शुक्र, शोणित से (पिता के वीर्य और माता के रज से) बना हुवा है । रस, रुधिर, मांस, मेदा, हड्डी, मज्जा और शुक्र (वीर्य इन सातों धातुओं से भरा हुवा है अनेक इन्द्रिय ही इसके बिल हैं । मल मूत्र का यह बर्तन (पात्र) है, अनेक छोटे-छोटे कीड़ों के समूहों से भरा हुवा है अनेक तरह के रोगों से व्याप्त है प्रायः नश्वर है यानी नाश होने वाला है और अन्त में या तो इसमें अनेक कीड़े पड़ जावेंगे या जला दिया जावेगा अथवा जानवरादि खाकर विष्ठा (मैला) कर देंगे । इस प्रकार से शरीर को सप्तम प्रतिमाधारी नश्वर समझ कर, कामदेव से सदा विरक्त रहता है ।

यो न च याति विकारं युवतिजनकटाक्षबाणविद्धोपि ।
सत्वेत्रशूरशूरो न च शूरो भवेच्छूरः ॥
संसार बीज भूतं शरीरं दृष्टवा वीभत्समनङ्गत्वेन ।
पश्यन्नात्मान्यात्मानं स ब्रह्मचारी नैष्ठिकः ॥" [ज्ञानार्णव]

अर्थ :– संसार का बीजभूत, मल का घट इस शरीर को देख कर पुरुष पुरुष अन्य के अङ्गों का स्पर्श या व्यसन विषय रूप वासना को चितावना छोड़ कर ऐसे मर्यादित कार्य को मन, वचन, काय से त्याग देते हैं, वही पुरुष ब्रह्मचारी माने गये है क्योंकि अन्य के अङ्ग से अन्य के अङ्ग के घर्षण में अनन्त सम्मूर्छन

ोवों को प्रत्यक्ष हिंसा दिगती हैं यानी विषय सेवन से जीवों का विनाश
ोता है।

मैथुना चरणे मूढ म्रियन्ते जन्तुकोटयः ।
योनिरन्ध्रसमुत्पन्ना, लिङ्गसंघट्टपीडिता ॥२१-१३॥ [ज्ञानार्णव]

अर्थः– स्त्री रूप पदार्थ के गुप्त अङ्ग में सदा ही असंख्य सैनी पञ्चेन्द्रिय सम्मूर्छन जीव उत्पन्न होते रहते हैं। जो मैथुन सेवन से विनाश को प्राप्त होते हैं। हे मूढ ! ऐसी हिंसा से जीव संसार में महान् कष्ट, शोक, ताप, आक्रन्दन, और दुःख भोगता है, नरक निगोद का पात्र बन जाता है ऐसा समझकर पुण्यशाली जीवभी न तो काम सेवन करते हैं न उसका स्मरण करते हैं। वेहीप्राणी संसार रूप सागर से पार होते है तथा धन्य माने गये हैं।

तियथलवास प्रेमरुचि निरखन, दे परिक्ष भाखे मृदुबैन ।
पूर्व भोग केलिरस चिंतन, गुरुय अहार लेत चित्त चैन ॥
कर शुचि तन सिंगार बनावत, तिय पर्यंक मद्य सुख चैन ।
मन मथ कथा उदर भर भोजन, ये नव वाड़ि कही जिन बैन ॥

और भी कहा है :– [ना. स] पं० बनारसीदासजी

बैरागी अरु बांदरो, तीजी विधवा नारि ।
ये तीनों भूखा भला, धाया करे बिगार ॥
"अनंतशक्तिरात्मेति श्रुतिवस्त्वेव न स्तुतिः ।
यत्स्वद्रव्ययुगात्मैव, जगज्जैत्रं जयत्स्मरम् ॥" [ज्ञानार्णव]

अर्थः– इस कामदेव को जीतने की शक्ति इस आत्मदेव में ही है, क्योंकि आत्मा अनंत शक्तिशाली है; यह श्रुति (सिद्धांत) वास्तविक है, यथार्थ ही है, कोई स्तुति अर्थात् कोरी बड़ाई नहीं है। आत्म द्रव्य में लीन रहने वाला आत्मा ही जगत विजयी कामदेव को जीत लेता है। अठारह हजार शील के भेदों को समझकर उनके भङ्गाभङ्ग को बचाने से पूर्णशील पालन होता है। उन्ही शील के अठारह हजार (१८०००) भेदो का निरुपण करते हैं।

शील के १८ हजार भेद :–

स्त्री के मूल भेद दो हैं–(१) चेतन स्त्री (२) अचेतन स्त्री ।
चेतन स्त्री के तीन भेद हैं:– (१) मानुषी (२) देवी

(३) तिर्यचनी।

अचेतन स्त्री के तीन भेद हैं:—(१) काष्ठ की (२) पाषाण व मिट्टी की (३) चित्राम की (लेपक) इस प्रकारसे मिलाकर स्त्री छह प्रकार की होती है।

अष्टपाहुड़ शास्त्र में चेतन स्त्री संबंधी सतरह हजार दो सौ अस्सी (१७२८०) भेद उल्लिखित किये गये हैं।

सामान्य चेतन स्त्री के तीन भेद :— (१) मनुष्याणी (२) देवी (३) तिर्यचणी।

उपर्युक्त चेतन, अचेतन स्त्री के साथ पाप, मन से वचन से और काय से हुवा करता है, इन को गुणा करने से नव भेद (६) हुए। इनकी प्रवृति कृत, कारित और अनुमोदना से होती है इसलिये इनसे गुणा करने पर सताईस (२७) शील के भेद हुए; यह पाप पांचों इन्द्रियों से होता है इनके गुणा करने से तो कुल एक सौ पैतीस (१३५) हुए फिर चारों संज्ञाओं से विभक्त होने से इनसे गुणित करने पर पांचसौ चालीस (५४०) भेद हुए। द्रव्य से तथा भाव से गुणा करने पर (१०८०) हुए, फिर मूल कषाय के उत्तर भेद सोलह (१६) से गुणा करने पर १७२८० भेद हुए।

इस तरह स्त्री ३, मन, वचन, काय ३, कृत कारित अनुमोदना ३, इन्द्रिय ५, संज्ञा ४, द्रव्य-भाव २, कषाय १६, इनको परस्पर गुणा करने से चेतन स्त्री संबंधी १७२८० हुए। यथा--(३×३×३×५×४×२×१६=१७२८०)। अचेतन स्त्री संबंधी शील विराधना के ७२० भेद होते हैं, उनका खुलासा इस प्रकार है। अचेतन स्त्री के भेदः--(१) काष्ट (२) पाषाण (३) चित्रामकी। इनको मन, काय से गुणा किया, क्योंकि इनके वचन या कान तो है नहीं, जो इनसे कुछ कह कर समभावें, इसलिये ६ कोटि हुई, इनको मन के भाव से कृत, कारित अनुमोदना की प्रवृत्ति से गुणा किया तब अठारह (१८) भेद हुए। ये दोष पांचों इन्द्रियों से हुए इनको गुणा करने पर नव्वे (६०) भेद हुए, उनको चार संज्ञाओं से गुणा करने पर तीन सौ साठ (३६०) भेद हुए। ये दोष द्रव्य और भाव से होते है उनके गुणा करने पर ७२० हो गये। इस तरह स्त्री ३, मन और काय २, कृत कारित अनुमोदना ३, इन्द्रिय ५, संज्ञा ४, द्रव्य भाव २, को परस्पर (३×२×३×५×४×२=इस प्रकार गुणा करने से अचेतन स्त्री संबंधी सात सौ बीस (७२०) भंग हुए। चेतन स्त्री सम्बन्धी (१७२

-अचेतन स्त्री सम्बन्धी ७२० कुलयोग १८००० मिलाकर(अठारह हजार)भेद शील के हुए ।

इस प्रकार से भगवान् कुन्द कुन्दाचार्य (स्वामी) ने अष्टपाहुड़ के शील पाहुड़ में अठारह हजार भेद करके समझाया है कि शील बिना भवसागर पार नहीं होता ।

अतः शील समान इस संसार में कोई पदार्थ नहीं । शीलवान् प्राणियों की देव भी सेवा करके अपने को धन्य समझते हैं । कहा भी है :—

शील बड़ो संसार में, सब रत्नों की खान ।
तीन लोक की संपदा रही शील में आन ॥

विशेष :- शीलवान सप्तम प्रतिमाधारी नैष्ठिक ब्रह्मचारी होने पर अपने बच्चों का विवाह आदि भी स्वयं न करे व न करावे, अन्य कुटुम्बी ही करे व करावे ।

"सीलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिस्सेस आसवो जीवो ।
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि ॥६५॥ [गो०जी०]
शीलैश्यं संप्राप्तो निरुद्धनिः शेषास्रवो जीवः ।
कर्म रजो विप्रमुक्तो गतयोगः केवली भवति ॥

अर्थ :— जो अठारह हजार शील के भेदों का स्वामी हो चुका है और जिसके कर्मों के आने का द्वाररूप आस्रव सर्वथा बन्द हो गया है तथा सत्व और उदयरूप अवस्था को प्राप्त कर्मरूप रज की सर्वथा निर्जरा होने से जो उस कर्म से सर्वथा मुक्त होने के सम्मुख है, उस योग रहित केवली को चौदहवें गुणस्थान वर्ती अयोग केवली कहते हैं ।

भावार्थ :— आगम में शील के जितने भेद या विकल्प बताये हैं (कहे हैं) उन सब की पूर्णता यहीं पर होती है, इसलिये वह शील का स्वामी है और पूर्ण संवर तथा निर्जरा का सर्वोत्कृष्ट एवं अन्तिम पात्र होनेसे मुक्तावस्था के सम्मुख है । काययोग से भी वह रहित हो चुका है । इस तरह के जीव को ही चौदहवें गुण स्थान वाला अयोग केवली कहते हैं ।

आगम में शील के अठारह हजार भेदों को अनेक प्रकार से बताये हैं; किन्तु उनमें से एक प्रकार जो कि भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने स्वरचित मूलाचार के शीलगुणाधिकार में बताया है उसे ही यहाँ लिखे हैं ।

"जोए करणे सण्णा, इंदिय भोम्मादि समणधम्मे व ।
अण्णोण्णेहि अमत्था, अट्ठारस सील सहस्साइं ॥२॥

अर्थ :- तीन योग, तीन करण, चार सञ्ज्ञाएँ, पाँच इन्द्रिय, दश पृथ्वीकायिक आदि जीव भेद और दश उत्तमक्षमा आदि श्रमण धर्म इनको परस्पर गुणा करने पर शील के अठारह हजार (१८०००) भेद होते हैं।

३ योग, (मनोयोग, वचनयोग, काययोग) ३ अशुभ के लिये प्रवृत्ति करना करण (कृत, कारित, अनुमोदना) है। ४ संज्ञा (आहार, भय, मैथुन, परिग्रह)। ५ इन्द्रिय (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र)। १० जीव भेद (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येक, साधारण वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय)। १० धर्म (उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन, ब्रह्मचर्य)। ($३\times३\times४\times५\times१०\times१०=१८०००$)।

(८) आरंभत्याग प्रतिमा :-

आरम्भविनिवृत्तोऽसिमसिकृषि वाणिज्यप्रमुखादारंभात्प्राणातिपातहेतोर्विरतो भवति।

अर्थ - आठवीं प्रतिमा आरम्भ त्याग है इस प्रतिमा को धारण करने वाला श्रावक प्राणियों की हिंसा होने के कारण असि, मसि, कृषि, वाणिज्य आदि आरम्भों से विरक्त रहता है अर्थात् उनका त्याग कर देता है।

जो आरंभं ण कुणदि अण्णं कारयदि णेय अणुमण्णो।
हिंसासंतट्ठमणो, चत्तारंभो हवे सोहि ॥३८५॥ [स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा]

अर्थ :- जो श्रावक गृह कार्य सम्बन्धी कुछ भी आरम्भ न करे, अन्य से नहीं करावे, करे उसको भला नहीं माने, सो हिंसा से भयभीत आरम्भ त्याग प्रतिमाधारी है।

शंका - आरम्भ त्यागी को कदाचित् कोई भोजन के लिये न बुलावे तो स्वयं [illegible] करे या नहीं, उसमें निमन्त्रण लगावे या नहीं?

समाधान :- आरम्भ त्यागी को पहले अपना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव देख लेना चाहिये कि इस [illegible] आहार लाभ हुई है या नहीं। प्रथम तो धर्मात्मा [illegible] कि उसे धर्म के साधन न मिले या [illegible]। आरम्भ त्यागी को ऐसे क्षेत्र में जाना ही नहीं चाहिये [illegible]। [illegible] बिना बुलाये पोटे की तरह न [illegible]

हमेशा अपने सरीखे त्यागी व्रतियो के साथ ही रहे जिससे सर्वदा धर्म साधन बनता रहे। अकेला फिरने से व्रती भी स्वच्छन्द प्रमादी और दूषण युक्त हो जाता है। जैसा कि बहुधा आज कल देखा जाता है। अत. इस स्वच्छन्दता से बचे। धर्मात्मा जब यह प्रतिमा ग्रहण करे तब देखे कि मेरी स्त्री या मेरा पति या पुत्र बान्धवादि मुझे धर्म साधन करावेंगे या नहीं, तब जैसा अवसर हो वैसा व्रत धारण करे तो ठीक, अन्यथा व्रत लेकर छोडने से स्वयं का पतन और धर्म की हँसी होती है। इसलिये इतनी कषाय दब गई हो तभी ये व्रत ग्रहण करे। कहा भी है :-

यो मुमुक्षुरघाद्बिभ्यत्त्यक्तुं भक्तमपीच्छति।
प्रवर्तयेत्कथमसौ प्राणिसंहरणीः क्रियाः ॥२२ अ. ७॥ [सा०ध०]

अर्थ :- जो (मुमुक्षु) मोक्ष की इच्छा करने वाला आरंभ त्यागी पापसे डरता हुवा, भोजन को भी छोड़ने की इच्छा करता है वह जीवों को नाश करने वाली क्रिया कैसे करायेगा ?

प्रतिमा धारण करने के पहिले उस व्रत का स्वरूप पूरी२ तरह समझ लेवे, बाद मे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव देखे, उचित होवे और पल सके तो व्रत-रूप प्रतिमा ग्रहण करे अन्यथा नही, केवल देखा देखी करने से तो व्रत भ्रष्ट और पापी होना पड़ता है जिससे बड़ा अकल्याण होता है क्योकि स्वरूप समझे बिना पालन कैसा ? सप्तम प्रतिमा तक अपनी आजीविका सम्बन्धी सब काम अपने हाथ मे कर सकता है जैसे भोजन बनाना, पानी लाना, स्वतंत्र रूप से इधर-उधर जाना आदि। इस प्रतिमा में नहीं कर सकता क्योंकि यह पद ऊँचा है, अपने घर मे योग्य पुत्रादि होवें तो आरंभ त्याग करे, नहीं तो सप्तम प्रतिमा में ही बना रहना ठीक है। उच्च पदस्थ होकर नीचा आचरण करके 'ऊँची दूकान फीके पकवान' इस कहावत को चरितार्थ न करे। इस प्रतिमाधारी को सवारी मात्र का त्याग कर देना चाहिये, क्योंकि-(१) वसुनन्दि श्रावकाचार (२) गुरुपदेश श्रावकाचार (३) भगवती आराधना आदि शास्त्रों का कथन है कि सवारी चेतन हो या अचेतन उनमें जीव हिंसा हुये बिना रह नहीं सकती, इसलिये इसका त्याग बिना आरंभ त्याग के कैसा? सवारी मे बैठने में स्वाधीनता तथा विरक्ति का तो नाश हो ही जाता है। हाँ नदी पार जाना आदि अनिवार्य होवे तो नाव में बैठने का त्याग नहीं है क्योंकि इसमें प्रमाद

यथाभागविधानं संनिवेशाविभावकं यद्वचस्तत्संयोजनासत्यंद्वार्वि
शज्जनपदेष्वार्यानार्यभेदेषु धर्मार्थ काममोक्षाणां प्रापकं यद्वचस्तज्जन-
पदसत्यं, राजराणकमित्यादि। ग्रामनगरराजगणपाखण्डजातिकुलादि-
धर्माणामुपदेशकं यद्वचस्तद्देशसत्यं ग्रामोवृत्याऽवृत इत्यादि।
छद्मस्थज्ञानस्य द्रव्ययाथात्म्यादर्शनेऽपि संयतस्य संयतासंयतस्य वा
स्वगुणपरिपालनार्थं प्रासुकमिदमप्रासुकमित्यादि यद्वचस्तद्भावसत्यं।
प्रतिनियतषट्द्रव्यपर्यायाणामागमगम्यानां याथात्म्याऽऽविष्करणं
यद्वचस्तत्समयसत्यं, समयोत्तरवृद्धया वालो युवा पल्योपम इत्यादि।
सत्यवाचि प्रतिष्ठिताः सर्वगुणसम्पदः, अनृताभिभाषिणं बन्धवोऽप्यव
मन्यन्ते, मित्राणि च विरक्तभावमुपयान्ति, विषान्न्यु दकादीन्यप्येन
न सहन्ते, जिह्वाच्छेदसर्वस्वहरणादिव्यसनभागभवतीति।

अर्थ :– श्रेष्ठ पुरुषों के लिये उत्तम वचन कहना सत्य है। वह सत्य दश प्र
का है। (१) नाम, (२) रूप, (३) स्थापना, (४) प्रतीत्य, (५) संवृ
(६) संयोजना, (७) जनपद, (८) देश, (९) भाव और (१०) समय स

१. नाम सत्य :– सचेतन व अचेतन पदार्थ का चाहे वह अर्थ न भी निर
हो तो भी केवल व्यवहार चलाने के लिये जो किसी की संज्ञा रक्खी जा
उसको नाम सत्य कहते है। जैसे किसी पुरुष का अथवा किसी अचेतन प
का केवल व्यवहार मे पहिचानने के लिये कोई इन्द्र नाम रख लें तो वह
सत्य कहलाता है।

२. रूप सत्य :– पदार्थ के उपस्थित न रहने पर भी केवल उसके रू
देखकर उस पदार्थ का नाम कहना रूप सत्य है। जैसे किसी पुरुष के बना
चित्र में यद्यपि चैतन्य का संयोग नहीं है तथापि उसे पुरुष कहना रूपसत्य

३. स्थापना सत्य :– पदार्थ के नहीं होने हुए भी किसी कार्य के लिये
स्थापना करना स्थापना [illegible] को [illegible] चन्द्रप्र
स्थापना करना।

४. प्रतीत्य सत्य :– [illegible] अनादि [illegible]
है उसकी अपेक्षा से कहना [illegible] उत
[illegible] स
[illegible]

५. संवृति सत्य :— लोक में रूढ शब्दों का कहना संवृतिसत्य है। जैसे कमल, पृथिवी (पृथ्वी) आदि अनेक कारणों से उत्पन्न होता है तथापि उसे केवल कीचड़ से उत्पन्न होने के कारण पङ्कज कहना संवृति सत्य है।

६. संयोजना सत्य :— सुगंधित धूप, चूर्ण, वासना और उबटन लेप आदि द्रव्यों में पड़ने वाली चीजों का अलग-अलग विभाग करना तथा पद्मव्यूह, मकरव्यूह, हंसव्यूह, सर्वतोभद्रव्यूह और क्रौंचव्यूह आदि की रचना का अनुक्रम कहना संयोजना सत्य कहलाता है।

७. जनपद सत्य :— आर्य, अनार्य आदि के भेद से जो अनेक देश हैं उन देशों में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को बतलाने वाले अलग-अलग शब्द व वचनों का कहना जनपद सत्य है। जैसे किसी देश में राजा कहते हैं, किसी देश में राणा कहते हैं।

८. देश सत्य :— गांव, नगर, राज, गण, पाखण्ड, जाति तथा कुल आदि के धर्मों का उपदेश करने वाले उनका स्वरूप बतलाने वाले वचनों को देश सत्य कहते हैं। जैसे—जो बाड़ से घिरा हो उसे गांव कहते हैं।

९. भावसत्य :— अन्य ज्ञानियों को द्रव्यों के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं होता है तथापि संयमी मुनि अथवा संयतासंयत श्रावक अपने गुणों का पालन करने के लिये 'यह प्रासुक है' यह 'अप्रासुक' है, इत्यादि जो वचन कहते हैं उसे भावसत्य कहते हैं।

१०. समयसत्य :— शास्त्रों में जो [illegible] पर्यायों का यथार्थ स्वरूप प्रगट करना समयसत्य है। जैसे—[illegible] की वृद्धि होने के कारण [illegible] इत्यादि। इस प्रकार दश प्रकार के व्यवहार सत्य हैं। [illegible]

(६) सत्यधर्मः — संयतो [illegible]। [illegible]

उपेक्षा संयमः । अपहृत संयमस्य समितयः कार्यास्ता उच्यन्ते। ईर्याभाषैषणाऽऽदाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः । तत्रेर्यासमितिर्नामकर्मोदयाऽऽपादित विशेषैकद्वित्रिचतुः पञ्चेन्द्रियभेदेन चतुर्द्विद्विद्विश्चतुर्विकल्पचतुर्दशजीवस्थानाऽभिधानवेदिनो मुनेर्धर्मार्थं प्रयतमानस्य सवितर्युदिते चक्षुषोर्विषयग्रहण सामर्थ्यमुपजनयतः । मनुष्यहस्त्यश्वशकटगोकुलादिचरणपातोपहतावश्याय प्रालेयमार्गेऽनन्यमनसः शनैर्न्यस्तपादस्य संकुचितावयवस्योत्सृष्टपार्श्वं दृष्टेयुगमात्रपूर्वनिरीक्षणावहितलोचनस्य स्थित्वा दिशो विलोकयतः पृथिव्याद्यारंभाभावादीर्यासमितिरित्याख्यायते । हितमितासंदिग्धाभिधानं भाषासमितिः मोक्षपदप्रापणप्रधान फलं हितं तद्द्विविधं, स्वहितं, परहितं चेति मितमनर्थक बहुप्रलपनरहितं । स्फुटार्थव्यक्ताक्षरं वाऽसंदिग्धत्वं तस्याः प्रपंचो मिथ्याभिधाना । सूयाप्रियसंभेदाल्पसारशंकितभ्रान्तकषायपरिहाससंयुक्तासभ्यशयननिष्ठुरधर्मविरोधिदेशकालविरोध्यसंस्तवादिवाग्दोषविरहिताभिधानं । अनगारस्य मोक्षकप्रयोजनप्राणिदयातत्परस्यकायस्थित्यर्थं प्राणयात्रानिमित्तं तपोवृंहणार्थं चर्यानिमित्तं पर्यटतः शीलगुणसंयमादिकं संरक्षतः संसारशरीर.. निर्वेदत्रयं भावयतो दृष्टवस्तुयाथात्म्यस्वरूपं चिन्तयतो देशकालसामर्थ्यादिविशिष्टमगर्हितमभ्यवहरणंनवकोटिपरिशुद्धमेषणासमितिः । षट्जीवनिकायस्योपद्रव उपद्रवणं । अङ्गच्छेदनादिव्यापारो विद्रावणं । संतापजननं परितापनं । प्राणिप्राणव्यपरोपणमारंभः । एवमुपद्रवणविद्रावणपरितापनारंभक्रियया निष्पन्नमन्नं स्वेन कृतं परेण कारितं वाऽनुमनितं वाऽधःकर्म (जनितं) तत्सेविनोऽशनादितपांस्यभ्रावकाशादियोगा वीरासनादियोगविशेषाश्च भिन्नभाजनभरितामृतवत्प्रक्षरन्ति ततश्च तदभक्ष्यमिव परिहरतो भिक्षोः परकृत प्रशस्त प्रासुकाऽऽहार ग्रहणेपि षट्चत्वारिंशद्दोषा भवन्ति । तद्यथा— षोडशविधा उद्गमदोषाः षोडशविधा उत्पादनदोषाः, दशविधा एषणादोषाः संयोजनाप्रमाणांगारधूमदोषाश्चत्वारः एतैर्दोषैः परि-

र्जितमाहारग्रहणमेषणासमितिरिति ।

अर्थ :– संयम दो प्रकार का है–एक उपेक्षा संयम और दूसरा अपहृत संयम ।

(१) उपेक्षा संयम :– जो मुनि देश और काल के विधानों के जानकार है अन्य किसी की रोक टोक न होने से जिनका शरीर अति उत्तम है जो मन, वचन, काय के तीनों योगों का निग्रह अच्छी तरह करते है और तीनो गुप्तियो का पालन अच्छी तरह करते हैं, ऐसे मुनियोंके राग द्वेप का अभाव होना उपेक्षा सयम है (२) । अपहृत संयमी मुनि को समितियो का पालन करना चाहिये । आगे उन्हीं समितियों को कहते है–(१) ईर्या, (२) भाषा, (३) एपणा, (४) आदाननिक्षेप और (५) उत्सर्ग ये पाँच समिति है ।

(१) ईर्या समिति :– संक्षेप में जीवो के चौदह भेद हैं–स्थूल एकेन्द्रिय पर्याप्तक, स्थूल एकेन्द्रिय अपर्याप्तक, सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक, सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्तक ये चार तो एकेन्द्रिय के भेद, द्वीन्द्रिय पर्याप्तक, अपर्याप्तक ये दो, दो इन्द्रिय के भेद, त्रीन्द्रिय पर्याप्तक, अपर्याप्तक ये दो त्रीन्द्रियके भेद हैं । चौइन्द्रिय पर्याप्तक, अपर्याप्तक ये दो चौइन्द्रियके भेद, पञ्चेन्द्रिय सैनी पर्याप्तक,अपर्याप्तक पञ्चेन्द्रिय असैनी पर्याप्तक, अपर्याप्तक ये चार पञ्चेन्द्रिय के भेद है । इस प्रकार चौदह भेद है और ये सब अपने-अपने नामकर्म के विशेष उदय से प्राप्त होते हैं । जो मुनि इन चौदह जीव स्थानो के भेदो को अच्छी तरह जानते हैं, जो केवल धर्म के लिये ही गमन करते है सो भी सूर्य के उदय हो जाने पर तथा जिनके नेत्रों मे अपने विषय ग्रहण करने की सामर्थ्य है वे ही गमन करते है । मनुष्य, हाथी, घोडे गाडियो, गाय, भैंस आदि के खुरो से जिसकी ठडक निकल गई है ऐसे ठण्डे मार्ग में उसी में अपना चित्त लगा कर धीरे-धीरे अपने चरण रखते हुए शरीर को संकुचित कर अगल-बगल से दृष्टि हटा कर केवल आगे की चार हाथ जमीन पर अपनी दृष्टि डालते हुए चलते है यदि किसी दूसरी ओर या सामने भी अधिक दूर तक देखने की आवश्यकता होती है तो खडे होकर देखते हैं । उनके इस प्रकार चलने मे पृथ्वी आदि का कोई आरंभ नहीं होता इसलिये उसे ईर्यासमिति कहते है ।

(२) भाषासमिति :– हित मित और सन्देह रहित वचनो को भाषा समिति कहते है । मोक्ष पद की प्राप्ति रूप जो प्रधान व मुख्य फल मिलता है उसको हित कहते हैं वह दो प्रकार का है–एक अपना हित करना और दूसरा अन्य लोगों का हित करना । अनर्थक वचन न कहना तथा बहुत सा बकवाद न

करना मित्र है। [illegible] और [illegible] [illegible] में हो [illegible] है। [illegible] [illegible] (४) [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है, [illegible] [illegible] [illegible] लिये हुए वचन कहना। [illegible] [illegible] करना, [illegible] विरोधी, [illegible] [illegible] स्तुति करना आदि दोषों से रहित वचन [illegible] भाषा समिति का विस्तार है।

(२) एषणासमिति — [illegible] मुख्य प्रयोजन है जो प्राणियों की दया करने में ही सदा तत्पर रहते हैं शरीर की स्थिति के लिये व प्राणों की यात्रा के लिए अथवा सम्यग्दर्शन की वृद्धि के लिये जो चर्या के लिये (आहार के लिये) विहार करते हैं शील, गुण और संयमादि की रक्षा करते हैं। संसार शरीर और भोग इन तीनों से उत्पन्न हुए वैराग्य का सदा चिन्तवन करते रहते हैं। जो देखे हुए पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का विचार करते हैं, ऐसे परिग्रह रहित मुनि देश काल आदि की सामग्री सहित तथा नव-कोटिविशुद्धियों सहित जो निर्दोष आहार ग्रहण करते हैं उसको एषणा समिति कहते हैं। षट्काय के (छह प्रकार के) जीव समूहों के लिये उपद्रव होना उप-द्रवण है, जीवों के अङ्ग छेद आदि व्यापार को विद्रावण कहते हैं। जीवों को संताप (मानसिक व अन्तरङ्ग पीड़ा) उत्पन्न होने को परितापन कहते हैं। प्राणियों के प्राण नाश होने को आरंभ कहते हैं। इस प्रकार उपद्रवण, विद्रावण, परितापन; आरंभ क्रियाओं के द्वारा जो आहार तैयार किया गया हो, जो अपने हाथ से किया है, दूसरे से कराया हो अथवा करते हुए की अनुमोदना की हो या जो नीच कर्मों से (नीच कर्मों के द्वारा की हुई कमाई से) बनाया गया हो ऐसे आहार को ग्रहण करने वाले मुनियों के उपवास आदि तपश्चरण, अभ्रा-वकाश आदि योग और वीरासन आदि विशेष योग सब फूटे बर्तन में भरे हुए अमृत के समान निकल जाते हैं मानों नष्ट हो जाते हैं। इसलिये मुनिराज ऐसे आहार को अभक्ष्य के समान समझकर त्याग कर देते हैं और दूसरे के द्वारा किया हुवा, प्रशस्त (निर्दोष) और प्रासुक आहार ग्रहण करते हैं, इस प्रकार प्रासुक और निर्दोष आहार ग्रहण करते हुए भी उनके छियालीस दोष होते हैं।

सोलह प्रकार के उद्गम दोष, सोलह प्रकार के उत्पादन दोष, दश

…कार के एषणादोष और संयोजना, अप्रमाण, अङ्गार तथा धूम चार ये दोष इस प्रकार से छियालीस दोष होते हैं। इन सब दोषों को टाल कर आहार ग्रहण करना एषणा समिति है।

तथा चोक्तमपरग्रन्थे :—

अर्थ :— यही बात किन्हीं दूसरे ग्रन्थों में लिखी है।

सोलह उद्गमादि दोष :—

अद्धा कम्मुदेसिय अज्झोवज्झेय पूदि मिस्सेय।
ठविदे वलि पाहुडिय पादुक्कारेय कीदेय ॥
पामिच्छे परिपट्टे अभिहडमुभिन्न मालमारोहे।
अच्छिज्जे अणिसिद्धे उग्गमदोसो दु सोलसमो ॥

अद्धाकम्मं गृहस्थाश्रितं पंचशूनोपेतं निकृष्टव्यापारं षट्जीवनि-कायवधकरं षट्चत्वारिंशद्दोषबाह्यं उद्देसिय उदेश्यदेयं। अज्झोवज्झेय …ति दृष्ट्वाऽधिक पाकप्रवृत्तिः। पूदि अप्राशुक मिश्रिताहारः। …स्सेय असंयतैः सह भोजनं। ठविदे पाकभाजनादन्यत्र निक्षिप्तं। …लि यक्षादिदत्त नैवेद्यशेषं, पाहुडिय कालं परावृत्य दत्तं। पादुकारेय …क्रमणप्रकाशनरूपं। कीदेय-क्रीतानीतं पामिच्छे उद्धारानीतं। परि-… परावृत्याऽऽनीतं। अभिहडं देशान्तरागतवस्तु। उधिभिन्न …द्भिन्नं बंधापनयनं। मालारोहणमालामारुह्य दत्तं। अच्छिज्जे …स्वाद्दत्तं अणिसिद्धे निःश्रेण्यादिकमवरुह्य दत्तं। एते षोडशोद्गम …षाः भवन्ति।

…शेष-दाता के सोलह उद्गम दोष :— (१) उद्दिष्ट दोष, (२) अध्यधिदोष, …) पूतिदोष, (४) मिश्रदोष, (५) स्थापितदोष, (६) बलिदोष, (७) …तदोष, (८) प्रादुष्करदोष, (९) क्रीतदोष, (१०) प्रामृष्यदोष, (११) …र्तिकदोष, (१२) अभिहृतदोष, (१३) उद्भिन्नदोष, (१४) मालारोहण-… (१५) अच्छेद्यदोष, (१६) अनिसृष्टदोष। ये सोलह दोष गृहस्थ दान …की तरफ से होते हैं।

-अधःकर्मदोष इन गाथाओंमें सोलह उद्गमदोष बतलाये हैं जिन्हे टालकर मुनि-आहार लेतेहैं। इनके सिवाय एक अध-कर्मदोष बतलाया हैजो छियालीस दोषोंमे

(५)भिक्षाशुद्धि (६)प्रतिष्ठापना शुद्धि (७)शयनासनशुद्धि और (८)वाक्
ये आठ शुद्धियां हैं। जिस प्रकार दीवार शुद्ध होने से उस पर बनाया हुआ
प्रकाशित होता है वैसे ही आठ शुद्धियोंके पालने से आत्मा निर्मल(चारित्र)व

१. भावशुद्धि —

कर्मों के क्षयोपशम होने के कारण जो मोक्ष मार्ग में रु
श्रद्धा होती है और उस श्रद्धा के कारण जो आत्मा में प्रसन्नता व नि
(निर्मलता) होती है जो कि रागद्वेष आदि सब उपद्रवोंसे रहित होती है
भावशुद्धि कहते हैं।

२. कायशुद्धि :—

कायशुद्धिर्निरावरणा निरस्तसंस्कारा यथाजातमलध
निराकृताङ्गविकारा सर्वत्रप्रयत्नवृत्तिः प्रशममूर्तिमिव प्रदर्शयन्त
सत्यां न स्वतोऽन्यस्य भयमुपजायते नाप्यन्यतः स्वस्य।

अर्थ :— जिसके शरीर पर कोई आवरण व वस्त्रादिक नहीं है जिसके
सब त्याग दिये गये हैं, जिसके अङ्गों के विकार छोड़ दिये गये है, जिस
सब जगह बड़े प्रयत्न से की जाती है, जो शान्तमूर्ति के समान दिखाई
और जो उत्पन्न हुये के समान है ऐसे शरीर को धारण करना काय
ऐसी कायशुद्धि के होने पर न तो अपने से किसी दूसरे को भय रहता
किसी दूसरे से अपने को भय होता है।

३. विनय शुद्धि :—

विनयशुद्धिरर्हदादिपरमगुरुषु यथा र्हत्पूजाप्रवणा ज्ञानादि
च यथाविधिभक्तियुक्ता गुरोः सर्वत्रानुकूलवृत्तिः प्रश्नस्वाध्याय
वाचनाकथाविज्ञापनादिषु प्रतिपत्तिकुशला देशकालभावावबो
निपुणाऽऽचार्यानुमतचारिणी तन्मूलाः सर्वसंपदः सैव भूषा पुरुष
सैव नौः संसारसमुद्रोत्तरणे।

अर्थ :— अरहन्त आदि पाँचों परमेष्ठियोंका यथायोग्य पूजा और विनय क
ज्ञानादिक की विनय करना अर्थात् विधि और भक्ति पूर्वक सब कार्यों मे
जगह गुरु के अनुकूल प्रवृत्ति रखना, प्रश्न, स्वाध्याय, वाचना और कथा क
आदि कार्यों के करने में कुशलता रखना, देश का ज्ञान, समय का ज्ञान
भाव के ज्ञान में निपुणता रखना तथा सदा आचार्य की आज्ञानुसार च

विनयशुद्धि है। यह विनय शुद्धि ही सब तरह की संपदाओं की मूलकारण है, यही पुरुष के लिए आभूषण है और यही संसार रूपी महासागर से पार कर देने के लिये नाव है। ४. ईर्यापथ शुद्धि :—

ईर्यापथशुद्धिर्नानाविधजीवस्थानानांयोनीनामाश्रयाणामेव बोधाज्जनितप्रयत्नपरिहृतजन्तुपीड़ाज्ञानादित्यस्वेन्द्रिय प्रकाशनिरीक्षितदेशगामिनी द्रुतविलम्बितसंभ्रांतविस्मितलीलाविकारादिदोषविरहितगमना तस्यां सत्यां संयमः प्रतिष्ठितो भवति विभव इव सुनीतौ।

अर्थ :— अनेक प्रकार के जीवों के स्थान जीवों की योनियां और जीवों के आधारभूत आश्रयों का ज्ञान होने से जिसमें जीवों की पीड़ा दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है और ज्ञान, सूर्य तथा अपनी इन्द्रियों के प्रकाश से [illegible] देखकर गमन किया जाता है तथा जल्दी, धीरे, संभ्रम करना, आश्चर्य [illegible] लीला विकार और दिशाओं का अवलोकन आदि दोषों से रहित [illegible] जाता है उसको ईर्यापथ शुद्धि कहते है। जिस प्रकार सुनीति [illegible] विभव ठहरता है उसी प्रकार ईर्यापथशुद्धि के रहते हुए ही संयम [illegible]

५. भिक्षा शुद्धि :—

भिक्षाशुद्धिः परीक्षितोभयप्रचारा प्रमृष्ट पूर्वा[illegible]विधानाऽऽचारसूत्रोक्तकालदेशप्रकृतिप्रतिपत्तिकुशला [illegible]मानसमानमनोवृत्तिः गीतनृत्यप्रसूतिकामृतक[illegible]दीनानाथदानशालायजनविवाहादिमङ्गलगृह[illegible] [illegible]रिव हीनाधिकगृहविशिष्टोपस्थाना लोकगर्हित[illegible]दीनवृत्तिविगमा प्रासुकाऽऽहारगवेषणाप्र[illegible]निरवद्यसनपरिप्राप्तप्राणयात्राफला तत्प्रतिबद्धा हि [illegible] से साधुजनसेवानिबन्धना सा लाभालाभयोः[illegible] वद्भिर्भिक्षेति भाष्यते। (५)

अर्थ :— जिसमें बाह्य और अन्तरङ्ग [illegible] जिसमें दाता के शरीर की शुद्धि तथा [illegible] नीना सब विधियें की गई है। आचार सूत्रों [illegible] [illegible] [illegible] अनुसार जिसमें नवधाभक्ति की [illegible] गई है।

मिलने मे तथा मान और अपमान होने में जिसमें अपने मन की प्रवृत्ति सम रक्खी गई है। जिस भिक्षा मे गीत नृत्य होने वाले घर, जिसमे प्रसूति हुई हो अथवा कोई मर गया हो, जिसमें शराब बेची जाती हो, जो वेश्या का घर हो अथवा जिसमे कोई पापकर्म होता हो, जो दीन का घर हो, अनाथ का घर हो, जो दानशाला हो, यज्ञादि करने का घर हो अथवा जिसमें विवाह आदि मङ्गल कार्य हो ऐसे घर छोड़ दिये जाते हैं। चन्द्रमा की गति के समान जिसमें छोटे बड़े सब घरों मे प्रवेश करना पड़ता है। जो कुल व घर, लोक मे निंदित गिने जाते हैं वे घर जिसमे छोड़ दिये जाते हो जिसमें अपनी दीनवृत्ति धारण करनी पडती हो और उदासीनता पूर्वक प्रासुक आहार ही ढूंढा जाता हो और शास्त्रो में कहे हुए निर्दोष भोजन के द्वारा प्राणों की रक्षा करना जिसका फल समझा जाता हो वह लाभ, अलाभ (भोजन का मिलना न मिलना इन दोनों में) तथा सरस और विरस (रस सहित व नीरस) में समान संतोष रखने वाले मुनियो की भिक्षा कहलाती है। ऐसी भिक्षा से ही चारित्र रूपी संपदा और गुण ठहर सकते है और भिक्षा ही सपदा के समान साधु लोगों की सेवा करने का कारण होती है। ऐसी भिक्षा की शुद्धि रखना भिक्षाशुद्धि कहलाती है।

भिक्षा शुद्धि के पांच भेद दृष्टान्त द्वारा आचार्य समझाते हैं:-

भिक्षाशुद्धिपरस्य मुनेरशनं पञ्चविधं भवति, गोचाराक्षम्रक्षणोदराग्निप्रशमनभ्रमराहारश्वभ्रपूरणनामभेदेन यथा सलीलसालंकारयुवतिभिरुपनीयमानघासे गौर्न तदंगगतसौन्दर्यंनिरीक्षणपरस्तृणमेवाऽत्ति यथा वा तृणोलपं नानादेशस्थं यथा लाभमभ्यवहरति, न योजनासंपदमपेक्षते तथा भिक्षुरपि भिक्षापरिवेषकजनमृदुललिततनुरूपवेषाभिलापविलोकननिरुत्सुक शुष्कद्रवाहारयोजनाविशेषं चानवेक्षमाणो यथाऽऽगतमश्नातीति गौरिव चारो 'गोचार' इति व्यपदिश्यते यथा गवेषणेति च। यथा शकटी रत्नभारपूर्णा येन केनचित् स्नेहेनाक्षलेपं कृत्वाऽभिलषितदेशान्तरं वणिगुपनयति तथा मुनिरपि गुणरत्नभरितां तनुशकटीमनवद्यभिक्षाऽऽयुरक्षम्रक्षणेनाभिप्रेतसमाधिपत्तनं प्रापयतीति "अक्षम्रक्षण" मिति च नाम रूढं। यथा भाण्डागारे समुत्थितमनलं शुचिनाऽशुचिना वा वारिणा प्रशमयति गृही तथा यतिरपि नाऽऽग्नेन यतिरप्युदराग्निं सरसेन विरसेन वाऽऽहारेण प्रश-

मयतीत्युदराग्निप्रशमनमिति च निरुच्यते। दातृजनबाधया विना कुशलो मुनिर्भ्रमरवदाहरतीति भ्रमराहार इत्यपि परिभाष्यते। येन केन चित्कृतचारेणश्वभ्रपूरणवदुदरगर्त्तमनगारः पूरयति स्वादुनेतरेणवेति श्वभ्रपूरणमिति च निगद्यते। प्रतिष्ठापनशुद्धिपरःसंयतो नखरोमसिंघाणकनिष्ठीवनशुक्रोच्चारप्रस्रवणशोधने देहपरित्यागे च विदितदेशकालो जंतूपरोधमन्तरेण यत्नं कुर्यात्प्रयतते। संयतेन शयनासनशुद्धिपरेण स्त्रीक्षुद्रचौरपानाक्षशौंडशाकुनिकादिपापजनावासा वर्ज्याः श्रृङ्गारविकारभूषणोज्ज्वलवेषवेश्याक्रीडाभिरामगीतनृत्यवादित्राकुलप्रदेशा विकृताङ्गगुह्यदर्शनकाष्ठमयालेख्यहास्योपभोगमहोत्सववाहनदमनायुधव्यायामभूमयश्च रागकारणानीन्द्रियगोचराः मदमानशोककोपसंक्लेशस्थानादयश्च परिहर्तव्याः, अकृत्रिमा गिरिगुहतरुकोटरादयो कृत्रिमाश्च शून्यागारादयो मुक्तमोचितावासा अनात्मोद्देशनिर्वर्तिता निरारंभाः सेव्याः। तत्र [illegible] त्रिविधो निवासः, स्थानमासनं, शयनंचेति। पादौ चतुरंगुलान्तरौ [illegible] घस्तिर्यगूर्ध्वाऽन्यतममुखो भूत्वा यथाऽऽस्मानं [illegible] सदृशः कर्मक्षयप्रयोजनोऽसंक्लिष्टमतिस्तिष्ठेत्, [illegible] ऽप्रतिज्ञातः पर्यंकादिभिराशनैरासीत, [illegible] वैकपार्श्वबाहूपधानसंवृतांगादिभिरल्पकालं [illegible]।

भिक्षाशुद्धि के पांच भेद दृष्टान्त [illegible] है — [illegible] नुसार

अर्थ :— भिक्षा शुद्धि मे सदा तत्पर [illegible] के बिना का है। (१) गोचर (२) अक्षम्रक्षण (३) [illegible] (४ [illegible] नी आत्मा (५) श्वभ्रपूरण ये उसके नाम है। [illegible] दि इन प्रकार

अन्य जैन ग्रन्थों में मुनिगणों [illegible] नी प्रतिमा कथन किया है — [illegible] जाना

(१) गोचरी (२) भृमरी (३) [illegible]

गरतपूरण ये पाँच भेद भिक्षा [illegible]

(क) गोचरी आहार — [illegible]

(विनोद) पूर्वक आभूषण [illegible]

अपने नाखून, केश, नाक (नासिका) का मल, थूक, वीर्य, मल, मूत्र आदि के शुद्ध करने में अथवा शरीर का परित्याग करने मे देश और काल दोनों को अच्छी तरह समझकर जीवों को किसी तरह की रुकावट किये बिना ही प्रयत्न करते हुए अपना वर्ताव करना चाहिये यही प्रतिष्ठापन भिक्षाशुद्धि है।

(७) शयनासनशुद्धि :- इसमें तत्पर रहने वाले मुनिराजो को स्त्रियों का निवास स्थान, क्षुद्रजीव, चोर, जुआरी, मद्य पीने वाले और पक्षी पकड़ कर अपनी जीविका करने वाले आदि पापी लोगो का निवास स्थान छोड देना चाहिये। जहां पर विकृत अङ्गों के तथा गुह्य चीजोंके काठ (काष्ठ) व रङ्ग के चित्र बने हों, जो हँसी करने की, भोगोपभोग सेवन करने की, कोई बड़ा उत्सव करने की, सवारी के घोड़ा आदि जानवरों के दमन करने की, शस्त्र रखने की और व्यायाम करने की जगह हो, जहां पर इन्द्रियों से दिखाई न देने वाले भी राग उत्पन्न करने वाले साधन हो तथा जो मद, अभिमान, शोक, कोप (क्रोध) और संक्लेश के स्थान हो वे सब छोड़ देने चाहिये। जो अपने निमित्त से बनाए नही गए हैं और जिनके बनने बनाने मे अपनी ओर से किसी तरह का आरंभ नही हुआ है ऐसे स्वाभाविक रीति से (अकृत्रिम) बने हुए पर्वत की गुफायें व वृक्षों के कोटर आदि या बनवाये हुए सूने मकान (वसतिका) आदि अथवा जिनमे दूसरे लोगों ने निवास करना छोड दिया है या छुडा दिया गया है ऐसे मोचितावास आदि स्थानों में रहना चाहिये।

मुनिराजों का निवास तीन प्रकार का होता है। (१) स्थान-(खड़े होना) (२) आसन-(बैठना) (३) शयन-(सोना)ये तीन प्रकार का निवास साधु एवं मुनिराजों का है। मुनियों को दोनों पैरो मे चार अंगुल का अन्तर रख कर ऊपर की ओर मुंह करके किसी एक ओर मुंह करके अथवा इच्छानुसार जहां अपनी आत्मा के परिणाम लगते हो उधर चाहे जिधर को मुंह करके बिना किसी संक्लेश परिणामों के इस प्रकार खड़े होना चाहिये जिसमे अपनी आत्मा के बल और वीर्य के समान कर्मों का क्षय बराबर होता रहे। यदि इस प्रकार खड़े होने की शक्ति न रहे अथवा ऐसी शक्ति न हो तो बिना किसी प्रतिज्ञा के पर्यंक (पद्मासन) आदि में से कोई सा भी आसन लगा कर बैठ जाना चाहिये। यदि समय न हो तो किसी एक करवट से अपनी भुजाओं (बाहों) का तकिया लगा कर शरीर को संकुचित कर (समेट कर) केवल परिश्रम दूर करने के लिये थोड़ी देर तक सो लेना चाहिये। यह सब शयनासन शुद्धि कहलाती है।

वाक्यशुद्धिः पृथिवीकायिकाद्यारंभप्रेरणरहिता युद्धकामकर्कशसंभिन्नालापपैशून्यपरुषनिष्ठुरादिपरपीड़ाकरप्रयोगनिरुत्सुका स्त्रीभक्तराष्ट्रावनिपालाऽऽश्रितकथाविमुखा व्रतशीलदेशनादिप्रदानफला स्वपरहितमितमधुरमनोहरा परमवैराग्यहेतुभूता परिहृतपरात्मनिन्दा प्रशंसा संयतस्य योग्या तदधिष्ठाना हि सर्वसंपदइति ।

(८) वाक्य शुद्धि — श्री मुनिराजों के मुखारविन्द से वचन निकलते हैं, उनमें पृथ्वी काय आदि जीवों को हिंसारूप आरंभ की प्रेरणा नहीं होती उनमें युद्ध की प्रेरणा, काम की प्रेरणा नहीं होती व कठोर वचन नहीं बोलते। दूसरों के गुप्त विषयों को प्रकट करने वाले अथवा निंदा करने वाले वचन नहीं बोलते व कठिन, निष्ठुर आदि दूसरे को पीड़ा पहुँचाने वाले नहीं होते। स्त्री कथा, भोजन कथा, देशकथा, और राजकथा इन चारों विकथाओं से रहित होते हैं। व्रतशीलों का पालन करना कराना व उपदेश देना ही उन वचनों का मुख्य फल होता है। इनके सिवाय उनके वचन अपनी आत्मा का हित करने वाले होते हैं, अन्य समस्त जीवों का हित करने वाले होते हैं, परिमित होते हैं, मधुर होते हैं, मनोहर होते हैं और परम वैराग्य को उत्पन्न करने वाले होते हैं। उनमें न तो दूसरों की निन्दा होती है और न अपनी प्रशंसा रहती है। इस प्रकार के मुनियों के योग्य ही उनके वचन निकलते हैं ऐसे ही वचनों का निकालना वाक्य शुद्धि कही जाती है। ऐसी वाक्य शुद्धि के होने से समस्त संपदायें अपने आप प्राप्त हो जाती है।

चारित्र के पाँच भेद :—

अथ — संयमभेदाः साक्षात्मोक्षप्राप्तिकारणान्युच्यते। सामायिकं, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धिः, सूक्ष्मसाम्परायः, यथाख्यातचारित्रमिति।

अर्थ :— अब आगे संयम के ऐसे भेदों को कहते हैं जो मोक्ष के साक्षात् कारण है। (१) सामायिक (२) छेदोपस्थापना (३) परिहारविशुद्धि (४) सूक्ष्मसाम्पराय और (५) यथाख्यात चारित्र। ये संयम के साक्षात् मोक्ष प्राप्त कराने वाले पाँच भेद है।

तत्र सामायिकमस्यानंसर्वसावद्ययोगस्याभेदेन प्रत्याख्यानमव-

समाधान.— प्रत्याख्यान कषाय मंदतर होने से उसको उपचार से श्रमण-महाव्रती कहते हैं। सामायिक में तन्मय हुआ श्रावक वस्त्रोवेष्टित मुनि के समान होता है।

गाथा:— **सामाइय कदे सावएण विद्धो मओ अरण्णम्हि।**
सो य मओ उद्धादो ण य सो सामाइयं फिडिओ ॥४०॥

[मू. ७ अ. कुन्दकु. स्वा]

अर्थ — किसी श्रावक ने वन में सामायिक करना प्रारम्भ किया। ऐसे अवसर पर किसी शिकारी ने बाण से हरिण मारा वह श्रावक के चरण समीप आकर तड़फड़ाता हुआ मर गया, श्रावक ने उस पर दया नहीं करी क्योंकि उस पर दया करता तो अपना यानी स्व का घात होता इसलिये श्रावक ने सामायिक संयम को छोड़ा नहीं। संसार के दोष देखकर वह सामायिक में तत्पर ही रहा। अतः सामायिक करना चाहिये।

सामायिक के छह भेद :—

गाथा:— **णाम ट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले तहेव दव्वे य।**
सामाइयम्हि एसो णिक्खेओ छव्विहो णेयो ॥ २२ ॥

[मू. चा. कुन्दकु. स्वा]

अर्थ — १. नाम २. स्थापना ३. द्रव्य ४. क्षेत्र ५. काल और ६. भाव के भेद से सामायिक में छह प्रकार का निक्षेप - उपाय कहा है। निक्षेप रहित शास्त्र का व्याख्यान करने से वक्ता और श्रोता कुमार्ग प्रवृत्त होते है अतः निक्षेप सहित सामायिक निर्युक्ति का वर्णन ग्रन्थकार करते है। "सामायिक-निर्युक्ति" शब्द सबके साथ ही लगाकर बोलना चाहिये। जैसे - नामसामायिक निर्युक्ति आदि।

भावसामायिक का वर्णन :—

गाथा:- **सम्मत्तणाणसंजमतवेहिं जं तं पसत्थसमगमणं।**
समयं तु तं तु भणिदं तमेव सामाइयं जाणे ॥ २३ ॥

[मू. चा. ७ अ. कुन्दकुन्दा स्वा]

अर्थ — सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, संयम और तपों से जो जीव का ऐक्य होना वह 'समय' है। इस समय को ही सामयिक समझे। तात्पर्य यह है कि परीषहों को जीतकर, इन्द्रियों को वश कर, संज्ञा, दुर्लेश्या और दुर्ध्यान त्याग करके रत्नत्रय और तप के साथ आत्मा को जोड़ देना ही सामायिक समझना चा

भावार्थ :- ज्ञान की आत्मा से एकता होना ही सामायिक है।

प्रश्न :- सामायिक संयम का उपदेश किसने किया है ? उत्तर :-

बावीसं तित्थयरा सामाइयसंजमं उवदिसंति।
छेदुवठावणियं पुण भयवं उसहो महावीरो ॥५१॥ [illegible]

अर्थ :- दूसरे तीर्थंकर श्री अजितनाथ से श्री पार्श्वनाथ तक बाईस तीर्थंकरों ने सामायिक संयम का उपदेश अपने शिष्यों को दिया और वर्तमान [illegible] सर्वप्रथम तीर्थङ्कर श्री ऋषभनाथ और अन्तिम (चौबीसवें तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी ने छेदोपस्थापना संयम का उपदेश दिया है।

प्रश्न :- श्री आदिनाथ के तीर्थ में और महावीर के तीर्थ में [illegible] संयम क्यों कहा ? उत्तर -

आदीए दुव्विसोधण णिहणं तह सुट्ठु दुरणुपालं च।
पुरिमा य पच्छिमा वि हु कप्पाकप्पं ण जाणन्ति ॥ ५२ ॥
[illegible]

अर्थ :- श्री आदि प्रभु के तीर्थ में शिष्य सरलस्वभावी [illegible] सामायिक संयम का उन्होंने व्रत, समिति और गुप्ति [illegible] पादन किया और श्री महावीर स्वामी के तीर्थ में [illegible] पालन करना और व्रतों में स्थिर करना कठिन था, [illegible] ने उनके लिये व्रत, समिति, गुप्ति आदि प्रकार से [illegible] किया है।

अजितादि-पार्श्वपर्यन्त तीर्थंकरों ने [illegible] पादन इसलिये किया है क्योंकि उनके शिष्य [illegible] वक्रता रहित थे।

प्रश्न :- श्री ऋषभनाथ और वीर प्रभु के [illegible] था? उत्तर:-

अज्जवजड़ा अणज्जवजड़ा य [illegible] ।न्द्रिय जयः
तेसिं सुबोधमुत्तं छेदोवठ्ठावणं [illegible] ॥ [illegible] पञ्चधा

अर्थ :- श्री ऋषभनाथ के तीर्थ [illegible] स्वभावी सरल और जड़ थे और [illegible] शिष्य कपटयुक्त, जड, और [illegible]

समझते थे, अत आदिप्रभु और वर्धमान स्वामी ने छेदोपस्थापनरूप चारित्र-अहिंसादि पञ्चमहाव्रतात्मक चारित्र का उपदेश किया।

विशेष – 'मूलाचार प्रदीप' में संस्कृत भाषा के सामायिक विवेचन का भी उपर्युक्त गाथावत् ही विवेचन समझना चाहिये।

(उपर्युक्त गाथा संख्या ४४ के बाद की गाथा श्री वट्टकेराचार्य कृत मूलाचार में नहीं है)।

प्रश्न – सामायिक करने का क्रम (तरीका) क्या है? उत्तर.–

पडिलिहियअञ्जलिकरो उवजुत्तो उट्ठिऊण एयमणो।
अव्वाखित्तो उत्तो करेदि सामाइयं भिक्खू ॥ ४५ ॥

[मू. चा. ७ अ.] कुन्दकुन्द कृत

अर्थ :– जिसने अञ्जुलि और हाथ शुद्ध कर लिये हैं, जो सावधान है और एकाग्र अन्तःकरण जिसने किया है और जिसको आकुलता नहीं है ऐसा साधु आगमकथित प्रकार से सामायिक करता है अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावशुद्धि करके कमलकलिका के समान अपने दो हाथ जोड़कर साधु सामायिक करता है या पिच्छिका सहित अञ्जुलियुक्त हाथ जिसके है ऐसा मुनि सामायिक करता है।

ज्ञात्वेत्यस्यात्र माहात्म्यं उत्थाय बुधसत्तमाः।
योगशुद्धि विधायात्र प्रतिलेख्यांग धरातलं॥
स्वहस्तौ कुड्मलीकृत्य कालेकाले शिवाप्तये।
कुर्वन्तु सर्वदा यत्नाच्छुद्धं सामायिकं परम॥ [मूलाचार प्रदीप]

भावार्थ – मन, वचन, काय को शुद्ध करके शरीर और जमीन को पिच्छिका से शुद्ध करके और अपने हाथ को जोड़ कर त्रिकाल में प्रयत्न से शुद्ध सामायिक मुनि राज करे।

चारित्र के पांच भेदों का विशेष विवरण :–

ततो यथाख्यातचारित्रात्सकलकर्मसमाप्तिर्भवति। सामायिकादीनामानुपूर्व्या वचनमुत्तरोत्तरगुणप्रकर्षख्यापनार्थम्। तद्यथा-सामायिकछेदोपस्थापनासंयमस्य जघन्यविशुद्धिरल्पा ततः परिहारविशु-

द्धिचारित्रस्य जघन्यविशुद्धिरनन्तगुणा तस्यैवोत्कृष्टा विशुद्धिरनन्तगुणा ततः सामायिकछेदोपस्थापनासंयमोत्कृष्टविशुद्धिरनन्तगुणा ततः सूक्ष्मसाम्परायचारित्रस्य जघन्यविशुद्धिरनन्तगुणा तस्यैवोत्कृष्टा विशुद्धिरनन्तगुणा ततो यथाख्यातचारित्रविशुद्धिः संपूर्णा प्रकर्षाप्रकर्षविरहिताऽनन्तगुणा । एवमेते पञ्च चारित्रोपयोगाः शब्दविषयत्वेन संख्येयभेदाः । बुद्धयध्यवसानभेदावसंख्येया । अर्थादनन्तभेदाश्च भवन्ति । तदेतच्चरित्रं सर्वास्रवनिरोधकारणत्वात्परमसंवरहेतुरित्यवसेयं ।

अर्थ :– सामायिक से छेदोपस्थापना में अधिक गुण है, छेदोपस्थापना से परिहार विशुद्धि में अधिक गुण है, परिहार विशुद्धि से सूक्ष्मसाम्पराय में और सूक्ष्मसापराय से यथाख्यात में अधिक गुण हैं, इसी बात को आगे दिखलाते हैं। सामायिक और छेदोपस्थापना चारित्र की जघन्य विशुद्धि थोडी है उससे परिहार विशुद्धि चारित्र की जघन्य विशुद्धि अनन्त गुणी है तथा परिहार विशुद्धि चारित्र की उत्कृष्ट विशुद्धि उसकी जघन्य विशुद्धि से अनन्त गुणी है। सामायिक, छेदोपस्थाना चारित्र की उत्कृष्ट विशुद्धि परिहार विशुद्धि चारित्र की उत्कृष्टविशुद्धि से भी अनन्तगुणी है। इस सामायिक छेदोपस्थापना की उत्कृष्ट विशुद्धि से भी सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र की जघन्य उत्कृष्ट रहित संपूर्ण विशुद्धि अनन्त गुणी है। इस प्रकार उपयोग रूप से यह चारित्र पांच प्रकार का है, शब्द का विषय भूत होने से इसके संख्यात भेद होते है, बुद्धि के विषय भूत होने से असख्यात भेद होते है। और अर्थ के विषय भूत होने से अनन्त भेद हैं। इन पांचों ही प्रकार के चारित्र से सब तरह के आश्रव का निरोध होता है इसलिये यह सब तरह का चारित्र परम संवर का कारण है ऐसा समझना चाहिये।

संयम धारण करने का विशेष वर्णन :–

अथ वा व्रतधारणसमितिपालनकषायनिग्रहदण्डत्यागेन्द्रिय जयः संयमः। तत्र हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहविरतिरिति पञ्चधा व्रतं। तत्रेन्द्रियकषायनिग्रहमकृत्वा प्रमत्त इव यः प्रवर्त्तते स प्रमत्तः। पञ्चेन्द्रियमनोवाक्कायबलोच्छ्वासनिःश्वासायुष्काणि प्राणाः।

एकेन्द्रियादि [illegible]
हिंसा । [illegible]
नि: [illegible]
प्राण [illegible]
या [illegible]
औदारिक [illegible]
घात् द्विविधा, [illegible]
मतिश्रुतज्ञानावरण [illegible]
लिकी । [illegible]
यमाणाः पुद्गला [illegible]
मनश्च द्विविध, [illegible]
गाभ्यां लभ्यते पुद्गला [illegible] । [illegible]
वरणवीर्यान्तरायक्षयोपशम [illegible]
णिधानाभिमुखस्यात्मनोऽनुग्राहकाः पुद्गला वीर्यविशेषावर्जनसमर्था मनस्त्वेन परिणता इति पौद्गलिकमिति । इत्यात्मविशिष्टेनात्मना यः प्रादुर्भावितं तत्कृतं, परस्य प्रयोगमपेक्ष्य सिद्धिमापद्यमानं कारितं । प्रयोजकस्य मनसाऽभ्युपगमनमनुमतमिति । आत्मनः सम्यक्त्वसंयमासंयमसंयमयथाख्यातचारित्रं कषन्तीति कषायाः अथ वा कषन्ति फलवत्कुर्वन्ति कर्मबीजमिति कषायाः । समरंभसमारंभाणामधस्तात् योगात् कृतकारितानुमतानि क्रोधमानमायालोभाश्च क्रमेण व्यवस्थाप्य समरंभ निरुध्यांकसंचारं कृते षट् त्रिंशद्विकल्पा भवन्ति । एवं समारंभे आरंभे च प्रत्येकं षट्त्रिंशद्विकल्पा भवन्ति । सर्वे संपिडिताः अष्टोत्तरशतसंख्याका भवन्ति ।

अर्थ :— व्रतों को धारण करना, समितियों का पालन करना, कषायों का निग्रह करना दण्डों का त्याग करना और इन्द्रियों को जीतना संयम है । हिंसा का त्याग करना अनृत (झूंठ) का त्याग करना, चोरी का त्याग करना, अब्रह्म का त्याग करना और परिग्रह का त्याग करना ये पांचव्रत कहलाते है । जो इन्द्रियों

ौर कषायों को निग्रह न करके प्रमत्त के समान अपनी प्रवृत्ति करता है उसको ्रमत्त कहते है। पाँचों इन्द्रियाँ, मन, वचन, काय ये तीनवल, श्वासोच्छ्वास ्रौर आयु ये दश प्राण कहलाते है और इन प्राणों को धारण करने वाले एके- न्द्रिय आदि जीव प्राणी कहलाते हैं अपने प्रमत्त रूप परिणामों के निमित्त से प्राणियों के प्राणों का व्यपरोपण व घात करना हिंसा है और वह समरंभ, समारंभ, आरंभ तीनों के द्वारा, मन वचन काय की क्रियारूप तीनों योगों के द्वारा कृत, कारित, अनुमोदना (करना, कराना और करने को भला मानना) इन तीनों के द्वारा और क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों कषायों के द्वारा अनेक तरह के हो जाते है। प्रमाद के कारण जीवों की हिंसा करने आदि कार्य करने के लिये प्रयत्न करने का आवेश व इच्छा होना समरंभ है। जिस काम के करने का विचार किया है उसकी कारण सामग्री इकट्ठी करना समारंभ है। सब से पहले उस कामको प्रारंभ करना आरम्भ है। औदारिक शरीर नाम कर्म के उदय होने के कारण पुद्गलों के द्वारा जो इकट्ठा किया जाय वनाया जाय उसको काय (शरीर) कहते हैं। वाक् अर्थात् वचन दो प्रकार के है - एक भाव वचन दूसरा द्रव्य वचन। वीर्यान्तराय, मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण कर्मों के क्षयो- पशम होने से तथा अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के लाभ का निमित्त मिलने से भावव- चनों की प्राप्ति होती है इसलिये भाव वचन भी पौद्गलिक है। उस भाव वचन की सामर्थ्य प्राप्त होने से क्रियावान् आत्मा के द्वारा प्रेरणा किये हुए जो पुद्- गल वचनरूप परिणत होते हैं उन्हें द्रव्य वचन कहते है तथा वे पुद्गलों के ही बनते हैं इसलिये पौद्गलिक ही कहलाते है। मन भी दो प्रकार का है एक भावमन और दूसरा द्रव्यवचन। भावमन की प्राप्ति लब्धि और उपयोग के द्वारा होती है तथा लब्धि और उपयोग ये दोनो ही पुद्गलों के आलम्बन से हीं होते हैं इस लिये भावमन भी पौद्गलिक ही गिना जाता है।

ज्ञानावरण और वीर्यातराय कर्म के क्षयोपशम का लाभ होने के कारण प्राप्त होने वाले गुणदोषों का विचार करना, स्मरण करना आदि कार्यों सन्मुख ऐसे आत्मा का अनुग्रह करने वाले और विशेष शक्ति प्रकट करने व जिनमें सामर्थ्य है ऐसे जो पुद्गल मनरूप परिणत होते है उन्हें द्रव्य मन कह हैं। द्रव्य मन पुद्गलो से ही बनता है इसलिये वह भी पौद्गलिक ही कहला है। स्वतंत्रता पूर्वक आत्मा के द्वारा जो स्वय किया जाता है उसे कृत कहते है

दूसरे के प्रयोग की अपेक्षा रखकर जो कार्य सिद्ध किया गया हो अर्थात् दूसरे से कराया गया हो उसे कारित कहते हैं। काम करने वाले को मन से भला मानना, अनुमत कहलाता है। आत्मा के सम्यग्दर्शन, सयमासयम, सयम और यथाख्यात चारित्र गुणों का जो घात करे उन्हे कषाय कहते है अथवा कर्मरूप बीज को जो फलशाली बनादेवे (जिनके कारण कर्म अपना फल दे सके) उनको कषाय कहते है कषाय के क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार भेद हैं। समरंभ समारंभ और आरभ इन तीनों को और क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारो कषायों को अनुक्रम से रखना चाहिये। इस तरह रखने से तथा उनका अङ्क संचार करने से समरंभ छत्तीस तरह का होता है और आरंभ भी छत्तीस प्रकार का होता है, ये सब मिलकर एक सौ आठ भेद होते है।

एवं कायादियोगान्कृतकारितानुमतानि क्रोधादिकषायांश्चैकैकं निरुध्यांकसंचारः कर्त्तव्यः। संख्यातासंख्यातानंतभवसंसारावस्थानमनन्तानुबन्धिनां कषायाणां, षण्मासावस्थानमप्रत्याख्यानानां पक्षावस्थानं प्रत्याख्यानानां, अन्तर्मुहूर्तावस्थानं संज्वलनानां। एवंविधषोडशकषायभेदात् द्वात्रिंशदुत्तरचतुःशतविकल्पा भवन्ति।

अर्थ :– इस ही प्रकार मन वचन काय तीनो योग, कृत, कारित, अनुमोदना और क्रोधादिक कषाय इन सबको एक एक के साथ कहकर अङ्कसचार करना चाहिये। क्रोध कृत काय समरभ, मानकृत काय समरभ, मायाकृत समरभ, लोभकृत काय समरभ, क्रोधकारित काय समरंभ, मानकारित काय समरंभ, मायाकारित काय समरंभ, लोभकारित काय समरभ, क्रोधानुमत काय समरभ, मानानुमत काय समरंभ, मायासुमत काय समरभ, लोभानुमत काय समरंभ, यह बारह का समरभ हुवा इस ही प्रकार बारह प्रकार का वचन समरंभ और बारह प्रकार का मन समरभ समझना चाहिये। इस तरह छत्तीस प्रकार का समरभ, छत्तीस प्रकार का समारंभ और छत्तीस प्रकार का आरभ समझना चाहिये। इस तरह सब एक सौ आठ भेद होते है।

अहिंसामहाव्रत को पांच भावना पूर्वक लक्षण :-:

अप्रतिपीज्याः सूक्ष्मजीवाः, वादरजीवानां, गत्यादिमार्गणागुणस्यानकुलयोन्यायुष्यादिकं ज्ञात्वा गमनस्थानशयनासनादिषु स्वयं न

नन, परेर्षा न घातनं, अन्येषामपि हिंसतां नानुमोदनं हिंसाविरतिः। अहिंसाव्रतं स्वर्गापवर्गफलप्रापणहेतुस्तत्प्रतिपालननिमित्तं पाणि व्रतानि। अहिंसकः पुरुषो निजजनकवद्विश्वास्यः पूज्यश्च वति। हिंसको हि नित्योद्वेजनीयः संततोऽनुवद्धबहु वैरश्च इहैव वधबंधपरिक्लेशादीन् परिलभते, प्रेत्य चाशुभांगति, गर्हितश्च वतीति हिंसाया व्युपरमः श्रेयान्। परमार्थं ग्रहणेच्छयाऽहिंसाव्रतस्थैर्यार्थं पञ्च भावना भवन्ति। वाग्गुप्तिः, मनोगुप्तिः ईर्यासमितिः, आदाननिक्षेपणसमितिः, आलोकितपान भोजनमिति।

अर्थ :— अनन्तानुबंधी कषाय का अवस्थान व संस्कार सख्यात, असख्यात व अनन्त भव ससार तक रहता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय का अवस्थान छह महिने तक रहता है। प्रत्याख्यानावरण कषाय का संस्कार पन्द्रह दिन तक रहता है। संज्वलन कषाय का संस्कार अन्तर्मुहूर्त तक रहता है। इस प्रकार कषायों के सोलह भेद भी होते हैं और कषायों के सोलह भेद होने से समरभादिक के चार सौ बत्तीस भेद हो जाते हैं।

सूक्ष्म निगोदिया जीवों को तो किसी तरह पीडा दी नहीं जा सकती है, केवल बादर निगोदिया जीवों को पीड़ा हो सकती है इसलिये उन बादर जीवों की गति आदि मार्गणायें, गुणस्थान, कुल, योनि और आयुष्य आदि जानकर गमन करने खड़े होने, शयन करने और बैठने आदि कार्यों में न तो स्वयं उन जीवों की हिंसा करना, न किसी दूसरों से उनका घात कराना और न हिंसा करते हुए अन्य लोगों का अनुमोदन करना हिंसाविरति यानि हिंसा का त्याग अथवा अहिंसाव्रत कहलाता है। यह अहिंसाव्रत स्वर्ग और मोक्षफल प्राप्त होने का कारण है। इस अहिंसाव्रत का पालन करने के लिये ही बाकी के सब व्रत धारण किये जाते है। अहिंसाव्रत का धारण करने वाला अहिंसक पुरुष अपने पिता के समान विश्वास करने योग्य और पूज्य माना जाता है। हिंसक पुरुष सदा ललकार और फटकार पाता रहता है सदा दूसरों के साथ बैर विरोध बांधता रहता है। हिंसक पुरुष इस लोक में भी बध, बधन आदि के अनेक क्लेश भोगता है और परलोक में भी नीच गति पाकर निंदनीय होता है इसलिये हिंसा का त्याग कर देना ही कल्याण कारी है। परमार्थ रीति से ग्रहण

करने की इच्छा से इस अहिंसाव्रत को स्थिर करने के लिये (१) वाग्गुप्ति, (२) मनोगुप्ति, (३) ईर्यासमिति (४) आदान निक्षेपण समिति और (५) आलोकित पान भोजन ये पांच भावनायें कही गई है।

सत्य महाव्रत का पांच भावना पूर्वक लक्षण :–

पारमार्थिकस्य भूतनिह्नवेऽभूतोद्भावने च यदभिधानं तदेवानृतं स्यात्, भूतनिह्नवे नास्त्यात्मा नास्ति परलोक इत्यादि। अभूतोद्भावने च श्यामाकतंदुलमात्र आत्मांगुष्ठपर्वमात्रः सर्वगतो निष्क्रिय इत्यादि। यद्विद्यमानार्थविषयं प्राणिपीड़ाकरणं तत्सत्यमप्यसत्यमेतद्विपरीतं यच्च प्राणिपीडाकरं तदनृतं कृतात्कारितादनुमोदिताद्वाऽनृताद्विरतः सत्यव्रतं तदभ्युदय निःश्रेयसकारणं। सत्यवादिनं सन्मानयति लोकः सर्वेषु कार्येषु प्रमाणं भवति, अनृतवाद्यश्रद्धेयो भवति। इहैव जिव्हाच्छेदनादीन् प्रतिलभते, मिथ्याभ्याख्यान दुःखितेभ्यश्च बद्धवैरेभ्यो बहूनि व्यसनान्यवाप्नोति, प्रेत्य चाऽशुभां गतिं निंदितश्च भवतीत्यनृतवचनाद्युपरमः श्रेयान्। सत्यव्रत दृढीकरणार्थं पञ्चभावना भवन्ति।

क्रोधप्रत्याख्यानं, लोभप्रत्याख्यानं, भीरुत्वप्रत्याख्यानं, हास्यप्रत्याख्यानं, अनुवीचिभाषणं चेति। अनुवीचिभाषणमनुलोभभाषणमित्यर्थः, विचार्य भाषणं वा अनुवीचि भाषणं।

अर्थ :– जो पदार्थ है उसको छिपाने के लिये और जो नही है उसको प्रकट करने के लिये जो वचन कहे जाते है उसीको अनृत यानी मिथ्या वचन कहते हैं। आत्मा नही है, परलोक नही है इत्यादि वचन पादार्थों के अस्तित्व को छिपाने वाले हैं। आत्मा श्यामक चांवल के बराबर है अथवा अंगूठे के पर्व के समान है यानी समस्त ससार मे व्याप्त है और निष्क्रिय है इत्यादि वचन जो पदार्थ रूप नही है उसही को प्रकट करने वाले है। विद्यमान पदार्थों को विद्यमान कहने वाले वचन भी यदि प्राणियो को पीड़ा करने वाले हो तो वे सत्य होकर भी असत्य ही माने जाते हैं। जो वचन विपरीत हों तथा प्राणियों को पीड़ा देने वाले हों वे सब अनृत कहलाते हैं। कृत, कारित, अनुमोदना से अनृत

यानी असत्य का त्याग कर देना सत्यमहाव्रत है। यह सत्यमहाव्रत ही अभ्युदय और मोक्ष का कारण है। सत्यवादी का (सच बोलने वाले का) सब लोग सम्मान करते है और समस्त कार्यों में वह प्रमाण माना जाता है। झूंठ बोलने वाले पर किसी को भी श्रद्धा नहीं होती इस लोक मे भो जीभ काटी जाना आदि अनेक दु.ख उसे भोगने पड़ते है। झूंठ बोलकर जिन लोगों को दु.ख दिया है और इसी लिये जिनके साथ वैर बंध गया है ऐसे लोगो के द्वारा वह अनेक तरह के संकटो मे डाला जाता है। परलोक में भी उसे अशुभ गति मिलती है एवं वह निन्दनीय होता है इसलिये असत्य वचनों का त्याग कर देना ही कल्याणकारी है। (१) क्रोध प्रत्याख्यान अर्थात् क्रोध को त्याग करदेने की भावना रखना (२) लोभ प्रात्याख्यान अर्थात् लोभ को त्याग कर देने की भावना (३) भीरुत्व प्रत्याख्यान अर्थात् डर को त्याग देने की भावना रखना (४) हास्य-प्रत्याख्यान अर्थात् हँसी को त्याग देने की भावना रखना और (५) अनुवीची भाषण ये पांच सत्यव्रत को दृढ़ करने की भावनायें हैं। विचार कर भाषण करना अथवा अनुकूलता पूर्वक भाषण करना अनुवीची भाषण कहलाता है।

अचौर्य्य महाव्रत का पांच भावनाओं सहित वर्णन :—

अदत्ताऽऽदानं स्तेयम्। ग्रामारामशून्यागारवीथ्यादिषु निपतित-मणिकनकवस्त्रादिवस्तुनोग्रहणमदत्तादानं। कृतकारितादिभिस्तस्मा-द्विरतिरस्तेयव्रतं। तद्गीर्वाणनिर्वाणप्रदं। अस्तेय व्रतिनो बहिश्-चरप्राणेष्वर्थेष्वपि विश्वसिति लोकः। परद्रव्यहरणासक्तमतिः सर्व-स्योद्वेजनीयो भवन्ति। इहैव चाभिघातवधबंधहस्तपादकर्णनासो-त्तरौष्ठच्छेदनभेदनशूलारोहणक्रकचपाटनकारागारविनिवेशनसर्वस्व-हरणादीन्प्रतिलभते प्रेत्य चाशुभां गतिं, कुत्सितश्च भवति, सत्संस-र्गतः शिष्टोऽपि संशयमवाप्नोति, अदत्तादानव्रतस्थिरीकरणा भावनाः पंच भवन्ति शून्यागारगिरिगुहातरुप्रकोटरादिष्वावासः, पर कीयेषु मोचितेष्ववासः, परेषां मनुष्यव्यन्तरादीनामुपरोधाकरणं, आ-चारसूत्रमार्गेणभैक्ष्यशुद्धिः, ममेदंतवेदमिति लक्षणो विसंवादः, न विसंवादोऽविसंवादः, सधर्मिभिरविसंवाद इति।

अर्थ :— अदत्तादान अर्थात् बिना दी हुई वस्तु को लेना व ग्रहण करना ही चोरी है किसी गांव मे किसी बगीचे मे, किसी सूने मकान अथवा गली में पड़े हुए मणि सोना वस्त्र आदि पदार्थों का ग्रहण कर लेना यानी उठालेना अदत्तादान है कृत, कारित, अनुमोदना से ऐसे अदत्तादान का त्याग करना अस्तेयव्रत अथवा अचौर्यमहाव्रत कहलाता है। यही अचौर्यव्रत स्वर्ग और मोक्ष की सम्पदा देने वाला है। अचौर्यव्रत धारण करने वालों का सात्रु प्राण रूप धन रखने में भी सब लोग विश्वास कर लेते हैं। जिसकी दूसरे के धन हरण करने में आसक्ति रहती है उसे सब लोग दण्ड और फटकार दिया करते हैं, इस लोक में मारना, पीटना, जान से मार डालना, बांधना हाथ, पैर, कान, नाक ऊपरका ओठ आदि अङ्गों का काटलेना, भेदना, शूली पर चढ़ाना, आरे से चीरना, कारागार में (जेल मे) बंद करना और उसका सब धन लूट लेना आदि अनेक दुःख उसे भोगने पडते है। परलोक मे उसे अशुभगति प्राप्त होती है और वह निन्दनीय होता है और तो क्या ऐसे चोर के ससर्ग मात्र से शिष्ट पुरुष भी (भले सभ्य पुरुष) संशय में पड जाते है अर्थात् लोग उनपर भी सन्देह करने लगते हैं इसलिये चोरी का त्याग कर देना ही ससार का तथा आत्मा का कल्याण करने वाला है। इस अचौर्य व्रत को स्थिर करने के लिये नीचे लिखी हुई पांच भावनायें है (१) पर्वतो की गुफाये तथा वृक्षों के कोटर आदि सूने मकानो मे निवास करने की भावना रखना। (२) दूसरों के द्वारा छोड़े हुए स्थानो मे रहने की भावना रखना। (३) अन्य मनुष्य व्यन्तर आदि की रोक टोक न करने की भावना रखना। (४) आचार सूत्रो में कही हुई विधि के अनुसार भिक्षा की शुद्धता रखने की भावना रखना और (५) साधर्मियो के साथ यह तेरा है यह मेरा है आदि विसवाद न करना। ये आचौर्यमहाव्रत की पांच भावनायें कहलाती है।

ब्रह्मचर्य महाव्रत की पांच भावनाओं सहित लक्षण :—

मैथुनमब्रह्म स्त्रीपुंसोर्वेदोदये वेदनापीड़ितयोर्यत्कर्म तन्मैथुनमयवैकस्याऽपि चारित्रमोहोदयोद्रक्तरागस्य हस्तादिसंघटनेऽस्ति मैथुनमिति। अहिंसादिगुणवृंहणाद् ब्रह्म न ब्रह्म अब्रह्म। तिर्यग्मनुष्यदेवाऽचेतनभेदाच्चतुर्विधस्त्रीभ्यो (भेदेन नवविधाद्विरतिश्चतुर्थ-

व्रत) मातृसुताभगिनीभावनया मनोवाक्कायप्रत्येककृतकारितानु-
मोदितभेदेन नवविधाद्विरतिश्चतुर्थव्रतं । तदेव मोक्षसाधनं ब्रह्मचा-
रिणं भूमिस्थमपि साक्षाद्देव इव मन्यते लोकः । असंयतोपि तद्व्रतो
मानार्हो भवति, तस्मिन्प्रतिष्ठिताः सर्वे गुणाः, विद्यादेवताश्च परि-
गृहीत ब्रह्मव्रतस्य किंकरभावमुपयान्ति । अब्रह्मचारी मदविभ्रमो-
द्भ्रमितचित्तोवनगज इव वासिता (वासिताणी) वञ्चितो विवशो
वधबंधनपरिक्लेशादीननुभवति । मोहाभि भूतत्वाच्चकार्याकार्यान-
भिज्ञो न किंचित्कुशलमाचरित, पराङ्गनालिङ्गछेदनवधबंधनसर्वस्व-
हरणादीनपायान्प्राप्नोति । प्रेत्यचाशुभाङ्गतिमश्नुते । तृणवल्लघु-
र्भवतीत्यतः स्त्रीविरतिरात्महिता । ब्रह्मचर्यव्रतनिश्चली कर-
णार्थं पञ्च भावना भवन्ति । स्त्रीरागकथाश्रवणवर्जनं, तन्मनोहरा-
ङ्गनिरीक्षणविरहः, पूर्वरतानुस्मरण व्यपोहः, वृष्येष्टरसानुभवनि-
रासः । स्वशरीरसंस्कारत्यागश्चेति ।

अर्थ :— मैथुन करने को अब्रह्म कहते है । अपने अपने वेद कर्म के उदयसे
अभिलाषा से (कामकी वेदना से पीड़ित हुए स्त्री पुरुष जो कुछ कर्म करते है उसको
मैथुन कहते हैं अथवा चारित्र मोहनीय कर्म के तीव्र उदय से जिसके तीव्र राग
भाव प्रकट हुवा है ऐसा एक पुरुष भी यदि हस्तादिक से संघट्टन क्रिया करे
तो वह भी मैथुन कहलाता है । जिसमें अहिंसा आदि गुणो की वृद्धि होती हो
उसे ब्रह्म कहते हैं और ब्रह्म व ब्रह्मचर्य का पालन न करना ही अब्रह्म है ।
तिर्यञ्चनी, मनुष्यनी, देविनी और पत्थर काष्ठचित्रामादि अचेतन के भेद से
स्त्रियाँ चार तरह की होती है इन चारो प्रकार की स्त्रियों में माता, वहिन
और पुत्री की भावना रख कर मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना
के द्वारा होने वाले नौ प्रकार के भेदों से उस अब्रह्म का त्याग कर देना ब्रह्म-
चर्य नाम का चौथा महा व्रत है । यह ब्रह्मचर्य व्रत भी स्वर्ग मोक्ष का साधन
है यदि कोई ब्रह्मचारी मनुष्यादि जमीन पर भी बैठा हो तो भी संसार उसे
साक्षात् देव के समान ही मानता है । यदि ब्रह्मचारी असंयमी भी हो तो भी
उसका आदर सत्कार और मान प्रतिष्ठा होती है । इस ब्रह्मचर्य व्रत में ही
समस्त गुण सामिल है । जिसने ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया है उसही की सव

विद्याधर व देवता आकर स्वयं सेवक होकर काम करते हैं। जिस प्रकार मद के विकार से उन्मत्त चित्तवाला जङ्गली हाथी हथिनी के द्वारा ठगा जाकर परवश हो जाता है और वध बन्धन आदि के अनेक अनुभवों का क्लेशों का अनुभव करता है उस ही प्रकार अब्रह्मचारी भी मद के विकार से उन्मत्त चित्त होकर परवश हो जाता है और फिर वध, बन्धन आदि के अनेक क्लेश सहन करता है। मोह से तिरस्कृत होकर कार्य अकार्य का कुछ विचार नहीं कर सकता और न वह किसी भी श्रेष्ठ कार्य का सम्पादन कर सकता है। परस्त्रियों का आलिङ्गन अथवा उनके साथ समागम करने की लालसा रखने वाले पुरुष के साथ हर किसी का वैर विरोध हो जाता है और फिर उन से विरोध करने वालों के द्वारा लिङ्गच्छेदन, बध-बन्धन और समस्त धन का हरा जाना आदि अनेक दुःख उसे भोगने पड़ते हैं। परलोक में अशुभ गति प्राप्त होती है और वह तृण के समान लघु व क्षुद्र गिना जाता है। इसलिये स्त्रीभाव का त्याग कर देना ही आत्मा का कल्याण करने वाला है। (१) इस ब्रह्मचर्य व्रत को निश्चल करने के लिये स्त्रीराग कथा श्रवण त्याग (स्त्रियों की रागभरी कथा सुनने का त्याग) करना (२) तन्मनोहराङ्गनिरीक्षणविरह अर्थात् स्त्रियों के मनोहर अंगों के देखने का त्याग करना। (३) पूर्वरतानुस्मरणत्याग अर्थात् पहिले उपभोग की हुई स्त्रियों के स्मरण करने का त्याग करना। (४) वृष्येष्टरसानुभवनिरास अर्थात् पौष्टिक और इष्ट रस के अनुभव करने का त्याग करना और (५) स्वशरीरसंस्कार वर्जन अर्थात् अपने शरीर के संस्कार करने का त्याग करना ये पाँच भावनायें है।

परिग्रह त्याग महाव्रत व पाँच भावनाओ का वर्णन –

मूर्च्छा परिग्रहः, बाह्याभ्यन्तरोपधिसंरक्षणाद्व्यापृतिर्मूर्च्छा। क्षेत्रवास्तुधनधान्यद्विपदचतुष्पदयानशयनाशनकुप्यभाण्डानि, दशविधश्चेतनाचेतनभेदलक्षणो बाह्यपरिग्रहः मिथ्यात्व क्रोधमानमायालोभहास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सावेदरागद्वेषचतुर्दशभेदोऽभ्यन्तरपरिग्रहः। एतस्मान्मनसः कृतकारितानुमोदितेन वचसः कृतकारितानुमोदितेन कायस्य कृतकारितानुमोदितेन च विरतिपरिग्रहलक्षणं व्रतं। तदेव स्वर्गमोक्षसाधनं सर्वेषां गुणानामलंकरणं, निष्परिग्रहिणं मर्त्या अपि सन्मानयन्ति, स सर्वैश्च समभिवन्दनीयः सुर

नीयश्च भवति । तस्य नामग्रहणेऽपि वद्धांजलिर्भवति लोकः । परिग्रहवान् यथा शकुनिर्गृहीतमांसखण्डोऽन्येषां तदर्थिनां पतत्रिणामभिभवनीयः, तथा तस्करादीनामभिभवनीयो मार्यश्च भवति । परिग्रहार्जननिमित्तं निजाभिजनविद्यावृत्तं विहाय केचन जड़धियोनीचतामुपगच्छन्ति, न चाऽस्य तृप्तिर्भवतीन्धनैरिवाऽग्नेर्लोभाभिभूतत्वाच्च कार्याकार्यानपेक्षो भवति, प्रेत्य चाशुभां गतिमास्कन्दति, लुब्धोऽयमिति गर्हितश्च भवतीति नीदवृत्त्यासमुपार्जनीयमनित्यं दुःखकारणं परिग्रहं परित्यज्याकिंचन्यवृत्त्या नित्यमनंतसुखसाधनं मोक्षमार्गमुपार्जयन्त्यात्महितैषिणः । आकिंचन्यव्रतदृढिमार्थं पंच भावना भवन्ति । पंचानां स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुः श्रोत्राणामिष्टेषु विषयेषूपनिपतितेषु रागवर्जनमनिष्टेषु विषयेषूपनिपतितेषु द्वेषवर्जनमिति ।

अर्थ :– मूर्छा को परिग्रह कहते है । वाह्य और अभ्यतर परिग्रह की रक्षा करना उपार्जन करना आदि कार्यों मे प्रवृत होने को मूर्छा कहते हैं । १. क्षेत्र, २. वास्तु, ३. धन, ४. धान्य, ५. द्विपद (दास दासी) ६. चतुष्पद, गाय भैंसादि (चौपाये) ७. सवारी, ८. सोने बैठने का पलंग कुरसी आदि चीजें, ९. कुप्य (वस्त्रादि) और १०. भाण्ड (बर्तन आदि) दश प्रकार का वाह्य परिग्रह है और वह भी चेतन, अचेतन के भेद से दो प्रकार का है । १. मिथ्यात्व २. क्रोध ३. मान, ४. माया, ५. लोभ, ६ हास्य, ७. रति, ८ अरति, ९. शोक, १०. भय, ११. जुगुप्सा, १२. वेद, (स्त्रीलिङ्ग, नपुंसकलिङ्ग और पुलिङ्ग) १३. राग और १४. द्वेष यह चौदह प्रकार का अभ्यन्तर परिग्रह है । इन दोनों प्रकार के परिग्रहो का मन के द्वारा कृत, कारित, अनुमोदना से, वचन के द्वारा कृत, कारित, अनुमोदना से और काय के द्वारा कृत, कारित, अनुमोदना से इन नौ तरह से त्याग कर देना परिग्रह त्याग महाव्रत है । यह परिग्रह त्याग व्रत ही स्वर्ग और मोक्ष का साधन है तथा समस्त गुणों को सुशोभित करने वाला है । परिग्रह त्याग व्रत को धारण करने वाले पुरुष का सब ही लोग सम्मान करते हैं । सबही लोग वदना करते हैं और सब ही लोग पूजा करते हैं, ऐसे पुरुष का नाम लेने मात्र से ही उसके लिये सब लोग अपने अपने हाथ जोड लेते है ।

जिस प्रकार से किसी पक्षी के पास मास का टुकड़ा हो तो उस मांस को चाहने वाले अन्य पक्षी उसे त्रास देते हैं उसही प्रकार चोर आदि धनार्थी लोग भी अधिक परिग्रह रखने वाले को त्रास देते हैं और मार डालते हैं। परिग्रह को इकट्ठा करने के लिये अपने कुटुम्बी व विद्या और चारित्र को छोड़कर रित हो मूर्ख लोग नीचता धारण कर लेते है। जिस प्रकार ईंधन से अग्नि की तृप्ति नही होती उसही प्रकार परिग्रह मे किसी को भी तृप्ति नहीं होती है। लो के वशीभूत होकर वह कार्य अकार्य आदि किसी का विचार नही कर सकता परलोक मे उसे अशुभ गति प्राप्त होती है और यह लोभी है इस प्रकार निंदनीय गिना जाता है। इसलिये जो नीच वृत्ति से जो द्रव्य उपार्जन कि जाय वह अनित्य एव दुःख का कारण है ऐसे परिग्रह को छोड़कर आ का हित करने वाले लोगों को निष्परिग्रहवृत्ति धारण कर नित्य और अ सुख का साधन ऐसा मोक्ष का मार्ग सदा उपार्जन करना चाहिये। इस प्रा चर्य व्रत को स्थिर करने के लिये स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण पांचो इन्द्रियों के इष्ट विषय प्राप्त होने पर उसमे राग नही करना और अनि पदार्थों के प्राप्त होने पर द्वेष नही करना ये पांच भावनायें है।

पांच महाव्रतों का उपसंहार :—

एवमहिंसादिव्रतानां लक्षणं फलं गुणं तदभावे दोषभावनां च ज्ञात्वा यथा ममाप्रियं वधबन्धपरिपीड़नं तथा सर्व सत्वानां, यथा मम मिथ्यात्वा व्याख्यानकटुकपरुषादीनि वचांसि श्रृण्वतोऽतितीव्रं दुःखममूतपूर्वमुत्पद्यते तथा सर्वजीवानां। यथा ममेष्टे द्रव्यवियोगे व्यसनमपूर्वमुपजायते तथा सर्वभूतानां। यथा मम कान्ताननप- रिभवं परकृते सति मानसी पीडाऽतितीव्रा जायते तथा सर्व प्राणिनां यथा च मम परिग्रहेष्व प्राप्तेषु कांक्षाभ्दव प्राप्तेषु रक्षाजनितं विन- ष्टेषु शोकसमुत्थं दुःखमतितीव्रतरं भवति तथा च सर्वदेहिनां अतो न हिनस्मि, नानृतं वदामि, नादत्तमाददे, नांगानां स्पृशामि, न [illegible] इत्येवं प्रमत्तपरिणामयोगजनितं हिंसादिकं विहा- [illegible] दिव्रतधारणे यत्नः कर्त्तव्यः।

इस प्रकार अहिंसा आदि व्रतों का लक्षण फल और गुणों को समझ तथा व्रतों के अभाव मे दोषों की प्राप्ति समझकर विचार करना चाहिये

कि जिस प्रकार वध, बंधन और पीडन मुझे अप्रिय है उसही प्रकार सब जीवों को अप्रिय है जिस प्रकार मिथ्या वचन कटुक और कठोर वचन सुनने से मुझे अभूतपूर्व और अत्यन्त तीव्र दुःख होता है उस ही प्रकार सब जोवों को होता है। जिस प्रकार मेरे इष्ट पदार्थों का वियोग होने पर मुझे दुःख होता है उसही प्रकार सब जीवों को होता है। जिस प्रकार किसी दूसरे के द्वारा मेरी स्त्री का तिरस्कार होने पर मेरे हृदय में अत्यन्त तीव्र पीड़ा होती है उसही प्रकार सब जीवो को होती है। जिस प्रकार मुझे परिग्रहो की प्राप्ति न होने पर उनकी इच्छा जन्य अत्यन्त तीव्र दुःख होता है उनकी प्राप्ति होने पर रक्षा करने का अत्यन्त दुःख होता है और उनके नष्ट होने पर शोक उत्पन्न होने का सबसे अधिक तीव्रदुःख होता है उसही प्रकार सब जीवो के होता है। इसलिये मैं न तो किसी जीव की हिंसा करूंगा, न झूंठ बोलूंगा, न चोरी करूंगा, न स्त्री का स्पर्श करूंगा। इस प्रकार प्रमत्त परिणामो के संयोग से उत्पन्न हुए हिंसा आदि यों को छोड़ कर अप्रमत्त परिणामों से होने वाले अहिंसा आदि व्रतो के रण करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये।

समितिपालनं पूर्वमुक्तं। चतुर्विधकषायनिग्रहश्चोत्तमक्षमामार्द-ार्जवसत्यशौचेषु प्रतिपादितः।

अर्थ :— समितियों के पालन करने का विधान पहले कहा जा चुका है और ारों प्रकार के कषायो का निग्रह करना उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव और ौच मे प्रतिपादन कर चुके है।

तीन प्रकार के दण्डों का भेद :—

दण्डस्त्रिविधः, मनोवाक्कायभेदेन। तत्र रागद्वेषमोहविकल्पा-त्मा मानसो दण्डस्त्रिविधः, तत्र रागःप्रेमहास्यरतिमायालोभाः। द्वेषः क्रोधमानारतिशोकभय जुगुप्साः। मोहो मिथ्यात्व त्रिवेदसहिताः प्रेमहास्यादयः। अनृतोपघातपैशून्यपरुषाभिशंसन परिताप हिंसनभे-दाद्वाग्दण्डः सप्तविधः। प्राणिवधचौर्यमैथुनपरिग्रहाऽऽरंभताड़नोग्रवे पविकल्पात्कायदण्डोऽपि च सप्तविधः।

अर्थ :- मन, वचन, काय के भेद से दण्ड तीन प्रकार का है और उसमें भी मन दण्ड के तीन भेदः- राग,द्वेष मोह के भेद से मानसिक दण्ड भी तीन प्रकार का है। प्रेम, हास्य, रति, माया और लोभ को राग कहते हैं। क्रोध, मा

अरति, शोक, भय, जुगुप्सा को द्वेष कहते हैं तथा मिथ्यात्व स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद प्रेम और हास्यादिक सब मोह कहलाता है। वचन दण्ड के सात भेद- झूंठ बोलना, वचन से टकटकर किसी के ज्ञान का नाश करना, चुगली खाना कठोर वचन कहना अपनी प्रशंसा करना, संताप उत्पन्न करने वाले वचन कहना और हिंसा के वचन कहना यह सात तरह का वचन दण्ड कहलाता है। काय दण्ड के सात भेद:- प्राणियों का वध करना, चोरी करना, मैथुन करना परिग्रह रखना, आरंभ करना, ताडन करना और उग्रवेष (भयानक) धारण करना, इस तरह काय दण्ड भी सात प्रकार का कहलाता है। अपनी आत्मा को गुप्त रखने के लिये पापों से छिपाने व बचाने के लिये सदा प्रयत्न करने वाले मुनियों को इन तीनों प्रकार के दण्डों का त्याग कर देना चाहिये।

विशेष :– मन दण्ड के तीन भेद-राग, द्वेष और मोह। वचन दण्ड के सात भेद-क्रोध, मान, अरति शोक, भय, जुगुप्सा और द्वेष। काय दण्ड के सात भेद प्राणियोंका वध करना, चोरी करना, मैथुन करना, परिग्रह रखना, आरंभ करना, ताडन करना और भयानक (उग्र) वेष धारण करना है।

विषयाटवीषु स्वच्छन्दप्रधावमानेन्द्रियगजानां ज्ञानवैराग्योपवासाद्यंकुशाकर्षणेन वशीकरणमिन्द्रियजयः स चास्रावानुप्रेक्षायां वक्ष्यते।

अर्थ :– विषय रूपी वनमें स्वतंत्र रीति से दौडने वाले इन्द्रियरूपी हाथियों को ज्ञान वैराग्य, उपवास आदि अंकुशों से खींचकर वश करना इन्द्रिय विजय कहलाता है। इस इन्द्रिय विजय का विस्तार आश्रवानुप्रेक्षा में कहेंगे।

संयमोह्यात्महितस्तमनुतिष्ठन्निहैव पूज्यते। परत्र किमत्र वाच्यं। असंयतः प्राणिवधविषयमार्गेषु नित्यं प्रवृत्तो मूर्तिमदशुभकर्मवापमिति साधुजनविनिंद्यमानो दुष्कर्म संचिनुते।

अर्थ – यह निश्चय है कि संयम धारण करना आत्मा का हित करने वाला है इसलिये जो इस संयम को धारण करता है वह इस लोक में भी पूज्य गिना जाता है फिर भला परलोक की तो बात ही क्या है? वहां तो पूज्य होता ही है।

असंयमी पुरुष प्राणियों की हिंसा करना, विषय सेवन करना आदि कुमार्गों में ही सदा प्रवृत्त रहा करता है वह मूर्तिमान् साक्षात् अशुभ कर्म रूप ही जान पड़ता है और इसीलिये सज्जनों के द्वारा निंद्य गिना जाता है और अनेक दुष्कर्मों को (पापरूप कर्मों को) संचित करता रहता है।

निर्ग्रन्थ मुनियों को पांच भेदों का वर्णन –

एवमुक्तः संयमः । संयमिनोनैर्ग्रन्थ्यधारिणः पञ्चविधाः । पुलाकाः वकुशाः, कुशीलाः, निर्ग्रन्थाः, स्नातकाश्चेति । तत्रोत्तर गुण भावनोपेतमनसः व्रतेष्वपि क्वचित् कदाचित्परिपूर्णतामपरिप्राप्नुवंतोऽविशुद्धपुलाकसादृश्यात् पुलाका इत्युच्यंते । नैर्ग्रन्थ्यमुपस्थिता अखण्डितव्रताः शरीरोपकरणविभूषणानुवर्तिनो ऋद्धियशःकामाः सातगौरवाश्रिताः अविविक्तपरिवाराश्च छेदशवलयुक्ताः वकुशाः । शवलपर्यायवाची वकुशशब्द इति । कुशीला द्विविधाः प्रतिसेवना कुशीलाः, कषाय कुशीलाश्चेति तत्राविविक्तपरिग्रहाः परिपूर्णमूलोत्तरगुणाः कथंचिदुत्तरगुणविराधिनः प्रतिसेवनाकुशीलाः ग्रीष्मेजंघाप्रक्षालनादिसेवनवदिति । वशीकृतान्यकषायोदयाः संज्वलनमात्रतंत्राः कषायकुशीला इति । यथोदके दण्डराजिराश्वेवविलयमुपयाति । तथाऽनभिव्यक्तोदयकर्माण उर्ध्वंमुहूर्तादुद्भिद्यमानकेवलज्ञानदर्शनभाजो निर्ग्रंथा इति । ज्ञानावरणादिघातिकर्मक्षयादाविर्भूतकेवल ज्ञानाद्यतिशयविभूतयः सयोगिशीलेशिनो नवलब्ध्यास्पदाः केवलिनः स्नातका इति । एते प्रकृष्टाप्रकृष्टमध्यमचारित्र भेदेसत्यपि नैगमनयापेक्षया पंचापि निर्ग्रन्था इत्युच्यंते । यथा षोड़शत्रयोदशदशवर्णिकादिषु सुवर्णशब्दोऽविशिष्टो वर्त्तते तथा निर्ग्रन्थ शब्दोऽपि सम्यग्दर्शन निर्ग्रन्थरूपं च भूषावेषायुधरहितं तत्सामान्ययोग ऽद्भवेषु पुलाकादिषु निर्ग्रन्थशब्दो युक्तः ।

अर्थ :– निर्ग्रन्थ (परिग्रह रहित) अवस्था को धारण करने वाले पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक के भेद से पांच प्रकार के होते हैं। (१) पुलाकमुनिः- पुलाक जिस प्रकार (छिलका सहित चांवल) बिल्कुल शुद्ध नहीं हो सकता उस ही प्रकार जो बिल्कुल शुद्ध न हो अर्थात् जिनके मन में उत्तर गुणों के धारण करने की भावना बिल्कुल न हो और व्रतों में भी किसी जगह किसी समय पूर्णता प्राप्त न कर सके ऐसे मुनियों को पुलाक मुनि कहते है। (२) वकुशमुनिः- जिन्होंने निर्ग्रन्थ अवस्था धारण की है तथा जिनके व्रत अखण्डित व पूर्ण है परन्तु जो शरीर और उपकरणों की सुन्दरता का अनुराग रखते है

स्थानेऽसंख्येयानि संयमस्थानानि कषायनिमित्तानि भवन्ति। तत्र सर्वजघन्यानि लब्धिस्थानानि पुलाककषायकुशीलयोस्तौ युगपदसंख्येयानि स्थानानि गच्छतः, ततः पुलाको व्युच्छिद्यते। कषायकुशीलस्ततोऽसंख्येयानि गच्छत्येकाकी ततः कषायकुशीलप्रतिसेवनाकुशीलवकुशा युगपदसंख्येयानिस्थानानि गच्छन्ति, ततो वकुशो व्युच्छिद्यते ततोप्यसंख्येयानि स्थानानि गत्वा प्रतिसेवनाकुशीलोव्युच्छिद्यते, ततोऽप्यसंख्येयानि स्थानानिगत्वा कषायकुशीलो व्युच्छिद्यते, अत उर्ध्वमकषायस्थानानि निर्ग्रन्थः प्रतिपद्यते, सोऽसंख्येयानि स्थानानि गत्वा व्युच्छिद्यते। अत उर्ध्वमेकस्थानं गत्वा स्नातको निर्वाणं प्राप्नोतीत्येषां संयम लब्धिरनंतगुणा भवंतीति।

अर्थ:—उत्तरोत्तर गुणो की अधिकता और चारित्र की विशेषता धारण करनेवाले पुलाकादि निर्ग्रन्थो का सयम आदि आठ अनुयोगो द्वारा व्याख्यान करना चाहिये। यहीबात आगे दिखलाते है। १. संयम २. श्रुत, ३. प्रतिसेवना ४. तीर्थ ५. लिङ्ग ६. लेश्या ७. उपपाद और ८. स्थान इन आठों भेदों के द्वारा पुलाकादिको को सिद्ध करना चाहिये।

(१) संयम - वह इस तरह सयम के द्वारा पुलाक, बकुश, और प्रतिसेवना कुशोल ये सदा सामायिक और छेदोपस्थापना इन दो सयमों में रहते हैं। कषाय कुशील, सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसांपराय इन चार संयमों मे रहते है। निर्ग्रन्थ और स्नातक एक ही यथाख्यात संयम में रहते है।

(२) श्रुतज्ञान – श्रुत के द्वारा पुलाक, बकुश और प्रतिसेवनाकुशील के उत्कृष्ट श्रुतज्ञान अभिन्नाक्षर दश पूर्वतक होता है। कषाय कुशल और निर्ग्रन्थो के चौदह पूर्व तक होता है। जघन्य श्रुतज्ञान पुलाक के आचारवस्तु तक होता है। (आचार वस्तु आचाराङ्ग का एक भाग है) बकुश, कुशील और निर्ग्रन्थों के जघन्य श्रुतज्ञान अष्टप्रवचनमातृका तक होता है। (आचाराङ्ग में एक अधिकार पांच समिति और तीन गुप्ति के व्याख्यान करने का है उस अधिकार तक ही अष्टप्रवचनमातृका रहते है) स्नातकों के कोई श्रुतज्ञान नहीं होता क्योंकि वे केवली होते है।

(३) प्रतिसेवना :– प्रतिसेवना के द्वारा - प्रतिसेवना विराधना को कहते हैं। पुलाक मुनिके पांचो मूलगुण (महाव्रत) और रात्रि भोजन त्याग इन छह व्रतों में से दूसरे की जबरदस्ती से किसी एक में विराधना होती है। बकुश दो प्रकार के होते हैं एक (क) उपकरण बकुश और दूसरे शरीर बकुश। (ख) जिसके चित्त में पीछी, कमण्डलु, पुस्तक, बन्धन आदि धर्मोपकरण की अभिलाषा रहती है जो अनेक तरह के चित्रविचित्र परिग्रहों को (पीछी, कमण्डलु, पुस्तक, बंधन आदि परिग्रहों को) धारण करता है, विशेष उपयोगी बहुत से उपकरणों की आकांक्षा रखता है और उनके संस्कार से विराधना करता है ऐसे मुनि को उपकरण बकुश कहते हैं। (ग) शरीर के संस्कारों की सेवा करने वाला मुनि शरीर बकुश कहलाता है। प्रति सेवना बकुश नामका मुनि मूलगुणों की विराधना तो नहीं करता किन्तु उत्तर गुणों की कुछ विराधना करता है कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ और स्नातकों के विराधना नहीं होती।

विशेष :– त्याग की हुई वस्तु को कारण पाकर ग्रहण कर लेना और फिर शीघ्र ही सावधान होकर उसका त्याग कर देना, प्रतिसेवना या विराधना कहलाती है।

(४) तीर्थ :– तीर्थ के द्वारा - ये सब तरह के मुनि समस्त तीर्थंकरों के तीर्थ में होते हैं।

(५) लिङ्ग :– लिङ्ग दो प्रकार का है भावलिङ्ग और दूसरा द्रव्यलिङ्ग। भावलिङ्ग की अपेक्षा से पांचों प्रकार के सब ही मुनि निर्ग्रन्थ लिङ्ग को धारण करते हैं तथा द्रव्यलिङ्ग की अपेक्षा से सबका अलग अलग विभाग कर [illegible]

विशेष :– द्रव्यलिङ्ग की अपेक्षा से-कोई आहार करता है, कोई [illegible] कोई उपदेश करता है, कोई अध्ययन करता है, कोई [illegible] कोई अनेक आसनों से ध्यान करता है, किसी के दोष लगता है, [illegible] लगता, कोई प्रायश्चित लेता है, कोई [illegible] है इत्यादि बाह्य प्रवृत्ति की अपेक्षा [illegible]

(६) लेश्या :– लेश्या के द्वारा - पुलाक [illegible] होती है। बकुश और प्रतिसेवना कुशील [illegible] कषाय कुशील और [illegible] होती है। [illegible] [illegible]

रहित होते है अर्थात् उनके कोई लेश्या नहीं होती।

(७) उपपाद – उपपाद के द्वारा - पुलाक मुनि का उपपाद अठारह सागर की उत्कृष्ट आयु वाले देवों मे सहस्रार स्वर्ग तक का होता है।

भावार्थ – पुलाक मुनि शरीर छोड़कर अधिक से अधिक सहस्रार स्वर्गतक उत्पन्न हो सकते है। बकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनि बाईस सागर की आयु पाकर आरण और अच्युत स्वर्ग तक उत्पन्न हो सकते है। कषाय कुशील और निर्ग्रन्थ जाति के मुनि तेतीस सागर की आयु पाकर सर्वार्थसिद्धि मे उत्पन्न हो सकते हैं। इन सब का जघन्य उपपाद दो सागर की आयु लिये हुए सौधर्म स्वर्ग है अर्थात् ये मुनि कम से कम दो सागर की आयु पाकर सौधर्म स्वर्ग में तो उत्पन्न होते ही है। स्नातक मुक्त ही होता है।

(८) स्थान :– स्थान के द्वारा कषायों के निमित्त से संयम के असंख्यात स्थान होते हैं उनमें से सबसे से जघन्य लब्धिस्थान पुलाक और कषाय कुशील के होते है वे दोनों ही असंख्यात स्थानक तो साथ साथ रहते हैं परन्तु पुलाक फिर अलग हो जाता है उसके बाद कषाय कुशील असंख्यात स्थान तक अकेला ही जाता है। उसके बाद कषाय कुशील, प्रतिसेवना कुशील और बकुश असंख्यात स्थान तक साथ साथ जाते हैं फिर बकुश वही रह जाता है उसके बाद असंख्यात स्थान तक जाकर प्रतिसेवना कुशील ठहर जाता है उससे आगे भी असंख्यात स्थान जाकर कषाय कुशील रह जाता है। इसके बाद अकषाय स्थान है उन्हें निर्ग्रन्थ प्राप्त करता है। वह भी असंख्यात स्थान जाकर अलग हो जाता है उसके बाद एक स्थान ऊपर जाकर स्नातक मुक्त होता है।

इन सब के उत्तरोत्तर संयम की प्राप्ति अनन्तगुनी होती है।

इस प्रकार संयम का वर्णन किया गया।

अथ परीषह जय प्रकरणं प्रस्तौति।

अर्थ :– अब आगे परीषहजय प्रकरण को कहते है:–

संयतेन तपस्विना दर्शन चारित्ररक्षणार्थं परिवोढव्याः परीषहाः।

अर्थ :– संयमी तपस्वी को सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की रक्षा करने के लिये परिषहों को सहन करना चाहिये।

उक्तंहि।

अर्थ :– कहा भी है।

परिषोढव्या नित्यं दर्शनचारित्ररक्षणे निरतैः ।
संयमतपोविशेषास्तदेकदेशाः परीषहाख्याः स्युः ॥

अर्थ :- दर्शन और चारित्र की रक्षा करने के लिये तत्पर रहने वाले मुनियों को सदा परीषहो को सहन करना चाहिये, क्योंकि ये परीषह संयम और तप दोनों का ही विशेषरूप है तथा उन्हीं दोनों का एक देश है ।

इत्युक्तत्वात्संयमतपसोर्मध्ये परीषहा उच्यन्ते । कर्मागमद्वाराणि संवृण्वंतो जैनेन्द्रान्मार्गान्माच्योष्महीति पूर्वमेव परिषहाग्विजयंतोजितपरीषहाः संस्तैरनभिभूयमानाः प्रधानसंवरमाश्रित्याप्रतिबंधेन क्षपकश्रेण्यारोहणसामर्थ्यं प्रतिपद्यन्ते । अभिन्नोत्साहाः सकलसांपरायिकप्रध्वंसनशक्तयोज्ञानध्यान परशुच्छिन्नमूलानि कर्माणि विधूय प्रस्फोटितपक्षरेणव इव पतत्त्रिणं उर्ध्वं व्रजंतीत्येवमर्थं परिषोढव्याः परीषहाः ।

अर्थ :- इस प्रकार शास्त्रो मे लिखा है । इसलिये इस ग्रन्थ में परीषह, संयम और तप दोनों के मध्य में कहे गये हैं । जो साधु कर्मों के आने के मार्ग को बंद कर देते हैं तथा "मैं श्री जिनेन्द्रदेव के कहे हुए मार्ग से कभी च्युत न होऊँ" इसलिये जो पहले से ही परीषहो को जीतते रहते है । इस तरह परीषहों को जीतकर जो कभी परीषहों से तिरस्कृत नही होते और मुख्य संवर का आश्रय लेकर बिना किसी रुकावट के क्षपक श्रेणी चढने की सामर्थ्य प्राप्त करते है । जिस प्रकार पक्षी अपने पखोंपर लगी हुई धूल को झाड़कर ऊपर को उड़ जाते हैं उसही प्रकार जिनका उत्साह सदा पूर्ण रहता है और जो समस्त सांपराय आश्रव को नाश करने की शक्ति रखते हैं ऐसे मुनिराज अपने ज्ञान और ध्यान रूपी कुल्हाड़ी से जड़ काट कर कर्मों को गिरा देते हैं अर्थात् नष्ट कर डालते हैं और फिर कर्मों से मुक्त होकर ऊपर को गमन कर जाते हैं, इस ही के लिये (मुक्त होने के लिये) परीषहो को सहन करना आवश्यक है ।

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याऽऽक्रोशवधयाचनाऽलाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानादर्शनानीति क्षुधादयो द्वाविंशतिपरीषहाः ।

अर्थ :- १. क्षुधा, २. पिपासा, ३. शीत, ४. उष्ण, ५. दंशमशक, ६. नाग्न्य,

७. अरति, ८. स्त्री ६. चर्या, १०. निषधा, ११. शय्या, १२. आक्रोश, १३.वध १४. याचना, १५. अलाभ, १६. रोग, १७. तृणस्पर्श, १८. मल, १६. सत्कार-पुरस्कार, २०. प्रज्ञा, २१. अज्ञान, और २२. अदर्शन ये बाईस परीषह कहलाते हैं।

ते एते वाह्याभ्यंतरद्रव्यपरिणामाः शरीरमानसप्रकृष्टपीड़ा-हेतवस्तद्विजये विदुषा संयतेन तपस्विना मोक्षार्थिना प्रयत्नः कार्यः।

अर्थ :— ये परीषह बाह्य और अभ्यंतर द्रव्यों के परिणामों में प्रकट होते हैं। शरीर और मन को सबसे कठिन पीड़ा देते हैं, इसलिये इनको विजय करने के लिये विद्वान् और मोक्ष की इच्छा करने वाले संयमी तपस्वी को अवश्य प्रयत्न करना चाहिये। वह प्रयत्न किस प्रकार करना चाहिये यही आगे बतलाते हैं :-

(१) क्षुधा परीषहजय :—

तद्यथा–निवृत्त संस्कारविशेषस्य शरीरमात्रोपकरणसन्तुष्टस्य तप संयमविलोपं परिहरतः कृत कारितानुमतसंकल्पितोद्दिष्टसंक्लिष्टक्रियागतप्रत्यादत्तपूर्वकर्मपश्चात्कर्मदशविधदोष विप्रमुक्तैषणस्यदेशकालजनपदव्यवस्थापेक्षस्यानशनाध्वरोगतपः स्वाध्यायश्रमवेलातिक्रमावमोदर्यासद्वेद्योदयादिभ्यो नानाऽऽहारेन्धनोपरमे जठरांत्रदाहिनीमारुतांदोलिताऽग्निशिखेव समंताच्छरीरेन्द्रियहृदयसक्षोभकरी क्षुदुत्पद्यते। तस्याः प्रतीकारं त्रिप्रकारमकालेसंयमविरोधिभिवा द्रव्यैः स्वयमकुर्वतोऽन्येन क्रियमाणमसेवमानस्य मनसा वाऽनभिसंदधतो दुस्तरेयं वेदना महाश्चकालो दीर्घमह इति। विषादमनापद्यमानस्य त्वगस्थिसिरावितानमात्र कलेवरस्यापि सतः आवश्यकक्रियादिषु नित्योद्यतस्य क्षुद्रसप्राप्तानर्थान् चारकबंधस्थमनुष्यपंजरगततिर्यक्प्राणिनः क्षुदभ्यर्दितान्परतंत्रानपेक्षमाणस्य ज्ञानिनो धृत्यंभसाशमकुंभधारितेन क्षुदग्निं शमयतस्तत्कृतपीड़ां प्रत्यविगणनं क्षुज्जय इत्युच्यते।

अर्थ :— जिन्होंने शरीर के विशेष सब संस्कार छोड़दिये हैं जो मुनि केवल शरीर मात्र को ही धर्म का उपकरण मानकर उसी से संतुष्ट रहते हैं। जो तप और संयम के विघ्नों को सब तरह से दूर करते रहते हैं। १. कृत, २. कारित, ३ अनुमत, ४. संकल्पित, ५. उद्दिष्ट, ६. संक्लिष्ट ७. क्रियागत, ८. प्रत्यादत्त

९. पूर्वकर्म, और १०. पश्चात्कर्म इन दश प्रकार के दोषों में से कोई भी दोष लग जाने से जो उसी समय आहार का त्याग कर देते हैं तथा जो देश, काल व जनपद (देश) की व्यवस्था की भी अपेक्षा रखते हैं उनके उपवास मार्ग का परिश्रम, रोग का परिश्रम, तपश्चरण का परिश्रम, स्वाध्याय का परिश्रम, आहार के समय का उल्लंघन हो जाना, अवमोदर्य अर्थात् कम भोजन करना और असाता वेदनीय कर्म का उदय इन सब कारणो के द्वारा अनेक आहार रुपी ईंधनो से वंचित रह जाने पर(कितने ही दिन तक आहार न मिलने पर) पेट की आतो की दाहिनी ओर की वायु के आदोलन से बढ़ी हुई अग्नि की शिखा के समान चारो ओर से शरीर इन्द्रिय और हृदय को क्षोभ उत्पन्न करनेवाली क्षुधा उत्पन्न होती है उस क्षुधा का प्रतिकार मन, वचन, काय तीनो से असमय मे संयम की विराधना करनेवाले द्रव्यों से न तो वे स्वय करते हैं न करने वाले अन्य किसी को करने देते हैं और न मन में कभी भी उस क्षुधा का प्रतिकार करने के लिये विचार करते हैं। यह क्षुधा की वेदना व भूख का दुःख बड़ा ही कठिन है। समय बहुत बड़ा है और अभी दिन बहुत बाकी है, इस प्रकार का विषाद एव खेद भी कभी नहीं करते। शरीर मे केवल चमड़ा, हड्डी और नसों का जाल मात्र रह जाने पर भी आवश्यक कार्यों में सदा तत्पर रहते हैं। क्षुधा के कारण जिन्हे अनेक अनर्थ प्राप्त हुए हे ऐसे जेलखाने व हिरासत (कैद) में रोके हुए मनुष्य अथवा पिंजड़े मे पड़े हुए पशु, पक्षी आदि भूख से पीडित रहनेवाले और परतत्र रहने वालों के दुःखों का सदा विचार करते रहते हैं। ऐसे ज्ञानी मुनिराज शान्त परिणाम रुपी घड़े में भरे हुए धैर्य्य-रुपी जल से क्षुधा रुपी अग्नि को शान्त करते रहते हैं। इस तरह क्षुधा से उत्पन्न हुई पीड़ा को बिल्कुल नही जानते उसको क्षुधा विजय अथवा क्षुधा परीषह का जीतना कहते हैं।

(२) तृषा परीषहजय :—

जलस्नानावगाहनपरिषेकत्यागिनः पतत्रिवदस्थ‌ासनावसथस्य। अतिलवणस्निग्धरूक्षविरुद्धाहारश्लेष्मातपपित्तज्वरानशनादिभिरुदीर्णांशरीरेंद्रियोन्माथिनींपिपासाप्रत्यनाद्रियमाणप्रतीकारमनसोनिदाघ–पटुतपनकिरणसंतापि नोष्णटव्यामासन्नेष्वपिहृदेषु अपकायिक जीव-परिहारेच्छया जलमनाददानस्य सलिलसेकविवेकम्लानां लतामिव ग्लानिमुपगतांगात्रयष्टिमवगणय्यं तपः परिपालनपरस्यभिक्षाकाले-

...इंगिताकादिभिर्योग्यमपि पानं पातुं परमचोदयतः। परमधैर्यकुंभधारितशीतलसुगन्धिप्रतिज्ञा तोयेन विधाय यतः तृष्णाग्निशिखांसंयमपरत्वं पिपासासहनमित्यवसीयते।

अर्थ – जो मुनिराज पानी से स्नान करना, पानी में अवगाहन करना पानी का छिडकना आदि बातो के त्यागी है, पक्षियों के समान न तो जिनका कोई आसन ही निश्चित है और न कोई स्थान ही निश्चित है, भोजन मे अधिक लवण खालेने से, चिकने रुखे अथवा और किसी तरह के विरुद्ध आहार का सयोग मिल जाने से व गर्मी, धूप, पित्तज्वर, उपवास आदि अनेक कारणों के द्वारा जो शरीर और इन्द्रियो को अत्यन्त त्रास देनेवाली प्यास लगती है, उसके प्रतीकार करने का विचार भी वे कभी मन में भी नही लाते, गर्मी का समय है, सूर्य की तेज किरणे जला रही है, वन मे सरोवर भी पास है तो भी जलकायिक जीवो के वचाव करने को इच्छा से कभी जल ग्रहण नही करते। जल सीचने के विना मुरझाइ हुई लता के समान मुरझाई हुई व ग्लानि करने योग्य बुरी दशा को प्राप्त हुई शरीर रुपी लकडी को कुछ भी न गिनते हुए तपश्चरण के पालन करने में ही तत्पर रहते है भिक्षा करने के समय भी किसी इशारे व आकार से योग्य पानी को पीने के लिये भी प्रेरणा नही करते और परम धैर्य रुपी घड़े मे भरे हुए शीतल सुगधित प्रतिज्ञारुपी जल से जो प्यास रुपी अग्नि की शिखा को वुझाते है, उनके सयम में तत्पर रहने वाला पिपासाविजय अथवा पिपासा परीषह का सहन करना कहलाता है।

(३) शीत परीषह जय :–

परित्यक्त वाससः पक्षिवदनवधारितालयस्य शरीरमात्राधिकरणस्य शिशिरवसंतजलदागमादिकालवशाद् वृक्षमूले पथि गुहादिषु पतित प्रालेयतुषारलवव्यतिकर शिशिरपवनाभ्याहतमूर्तेस्तत्प्रतिक्रियासमर्थद्रव्यान्तराग्न्याद्यनभिसंधानाशा नारकदुःसहशीतवेदनाऽनुस्मरणात् तत्प्रतिचिकीर्षायां परमार्थविलोपभयाद्विद्यामंत्रौषधपर्ण वल्कलत्वक्तृणाजिनसंबंधात् व्यावृत्तमनसः परकीयमिवदेहं मन्यमानस्य धृतिविशेषप्रावरणस्य गर्भागारेषु धूपप्रवेकपुष्पप्रकरप्रदर्पितप्रदीपप्रभेषु। वरांगनानवयोवनोष्णघनस्तननितंबभुजान्तरत-

जितशीतेषु निवासः सुरतसुखाकरमनुभूतमसारत्वाववोधादस्मरतो विषादविरहितस्य संयमपरिपालनं शीतक्षमेति भाष्यते ।

अर्थ:-- जिन्होने वस्त्रमात्र का त्याग कर दिया है । पक्षियो के समान जिन मुनियों का कोई स्थान निश्चित नही है, जाडे (शीतकाल) गर्मी और वर्षा-ऋतु में वृक्ष के नीचे चोहटे तथा गुफा आदिकों मे रहने से ठण्ड के दिनो में जो बहुतसा वर्फ व ओस पड़ती है एवं बहुत से ओले बरसते है उनकी ठंडी वायु से जिनका शरीर अत्यन्त ठण्डा हो रहा है उस ठंडक को दूर करने की सामर्थ्य रखने वाले अग्नि आदि अन्य द्रव्यों की भरपूर अनिच्छा होने से नार-कियों की शीत वेदना के घोर दुःखों का स्मरण करने से तथा उस ठण्डक को दूर करने का उपाय करने में परमार्थ के विगड़ने का भय होने से, विद्या, मत्र औषध, पत्ते, छाल, चमड़ा, तृण आदि पदार्थों के संबध से जिनका चित्त विल्कुल हट गया है जो शरीर को विल्कुल दूसरा (आत्मा से भिन्न) मानते हैं, जिन्होंने एक प्रकार का अटल धैर्य रूपी वस्त्र ही ओढ रक्खा है, मुनि होने के पहिले जो ऐसे भीतरी घरों में रहते थे जिनमें चारो ओर धूप जल रही थी, पुष्पों के ढेर लग रहे थे, दीपक का प्रकाश हो रहा था और नवयौवन उत्तम स्त्रियो के उष्ण स्तन नितंब और भुजाओं के मध्यभाग मे रहने से शीत दूर ही से भाग रहा था ऐसे घरों में सुरत सुख का आनंद लेते हुए निवास करते थे परन्तु अब उस अनुभूत सुख में भी कुछ सार न होने से कभी उसका स्मरण तक नहीं करते हैं, इस प्रकार की शीत वेदना को सहन करते हुए भी कभी विषाद नही करते हैं और इस तरह संयम का परिपालन पूर्ण रीति से करते हैं उसको शीत विजय यानी शीत परीषह का सहन करना कहते हैं।

(४) उष्ण परीषह जय :--

ग्रीष्म्येण पटीयसा भास्करकिरणसमूहनसमूहेन संतापित शरी-रस्य तृष्णानशनपित्तरोगधर्मश्रमप्रादुर्भूतोष्णस्य खेदशोषदाहाऽन्य-हितस्य जलभवनजलावगाहनानुलेपनपरिषेकाद्रावनितलोत्पलदलक-दलीपत्रोत्क्षेपमारुतजलतूलिकाचन्दनद्रवचन्द्रपादकमलकल्हारमुक्ता-हारादिपूर्वानुभूतशीतलद्रव्यप्रार्थनापेतचेतस उष्ण वेदनाति तीव्रा-बहुकृत्वः परवशादवाप्ता इदं पुनस्तपोममकर्मक्षयकारणमिति तद्वि-

रोधिनीं क्रियां प्रत्यनादराच्चारित्ररक्षण मुष्णसहनमिति समाम्नायते ।

अर्थ :— अत्यन्त उष्ण और बहुत तेज सूर्य की तेज किरणों से जिन मुनि का शरीर सब सतप्त हो गया है, प्यास, उपवास, पित्त रोग, धूप, परिश्र आदि कारणो से जिनके शरीर में उष्णता प्रकट हो रही है जो खेद शोक अ दाहसे मर्दित हो रहे हैं, मुनि होने के पहिले जो जलभवन में रहते थे, शरी पर ठडा लेप लगाते थे, शरीर को गुलाब जल आदि से छिड़कते थे, जमी पर छिडकाव करके बैठते थे, कमलो के दल, केलों के पत्ते बिछाते थे, ऊपर वायु झेलते थे, जल की बावडी में क्रिडा करते थे, चन्दन का लेप करते थे चन्द्रमा की चाँदनी में बैठते थे, कमल, कुमोदनी और मोतियों के हार पहिनते थे इत्यादि बहुत से शीतल पदार्थों को काम में लेते थे परन्तु अब भोगे हुए पदार्थों से भी जिन्होंने अपना चित्त बिल्कुल हटा लिया है। जो सदा यही विचार करते रहते है कि मैंने परवश होकर अनेक बार अत्यन्त तीव्र उष्ण वेदनाएं सहन की परन्तु अब स्वय इस वेदना को सहन करना तो मेरा तपश्चरण है जो कि कर्मों के नाश करने का कारण है। इसलिये जो उष्णता को दूर करने वाली क्रियाओ के प्रति कभी आदर भाव नही करते और इस तरह अपने चारित्र की रक्षा पूर्ण रीति से करते हैं इसको उष्णविजय यानी उष्ण परीषह को जीतना अर्थात् सहन करना कहते है ।

(५) दंशमशक परीषह जय :—

प्रत्याख्यात शरीराच्छादनस्य क्वचिदप्रतिबद्धचेतसः परकृतायतनगुहागह्वरादिषु रात्रौ दिवा वा दंशमशकमक्षिका पिशुकपुत्तिकामकुणकीटपिपीलिकावृश्चिकादिभिस्तीक्ष्णपातैर्भक्षमाणस्यातितीव्रवेदनोत्पादकैरव्यथितमनसः स्वकर्मविपाकमनुचिंतयतोविद्यामंत्रौषधादिभिस्तन्निर्वृत्तिं प्रति निरुत्सुकस्याऽऽशरीरपतनादपि निश्चितात्मनः परबलमर्द्दनं प्रति वर्तमानस्य मत्तांधगंधसिंधुरस्य रिपुजनप्रेरितविविधशस्त्रप्रतिघातादपराङ्मुखस्य निष्प्रत्यूहविजयोपलंभनमिव कर्म्मारातिपृतनापराभवं प्रति प्रयत्नं दंशमशकादिबाधासहनमप्रतीकारमित्याख्यायते । दंशमशकमात्रग्रहणमुपलक्षणार्थं तेन

दंशमशकादिग्रहणं तज्जातीयोपलक्षणार्थं, कारणस्य सर्वस्यैवेदमुपलक्षणं, यथा काकेभ्यो रक्षतां सर्पि दधि रक्ष्यतामिति।

अर्थः— जिन्होंने सब तरह के शरीर के आच्छादनों को त्याग कर दिया है, ऐसे मुनि जिनका हृदय किसी एक जगह बंधा हुआ नहीं है, दूसरों के बनाये हुए वसतिका, गुफा, कोटर आदि स्थानों में रहने में रात्रि व दिन में डांस, मच्छर, मक्खी, पिस्सू, मधुमक्खी, खटमल, कीड़े, चींटी और बिच्छू आदि तीक्ष्ण जानवर जिन्हें काट रहे हैं और अत्यन्त तीव्र वेदना, (पीड़ा) दे रहे हैं तथापि जिनका हृदय कभी व्यथित व खिन्न नहीं होता। जो सदा अपने कर्मों के उदय का चिंतवन करते रहते हैं। विद्या, मंत्र, औषधि आदि के द्वारा उन जानवरों को जो कभी दूर करने की इच्छा नहीं करते शरीर का नाश होने तक भी जो अपनी आत्मा में निश्चल रहते हैं जिस प्रकार जो दूसरे के बल को मर्दन करने के लिये (चूर करने के लिये) तैयार है जिसकी सेना में मदोन्मत्त गंधसिन्धुर नाम के हाथी हैं और जो शत्रुओं के द्वारा चलाये हुए अनेक तरह के शस्त्रों से भी कभी विमुख नहीं होता ऐसे किसी राजा की विजय निर्विघ्न होती है उसही प्रकार जो कर्मरूपी शत्रुओं की सेना का पराभव करने के लिये प्रयत्न करना दंशमशकबाधा सहन अथवा दंशमशक परीषह का जीतना कहलाता है। यहाँ पर दंशमशक का ग्रहण उपलक्षण से किया है। जैसे कौवे से दही की रक्षा करना यह उपलक्षण है इसका अभिप्राय यह है कि कौवे से तथा कुत्ता, बिल्ली आदि सबसे दही की रक्षा करना उसही प्रकार डांस, मच्छर का परीषह सहन करने का अभिप्राय डांस, मच्छर, बिच्छू, मक्खी आदि सभी जानवरों का परीषह सहन करना है।

(६) नग्न परीषह जयः—

गुप्तिसमित्याविरोधपरिग्रहनिवृत्ति परिपूर्णब्रह्मचर्यमप्रार्थितमोक्षसाधनं चारित्रानुष्ठानं यथाजातरूपमसंस्कृतमविकारं मिथ्यादर्शनाविष्ट विद्विष्टं परममांगल्यं नाग्न्यमभ्युपगतस्य स्त्रीरूपाणि नित्याशुचिबीभत्सकुणपभावेन पश्यतो वैराग्य भावनाविरुद्धमनोविक्रियस्यासंभावितमनुष्यत्वस्य नाग्न्यदोषासस्पर्शात्परीषहजयसिद्धिरिति। जातरूपधारणमुत्तमश्रेयः प्राप्तिकारणमित्युच्यते। इतरे पुनर्मनोविक्रियां निरोद्धुमसमर्थास्तत्पूर्विकामंगविकृतिं निगूहितु कामाः

पीनफलकचीवराद्यावरणमातिष्ठंते । अशक्संवरणार्थमेव तत्र कर्म-संवरण कारणं ।

अर्थ :– जो मुनि गुप्ति, समितियो का कभी विरोध नहीं करता, परिग्रह का बिल्कुल त्याग कर देता है और ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करता है । बिना प्रार्थना किये ही जो मोक्ष का साधन है । चारित्र का अनुष्ठान करने वाला है जिसका स्वरुप पैदा हुए बालक के समान स्वाभाविक है । बिना सस्कार किया हुवा और विकार रहित है । मिथ्यादर्शन से जकडे हुए लोगों का विरोधी है और परममगल रुप है, ऐसे नाग्न्य को (नग्न अवस्था को) जो धारण करते हैं जो स्त्रियो के स्वरुप को सदा अपवित्र, बीभत्स और घृणित भाव से देखते हैं। वैराग्य भावनाओ के द्वारा जिनके मन के विकार सब रुक गये है जो अपनी मनुष्य पर्याय का कभी विचार नही करते केवल आत्मा में ही लीन रहते हैं, उनके नग्न रहने से उत्पन्न होने वाले दोषों का स्पर्श न होने से नग्नपरीषह के विजय होने की सिद्धि होती है अर्थात् नग्न परीषह का विजय करना व सहन करना कहलाता है । इस ही लिये नग्न अवस्था धारण करना उत्तम से उत्तम कल्याण अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति का कारण कहा जाता है । जो लोग नग्न अवस्था धारण नही कर सकते वे मन के विकारों को रोक नहीं सकते । इसलिये उन विकारों के कारण उत्पन्न हुए शरीर के विकारो को छिपाने की इच्छा से शरीर को ढकने के लिये कोपीन, लंगोटी, कपडा आदि शरीर ढकने के साधनों को ग्रहण करते है परन्तु उनकी इस क्रिया से आते हुए कर्म कभी नही रुक सकते ।

(७) अरति परीषह जय :–

संयतस्य क्षुधाद्याऽऽबाधासंयमपरिरक्षणेंद्रियदुर्जयत्वव्रतपरिपाल-नभारगौरवसर्व्वदाऽप्रमत्तत्वदेशभाषांतरानभिज्ञत्वविषमचपलसत्व-प्रचुरभीमदुर्गनियतैकविहारत्वादिभिररति प्रादुष्यन्तो (?) धृतिविशे-षान्निवारयतः संयमे रतिभावनाद्विषयसुखरतिमतिविषमाहारसेवेव-विपाक कटुकेति चिन्तयतोःरतिपरीषहबाधाःभावादरतिपरीषहजय इति निश्चीयते ।

अर्थ – जो मुनि भूख, प्यास आदि की बाधायें उत्पन होना सयम की रक्षा करना, इन्द्रियों का दुर्जयपना व्रतों का पालन करने के भार से गौरव धारण

करना, सदा अप्रमत्त व प्रमाद रहित रहना, अनेक देशों की भाषाओं को न जानना, विषम तथा चंचल प्राणियों का व अत्यन्त भयानक पदार्थों का ससर्ग होना और दुर्गम एक क्षेत्र मे नियम रूप से विहार करना आदि कारणों के द्वारा जो अरति उत्पन्न होती है उसे विशेष धैर्य्य से निवारण करते हैं और जो सयम मे प्रेमरूप भावना होने के कारण विषय सुख से उत्पन्न हुई रति को अत्यन्त विषय आहार ग्रहण करने के समान फल देने के समय अत्यन्त कड़वी अथवा दुःखदायक समझते हैं उनके अरति परिषह की बाधा कभी नही हो सकती, इसही लिये उनके अरति परीषह का जीतना अथवा सहन करना कहलाता है।

(८) स्त्री परीषह जय :—

एकान्ते भवनारामादिप्रदेशे रागद्वेषयौवनदर्परूपमदविभ्रमोन्मादमद्यपानाऽवेशादिभिः प्रमदासुबाधमानासु तदक्षिवक्त्रभ्रूविकारश्रृंगाराकारविहारहावविलासहासलीलाविजृंभितकटाक्षविक्षेपसुकुमारस्निग्धमृदुपीनोन्नतस्तनकलशनितांतताम्राधरपृथुजघनरूपगुणाभरणगन्धवस्त्रमाल्यादीन्प्रतिनिगृहीतमनोविप्लुतेर्दर्शनस्पर्शनाभिलाषनिरुत्सुकस्य स्निग्धमृदुविशदसुकुमाराभिधानतंत्रीवंशमिश्र मधुरगीतश्रवणनिवृत्तादरश्रोतस्य कूर्मवत्संवृतेंद्रियहृदयविकारस्यललितस्मितमृदुकथितसविकारवीक्षण प्रहसनमदमंथरगमनमन्मथशरव्यापारविफलीकरणचरणस्य संसारार्णवव्यसनपातालरौद्रदुःखागाधावर्तकुटिलाध्यायिनः स्त्रैणानर्थनिवृत्तिः स्त्रीपरीषहजय इति कथ्यते। अन्यवादिपरिकल्पिता देवताविशेषा ब्रह्मादयस्तिलोत्तमादिदेवगणिकारूपसंपद्दर्शनलोललोचनविकाराः स्त्रीपरीषहपंकान्नोद्धर्तुमात्मनं समर्थाः।

अर्थ :— जो मुनि किसी वसतिका अथवा बगीचा आदि एकात स्थान मे राग से द्वेषसे, यौवन के दर्प (घमण्ड) से, रूप के मदसे अथवा विभ्रम उन्माद और मद्यपान आदि के आवेश से अनेक स्त्रियां आकर सतावें तो उस समय भी उन स्त्रियों के, नेत्र टेढी भौंहों के विकार शृंगार, आकार, विहार, हाव, भाव, विलास, हास, लीला पूर्वक फेंके हुए कटाक्ष, सुकुमार कोमल चिकने और बड़े बड़े जघन, रूप, गुण, आभरण, गध, वस्त्र, माला आदि से भी जिनके मन में कभी विकार प्रकट नही होता, जो उनके देखने की भी कभी इच्छा नही करते।

स्निग्ध, कोमल, विशद और सुकुमार नाम की वीणाओं की आवाज में मिले हुए मधुर गीतो के सुनने से भी जो अपने कानों को बिल्कुल दूर हटा लेते हैं, जो कछुए के शरीर के समान इन्द्रिय और हृदय के विकारों को संकुचित कर लेते है। स्त्रियों के मनोहर हास्य, मधुर भाषण, सविकार वीक्षण हसी ठट्ठा, मदोन्मत्त होकर धीरे धीरे गमन करना ऐसी स्त्रियों को देख करके भी धीरवीर मुनि जोकि कामदेव के बाणो के व्यापार आदि सबको निष्फल करनेवाला जिनका चारित्र है। जो सदा यही विचार किया करते है कि यह संसार महासागर है सकट रुप पाताल और सब नारकीय रौद्र दुःखरुप अगाध भ्रमणो के द्वारा कुटिल है। इस प्रकार विचार करते हुये जो स्त्रियों के अनर्थों से अलग रहते है, उनके स्त्रीपरीषह जय अर्थात् स्त्रीपरीषह को जीतना व सहन करना कहलाता है। अन्य वादियो के कल्पना किये हुए ब्रह्मा आदि विशेष देवताओं के भी चचल नेत्रों में तिलोत्तमा आदि देव गणिकाओं की रुप संपत्ति देखकर विकार उत्पन्न हो आया था और वे स्त्रीपरीषह रुपी कीचड़ से अपने आत्मा का उद्धार नही कर सके थे।

(६) चर्या परीषह जय :—

दीर्घकालाऽभ्यस्तगुरुकुलब्रह्मचर्यस्याधिगतबंधमोक्षपदार्थतत्वस्य कषायनिग्रहपरस्यभावनार्पितमनसः संयमायतनादिभक्तिहेतोर्देशान्तरातिथेर्गुरूणाऽभ्यनुज्ञातस्य नानाजनपदव्याहारव्यवहाराभिज्ञस्य ग्राम एक रात्रं नगरे पंचरात्रं प्रकर्षेणावस्थातव्यमित्येवं यातस्यवायोखि निःसंगतामुपगतस्यदेशकालप्रमाणोपेतमध्वगमनमनुभवतः क्लेशक्षमस्य भीमाटवीप्रदेशेषु निर्भयत्वात्सिंहस्येव सहायकृत्यमनपेक्षमाणस्य परुषशर्कराकंटकादिव्यथनजातपादखेदस्यापि सतः पूर्वोचितयानवाहनादिगमनमस्मरतः सम्यक् चर्यादोषं परिहरतः चर्यापरीषहजयो वेदितव्यः।

अर्थ :— जिन्होंने गुरुकुल में (आचार्य सघ मे) वहुत दिन तक रहकर ब्रह्मचर्य का अभ्यास किया है, जो वध मोक्ष आदि पदार्थों और तत्वों को अच्छी तरह जानते हैं, कषायो के निग्रह करने में सदा तत्पर रहते हैं जिनका मन सदा भावनाओं मे ही लगा रहता है, जो सयम पालन करने के लिये और तीर्थ क्षेत्र

आदि धर्मायतनो की भक्ति करने के लिये अन्य देशों में भी विहार करते हैं, अन्य देशों में जाने के लिये जिन्होंने गुरु से आज्ञा प्राप्त करली है जो अनेक देशों के आहार व्यवहार को अच्छी तरह से जानते है। अधिक से अधिक गांव में एक रात रहेंगे और नगर में पांचरात रहेंगे यही समझकर जो गमन करते हैं। जो वायु के समान परिग्रह रहित हैं। देश काल के प्रमाण के अनुसार प्राप्त हुए मार्ग के गमन का जिन्हे पूर्ण अनुभव है, जो क्लेशो को सहन करने में समर्थ हैं। भयानक वनों में भी सिंह के समान निर्भय होकर गमन करते है तथा किसी तरह की भी सहायता की अपेक्षा नही रखते। कठिन बालू कांटे आदि के द्वारा पैर फट जाने से जिनके पैरों में खेद हो रहा है तो भी पहिले के रथ घोड़ा आदि सवारियों पर किये हुए गमन को कभी स्मरण तक नही करते, इस प्रकार जो चर्या (चलने के) दोषो को अच्छी तरह दूर करते है उनके चर्या परीषह जय यानी चर्या परीषह को जीतना व सहन करना कहलाता है।

(१०) निषद्या परीषह जय.—

श्मशानोद्यानशून्यायतनगिरिगुहागह्वरादिष्वनभ्यस्तपूर्वेषु विदितसंयमक्रियस्य धैर्यसहायस्योत्साहवतो निषद्यामधिरूढस्य प्रादुर्भूतोपसर्गोग्ररोगविकारस्यापि सततस्तत्प्रतिदेशावविचलितो मंत्रविद्यादिलक्षणप्रतीकारानपेक्षमाणस्य क्षुद्रजन्तुप्रायविषमदेशाश्रयात्काष्ठोपलनिश्चलस्वानुभूतमृदुसंस्तरणादिस्पर्शसुखमवगणयतः प्राणिपीड़ापरिहारोद्यतस्य ज्ञानध्यानभावनाधीनधियः संकल्पित वीरासनैकुटिकासनादिरतेरासनदोषाजयान्निषद्यातितिक्षेत्याख्यायते।

अर्थ:— जो मुनि श्मशान, उद्यान, सूना मकान, पर्वत की गुफा और कोटर आदि ऐसे स्थानो में जाकर विराजमान होते हैं, जहाँ कभी भी पहिले विराजमान न हुए हो, जो सयम की सब क्रियायें जानते है, धैर्य ही जिनका सहायक है जो बड़े उत्साही हैं, उपसर्ग और उग्र रोगो के विकार उत्पन्न होने पर भी उस स्थान से कभी चलायमान नहीं होते, मंत्र विद्या आदि कारणों के द्वारा जो कभी उसका प्रतिकार नही चाहते, अनेक छोटे छोटे जन्तुओ के होने से, विषम (ऊँचा नीचा) स्थान होने से जो लकडी और पत्थर के समान निश्चल रहते है। पहले अनुभव किये हुए कोमल बिछोने आदि के स्पर्श के सुख को जो कभी मन तक में नही लाते। सदा प्राणियों की पीड़ा दूर करने के लिये ही तत्पर

[illegible] है जिनकी बुद्धि, ज्ञान और ध्यान की भावना के ही आधीन रहती है। जो वर्णित किये हुए वीरासन उत्कुटिकासन आदि में सदा तल्लीन रहते हैं, ऐसे मुनियों के आसन के दोषों का विजय होने से निषद्यापरिषहसहन अथवा निषद्या परीषह का जीतना कहते हैं।

(११) शय्या परीषह जय –

[illegible]ध्यायध्यानाध्वश्रमपरिखेदितस्य खरविषमप्रचुरशर्करा कपा- [illegible] निद्रामनुभवतो यथा [illegible] [illegible] बाधाविशेषस्य [illegible] [illegible] [illegible] पलायनं प्रति [illegible] [illegible] निपतितदारुवत् व्यपगतासुव[illegible] [illegible] चरितोऽयं [illegible] [illegible] कदा नु रात्रिर्विरमतीति [illegible] [illegible] पूर्वानुभूत[illegible] [illegible] शय्यासहनमिति [illegible]

[illegible]

मन नहीं होते ऐसे मुनियों के शय्यासहन यानी शय्या परीषह का जीतना कहलाता है।

(१२) आक्रोश परीषह जय —

तीव्रमोहाविष्टमिथ्यादृष्टयनार्यम्लेच्छखलपापाचारमत्तोद्दृप्त-शङ्कितप्रयुक्त मा शब्दधिक्कारपरुषा व ज्ञानाक्रोशादीन्कर्णमूलेग-तान्हृदयशलोद्भावकान् क्रोधज्वलनशिखाप्रवर्द्धनकरान्निप्रायान् शृण्वतोपि दृढमन सो दुर्भाविणो भस्मसात्कर्तुमपिसमर्थस्यपरमार्थाव-हितचेतसः शब्दमात्रश्राविणस्तदर्थान्वीक्षणविनिवृत्तव्यापारस्य स्व-कृताशुभकर्मोदयो ममैष यतोऽमीषां मां प्रति द्वेष इत्येवमादिभि-रुपायैरनिष्टवचनसहनमाक्रोशपरीषहजय इति निर्णीयते।

अर्थः— जो मुनि कान के पास जाते ही हृदय में शूल उत्पन्न करदे, क्रोधरूपी अग्नि की शिखा को खूब बढ़ावे ऐसे तीव्र मोहनीय कर्म के उदय से घिरे हुए मिथ्यादृष्टि, अनार्य, म्लेच्छ, दुष्ट पापाचारी मदोन्मत्त और महाभिमानी सशं-कित जीवों के कठोर वचन, धिक्कार के वचन व निन्दा करने वाले, गाली आदि बुरे वचनों को उनके बुरे अभिप्रायों को सुनते हुए भी जिनका मन सदा दृढ़ रहता है। यद्यपि बुरे वचन कहने वाले को भस्म करने की सामर्थ्य रखते हैं तथापि परमार्थ की तरफ चित्त लगे रहने से उस बुरे वचन कहने वाले की ओर व उनके अभिप्रायों की ओर कभी आंख उठाकर देखते तक नहीं, जो सदा यही विचार करते हैं कि यह मेरे ही अशुभ कर्मों का उदय है जो ये लोग मुझसे द्वेष करते हैं। इस प्रकार के उपायों से अनिष्ट वचनों को सहन करना आक्रोश परीषह जय यानी आक्रोश परीषह को जीतना व सहना कहते हैं।

(१३) वध परीषह जय —

ग्रामोद्याननगराटवीपुरेषु नक्तं दिवा चैकाकिनो निरावरणमूर्तेः समन्तात्पर्यटद्भिश्चौरारक्षकम्लेच्छाचारपुरुषवधिरपूर्वापकारिद्विषत्प-रलिंगिभिराहितक्रोधैस्ताड़नाकर्षणबन्धनशस्त्राभिघातादिभिर्मार्यमा-णस्यानुत्पन्नवैरस्यावश्यं प्रयातुकमेवेदंशरीरंकुशलद्वारेणानेनापनीयते न मम व्रतशीलभावनाम्रंशनमिति भावशुद्धस्य दह्यमानस्यापि सतः सुगन्धमुत्सृजतश्चन्दनस्येव शुभपरिमाणस्य स्वकर्मनिर्जराम—

भिसंदधानस्य दृढमतेः क्षमौषधिबलस्य मारकेषु सुहृत्त्विवामर्षापोह-भावनं वधमर्षणमित्याम्नायते ।

अर्थ :— जो मुनि गांव, उद्यान, नगर, वन और पुर में रात दिन अकेले रहते है, जिनका शरीर बिल्कुल आवरण रहित है उन मुनियों को चारों ओर फिरते हुये चोर, लुटेरे, म्लेच्छ, जासूस या बहिरे जिनका पहिले कुछ अपकार हो चुका है। स्वाभाविक द्वेष करनेवाले अन्यमती लोग क्रोधित होकर ताड़ना करते है; खींचते है, बांधते है, शस्त्रो की चोट से मारते है तथापि जिन्हे वैर उत्पन्न नही होता, वे साधु शुद्ध भावों से यही विचार करते है कि "यह शरीर अवश्य ही नष्ट होने वाला है यह कुशलता पूर्वक इसे नष्ट कर रहा है कुछ मेरे व्रत-शील और भावनाओ का नाश तो नहीं करता। इस प्रकार जिनके भावशुद्ध रहते हैं, शरीर को जला देने पर भी जो सुगंध छोड़ते हुए चन्दन के समान अपने परिणामो को सदा निर्मल रखते है, अपने कर्मों की निर्जरा करने में ही तत्पर रहते है, जिनकी बुद्धि सदा दृढ रहती है। जिनके क्षमा रुपी औषधि ही सबसे बडा बल रहता है। जो मारने वाले को भी मित्र के समान ही देखते हैं ऐसे मुनियों के जो ईर्षा द्वेष दूर करने की भावना रहती है उसे वधमर्षण यानी वध परीषह का जीतना कहते हैं।

(१४) याचना परीषह जय :—

क्षुदध्वपरिश्रमतपोरोगादिभिरप्रच्यवितवीर्यस्य शुष्कपादपस्येवनिराद्रमूर्तेरुन्नतास्थिस्नायुजालस्य निम्नाक्षपुटपरिशुष्काधरक्षामापाण्डुकपोलस्य चर्मवत्संकुचितांगोपांगत्वचः शिथिलजानुगुल्फकटिवाहुयंत्रस्य देशकालक्रमोपपन्नकल्पादायिनो वाचंयमस्य मौनिसमस्य वा शरीरसन्दर्शनमात्रव्यापारस्योर्जितसत्वस्य प्राणात्ययेऽपि वसत्याहारभेषजानि दीनाभिधानमुखवैवर्ण्यांगसंज्ञादिभिरयाचमानस्य भिक्षाकालेऽपि विद्युदुद्योतवदुपलक्षितमूर्तेः बहुषु दिवसेषु रत्नवणिजो मणिसन्दर्शनमिव स्वशरीरप्रकाशमकृपणं मन्यमानस्य वन्दमानं प्रति स्वकरविकासनमिव पाणिपुटधारणमदीनमिति गणयतो याचनासहनमवसीयते। प्रयत्ने पुनः कालदोषाद्दीनानाथपाखण्डिवृत्से जगत्यमार्गज्ञैरनात्मवद्भिर्याचनमनुष्ठीयते।

अर्थ :– क्षुधा, मार्ग का परिश्रम, तप और रोगादिक के कारण भी जिनकी शक्ति कम नहीं हुई है ऐसे मुनिराज के, सूके वृक्ष के समान जिनके शरीर में आर्द्रता व शिथिलता बिल्कुल नहीं आई है परन्तु जिनकी हड्डी और नसो का समूह झुका भी नहीं है ज्यों का त्यों उन्नत रहता है। जिनके दोनों नेत्र नीचे की ओर रहते हैं अधर (ओष्ठ) सूखे रहते हैं, कपोल दुबले और सफेद रहते हैं। चमड़े के समान जिनके अङ्ग और उपाङ्गों का चमडा संकुचित हो गया है, जङ्घायें, एड़ियाँ, कमर व भुजायें जिनकी शिथिल हो गई है जो देश काल के क्रम के योग्य आहार ग्रहण करते है। जिन्होने बोलना बन्द कर दिया है अर्थात् मौन धारण कर लिया है जो केवल शरीर को दिखा कर हो वापिस चले जाते हैं। जिनकी शक्ति बहुत बढी हुई है, जिनका चित्त सदा ज्ञान को बढाने मे ही लगा रहता है। प्राणों का नाश होने पर भी जो वसति का आहार औषधियो को, दीन होकर मुख की आकृति बिगाडकर या शरीर की संज्ञा (इशारे) से कभी याचना नही करते, आहार लेने के समय भी बिजली की चमक के समान जो बहुत शीघ्र दिखाई देकर चले जाते हैं। जिस प्रकार रत्न के व्यापारियो को बहुत दिन में अच्छी मणियों का दर्शन होता है इस प्रकार जो अपने शरीर को दिखलाना भी उदारता समझते है वंदना व पड़गाहन करने वाले के यहाँ जो हाथों को पसार करपात्र आहार करते हैं उसको भी वे अदीन भाव समझते है इस प्रकार याचना नही करना यानी याचना परीषह का जीतना कहलाता है। आजकल कालदोष से दीन अनाथ और पाखण्डी बहुत से हो गये है, वे ससार मे मोक्षमार्ग का स्वरुप और आत्मा का स्वरुप न जानने के कारण याचना करते हैं।

(१५) अलाभ परीषह जय :–

वायुवदसंगानेकदेशचारिणोऽप्रकाशितवीर्यस्याभ्युपगतैककालभोजनस्य सकृन्मूर्त्तिसन्दर्शितव्रतकालस्य 'देहिं' इत्यसभ्यवाक्प्रयोगादुपरतस्यानुपासविग्रहप्रतिक्रियस्याद्येदं श्वश्चेदमिति व्यपेतसंकल्पस्यैकस्मिन् ग्रामे लब्धे सति ग्रामान्तरान्वेषणनिरुत्सुकस्यपाणिपुटमात्रपात्रस्य बहुषु दिवसेषु बहुषु च गृहेषुभिक्षामनवाप्याप्यसंक्लिष्टचेतसोनाऽयं दाता तत्राऽन्यो दानशूरोऽतिधन्योवदान्योऽस्तीति व्यपगत-

परीक्षस्य लाभादप्यलाभो मे परं तप इति संतुष्ठस्यालाभविजयो वसेयः।

अर्थ :– जो मुनिराज वायु के समान विना किसी को साथ लिये व विना किसी परिग्रह के अनेक देशों में विहार करते हैं। जो अपनी शक्ति कभी प्रकाशित नही करते, जिनके दिन मे एकही वार भोजन करने की प्रतिज्ञा रहती है, आहार के समय किसी के घर जाकर एक वार शरीर दिखलाना (पड़गाहन न करने पर लौट आना) ही जिनका व्रत रहता है 'दे दीजिये" इत्यादि असभ्य शब्दों के प्रयोग करने का (किसी से माँगने का) जिनके सर्वथा त्याग रहता है। जो शरीर की कोई प्रतिक्रिया नहीं करते। "आज ऐसा है, कल ऐसा होगा" इस प्रकार के संकल्प का जिनके सर्वथा त्याग रहता है। एक गांव में आहार न मिलने पर जो दूसरे गाँव में ढूँढने के लिए कभी नही जाते, जिनके पास केवल हाथ ही पात्र रहते हैं अन्य कुछ नही। वहुत दिनों तक और वहुत से घरों में आहार न मिलने पर भी जो अपने हृदय मे कभी सक्लेश परिणाम नहीं करते। यह दाता नही है। अमुक गाँव में अमुक मनुष्य दानशूर है वडा दानी है और अत्यन्त धन्य मनुष्य हैं इस प्रकार की परीक्षा जो कभी नही करते और जो "आहार मिलने की अपेक्षा आहार न मिलना ही मेरे लिये परम तपश्चरण है इस प्रकार मानते हुए आहार न मिलने से ही परम संतुष्ट रहते हैं ऐसे मुनियों के अलाभ विजय यानी अलाभ परीषह का जीतना कहलाता है।

(१६) रोग परीषह जय :–

दुःखाधिकरणमशुचिभाजनं जीर्णवस्त्रवत्परिहेयं पित्तमारुतकफसंन्निपातनिमित्तानेकामयवेदनाऽभ्यर्दितमन्यदीयमिव विग्रहं मन्यमानस्योपेक्षकत्वादाप्रच्युतेश्चिकित्साव्यावृत्तचेष्टस्यशरीरयात्राप्रसिद्धये घ्रणानुलेपनवद्यथोक्तमाहारमाचरतो विरुद्धाहारसेवाविरसवंपथ्यजनित वातादिविकाररोगस्य युगपदनेकशतसंख्याव्याधिप्रकोपे सत्यःपितद्वशवर्त्तितां विजहतो जल्लौषधिप्राप्ताद्यनेकतपोविशेषर्द्धियोगे सत्यपि शरीरनिस्पृहत्वात्प्रतीकारानपेक्षिणः पूर्व्वंकृतपापकर्मनः फलमिदमनेनोपायेनानृणो भवमीति चिन्तयतो रोग सहनं सम्पद्यते।

अर्थ :- श्री मुनिराज ऐसा विचार करते है कि यह शरीर दुःखों का आधार है, अपवित्रता का पात्र है, जीर्ण वस्त्र के समान त्याग देने के योग्य है। पित्त और कफ के संयोग के कारण अनेक रोगों की वेदना से पीड़ित है। आत्मा से बिल्कुल भिन्न है इस प्रकार जो शरीर के स्वरूप को मानते हैं, शरीर की ओर उपेक्षा होने से जो उसके नाश होने तक चिकित्सा (इलाज) करने की चेष्टा कभी नहीं करते। धर्मसाधन करने के लिये शरीर का टिकना आवश्यक है इसलिये जो घाव पर लेप करने के समान योग्य और शास्त्रानुसार आहार करते हैं विरुद्ध आहार ग्रहण करने से तथा नीरस और विषम आहार ग्रहण करने से वायु आदि के अनेक रोग जिनके हो गये है। एक साथ सैंकड़ों व्याधियों का प्रकोप होने पर भी जो कभी उनके वश नहीं होते। जल्ल, औषधि आदि अनेक तपोविशेष से उत्पन्न हुई ऋद्धियों के सयोग होने पर भी शरीर से निस्पृह होने के कारण जो कभी उन व्याधियों के प्रतिकार करने की इच्छा नहीं करते "यह सब पहले किये हुए पाप कर्मों का फल है इस उपाय से (उन रोगों के कारण अर्थात् वे पाप कर्म अपना राग रूप फल देकर नष्ट हो जायंगे) इसलिये मैं उन कर्मों के ऋण से छूट जाऊँगा" इस प्रकार जो बार बार चिन्तवन करते हैं उनके रोग सहन यानी रोग परीषह का जीतना कहते हैं।

(१७) तृणस्पर्श परीषह जय :-

यथाऽभिनिवृत्ताधिकरणशायिनः शुष्कतृणपरुषशर्कराभूमिकंटकफलकशिलातलादिसु, प्रासुकेष्वसंस्कृतेषु व्याधि मार्गगमनशीतोष्णजनितश्रमविनोदार्थं शय्यां निषद्यां वा भजमानस्य संस्कृतशुष्कतृणादिवाधितमूर्तेरुत्पन्नकंडूविकारस्य दुःखमनभिचिन्तयतस्तृणादिस्पर्शबाधाभिखशीकृतत्वात्तृणस्पर्शसहनमवगन्तव्यं।

अर्थ :- जो मुनिराज स्वाभाविक प्राप्त हुए अधिकरण पर सोते व बैठते हैं। प्रासुक और बिना सस्कार किये हुए सूके तृण, कठिन पत्थर की भूमि, कांटे और पत्थर के टुकड़े वाली शिलाभूमियो पर व्याधि (मार्ग का चलना) व शीत उष्ण से उत्पन्न हुए परिश्रम को दूर करने के लिये सोते हैं व बैठते हैं। बिना सस्कार किये हुए तृणादिकों से जिनके शरीर पर अनेक तरह की बाधाएँ आ रही हैं। खुजली का विकार प्रकट हो रहा है तथापि जो उनके दुख का कभी चितवन नहीं करते। तृण आदि के स्पर्श से उत्पन्न हुई बाधा के जो कभी वश

नहीं होते इसलिये उनके तृणस्पर्श सहन यानी तृणस्पर्श परीषह का जीतना कहलाता है।

(१८) मल परीषह जय :—

जलजन्तुपीडापरिहाराय स्नानप्रतिज्ञस्य स्वेदप्[विध्रसर्वांगस्य वादर निगोदप्रतिष्ठितजीवदयार्थ च शरीरसंस्कारविरमणार्थं च परित्यक्तोद्वर्तनस्य सिध्मकच्छुदद्रूवर्णकायस्य नखरोमश्मश्रुकेशवि- कृत सहजबाह्यमलसम्पर्ककारणानेकत्वग्विकारस्य स्वांगमलापचयो- परमलापचये वा प्राणिहितचेतसः सकलितसम्यग्ज्ञानचारित्रविमल- सलिलप्रक्षालनेन कर्ममलपंकापनोदायोद्यतस्य पूर्वानुभूतस्नानानु- लेपनादिस्मरणपराङ्मुख चि: वृत्तेर्मलधारणमाख्यायते। केशलुंचने तत्संस्कारा करणे महान्खेदः संजायते तत्सहनमपि मलधारणेऽन्त- र्भवतीति।

अर्थ :— जलकाय और जलचर जीवों की पीड़ा दूर करने के लिये जिन (मुनिराज) के स्नान न करने की प्रतिज्ञा है, पसीना और धूलि से जिनका स शरीर मलिन हो रहा है। वादर, निगोद, प्रतिष्ठित जीवों की दया पालन क के लिये व शरीर का संस्कार दूर करने के लिये जिन्होंने उबटन आदि कर सब छोड़ दिया है सीपरोग, खुजली और दाद से जिनका सब शरीर भर र है। नाखून, रोम, दाढ़ी मूछों के बाला आदि के विकारों से उत्पन्न हुए ५ स्वाभाविक वाह्य मल का सबंध होने से जिनके शरीर के चमड़े पर अनेक विकार हो गये हैं अपने शरीर का मल दूर करने के लिये अथवा दूसरे का मल दूर करने के समय जिनका हृदय सदा प्राणियों के हित करने में ही लगा रहता है। कल्पना किये हुए सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूपी निर्मल जल से धोकर कर्ममलरूपी कीचड़ को दूर करने के लिये जो सदा तत्पर रहते हैं। पहले अनु- भव किये हुए स्नान, उबटन, लेपन का स्मरण करने से जिनकी चित्तवृत्ति सदा पराङ्मुख रहती है।

भावार्थ :— जो पहले किये हुए स्नानादि का कभी स्मरण नहीं करते उन मुनियों के मल धारण यानी मल परीषह का जीतना कहलाता है। केशों का लोच करने और उन बालों का संस्कार कभी न करने में भी बड़ा भारी खेद होता है इसलिये उस खेद को सहन करना भी मल परीषह को जीतने में ही शामिल है।

(१९) सत्कार पुरस्कार परीषह जय :-

चिरोषितब्रह्मचर्यस्य महातपस्विनः स्वपरसमयनिश्चयज्ञस्य हितोपदेशपरस्य कथामार्गकुशलस्य बहुकृत्वः परवादिविजयिनः प्रणामभक्तिसंभ्रमाऽऽसनप्रदानादीनि मे न कश्चित्करोतीत्येवमचिन्तयतो मानापमानयोः समानमनसः सत्कारपुरस्कारनिराकाङ्क्षस्य श्रेयोध्यायिनः सत्कारपुरस्कारजयो वेदितव्यः । सत्कारः प्रशंसादिकः पुरस्कारो नाम नन्दीश्वरादिपर्वयात्रात्मकक्रियारंभादिष्वग्रतः करणमामंत्रणं वा ।

अर्थ :- जो मुनिश्वर बहुत काल से ब्रह्मचारी हैं, महातपस्वी है, अपने मत के शास्त्र और परमत के शास्त्रों का जिन्होंने खूब अच्छी तरह निर्णय व निश्चय किया है, जो सदा हितोपदेश देने में तत्पर रहते हैं। प्रथमानुयोग की कथायें कहने में जो बहुत ही कुशल हैं, जिन्होंने कई बार परवादियों को विजय किया है, "प्रणाम, भक्ति और शीघ्रता के साथ आसन देना आदि सत्कार के कार्य मेरे लिये कोई नही करता" इस प्रकार का चिन्तवन जो कभी नहीं करते, मान अपमान में जिनका चित्त सदा समान रहता है, जो सत्कार पुरस्कार की कभी इच्छा नहीं करते और सब के कल्याण का ही सदा चिन्तवन करते रहते है उन मुनियों के सत्कार पुरस्कार जय यानी सत्कार पुरस्कार परीषह का जीतना कहलाता है। प्रशंसा आदि करना सत्कार कहलाता है और नन्दीश्वर आदि पर्व के दिनो में अथवा रथयात्रा व तीर्थ यात्रा आदि क्रियाओं के आरभ में सबसे आगे करना या आमन्त्रण देना पुरस्कार कहलाता है।

(२०) प्रज्ञा परीषह जय :-

अङ्गपूर्वप्रकीर्णकविशारदस्य कृत्स्नग्रन्थार्थधारिणोऽनुत्तरवादिनस्त्रिकालविषयार्थविदः शब्दन्यायाऽध्यात्मनिपुणस्य मम पुरस्तादितरे भास्करप्रभाभिभूतोद्योतवन्नितरामवभासत इति विज्ञानमदनिरासः प्रज्ञापरीषहजयः प्रत्येतव्यः ।

अर्थ :- जो मुनिराज पूर्व और प्रकीर्णको में अत्यन्त निपुण है। समस्त ग्रन्थों के अर्थ की जिन्हे धारणा है, कोई भी प्रतिवादी जिनके सामने उत्तर नही दे सकता। जो तीनो कालो के समस्त विषयो के पदार्थों को जानते हों जो व्या-

करण-शास्त्र, न्याय-शास्त्र, अध्यात्म-शास्त्र, आदि अनेक शास्त्रों में निपुण है "मेरे सामने अन्य सब वादी लोग सूर्य की प्रभाके सामने तिरस्कृत हुए खद्योत के समान सदा प्रतीत होते रहते हैं" इस प्रकार के ज्ञान के अभिमान से जो सदा अलग रहते है, उनके प्रज्ञा परीषह जय अर्थात् प्रज्ञा परीषह का जीतना समझना चाहिये ।

(२१) अज्ञान परीषह जय :—

अज्ञोऽयं न किंचिदपि वेत्ति पशुसम इत्येवमाद्यधिक्षेपवचनं सहमानस्याध्ययनार्थग्रहणपराभिभवादिष्वनासक्तबुद्धेश्चिरप्रव्रजितस्य विविधतपो विशेषभाराक्रान्तमूर्तेः सकलसामर्थ्याप्रमत्तस्य विनिवृत्तानिष्टमनोवाक्कायचेष्टस्याद्यापि मे ज्ञानातिशयो नोत्पद्यत इत्येवं मनस्यसन्दधतोऽज्ञानपरीषहजयोऽवगंतव्यः ।

अर्थ :— "यह मूर्ख है कुछ नही जानता, पशु के समान है" इत्यादि आक्षेप के वचनों को जो मुनिराज सदा सहन करते रहते हैं । अध्ययन करने के लिये दूसरे के द्वारा किये हुए तिरस्कार आदि में भी जिनकी बुद्धि कभी आसक्त नही होती जो बहुत दिन के दीक्षित है, अनेक तरह के विशेप २ तपश्चरण के भार से जिनका शरीर आक्रान्त हो रहा है जो सब तरह की सामर्थ्य में अप्रमत्त हैं, "मैंने अनिष्ट मन, वचन, काय की चेष्टाये सब दूर करदी है तथापि मुझे अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान आदि अतिशय ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती" इस प्रकार का विचार जो अपने मन मे कभी नहीं लाते उनके अज्ञान परीषह का जीतना समझना चाहिये ।

(२२) अदर्शन परीषह जय :—

संयमप्रधानस्य दुष्करतपोऽनुष्ठायिनः परमवैराग्यभावना हृदयस्य विदितसकलपदार्थतत्त्वस्यार्हदायतन साधुधर्मपूजकस्य चिरंतनप्रव्रजितस्याद्यापि मे ज्ञानातिशयो नोत्पद्यते महोपवासाद्यनुष्ठायिनां प्रातिहार्यविशेषाः प्रादुरभूवन्निति प्रलापमात्रमिदमनर्थकेयं प्रव्रज्या विफलं व्रतपालनमित्येव मानसमनादधानस्यदर्शनविशुद्धियोगाद्दर्शनपरीषहसहनमवसातव्यं ।

अर्थ — जो ऐसे मुनिराज मुनियों में प्रधान है ऐसे मुनिराज अत्यन्त कठिन २ तपश्चरण करने वाले है, परम वैराग्य की भावना से जिनका हृदय अत्यन्त शुद्ध है, जो समस्त पदार्थ और उनके स्वरूप को जानते है । अरहंत और अरहंत के प्रास-

तन में जो साधु धर्म की सदा पूजा करते हैं और वह साधु मन में विचार करते रहते है कि मैं बहुत दिन का दीक्षित हूं तथापि मुझे अब तक कोई ज्ञान का अतिशय प्राप्त नहीं हुआ है महोपवास आदि तपश्चरण करने वालों को विशेष २ प्रातिहार्य प्रकट होते हैं यह बात केवल प्रलापमात्र है। ऐसी दीक्षा लेना बिल्कुल व्यर्थ है और व्रत पालन करना भी निष्फल है" इस प्रकार जो अपने मन में कभी ऐसा विचार नहीं करते है। ऐसे योगिराजों को सम्यग्दर्शन की शुद्धता होने से अदर्शन का जीतना कहलाता है।

एवंपरीषहान्संकल्पितोपस्थितान् सहमानस्यासंक्लिष्टचेतसो रागादिपरिणामाश्रवाभावान्महान् संवरो भवति। एते सर्वेपि परीषहा कर्मोदयजनितास्तद्यथा-

अर्थ :- इस प्रकार बिना संकल्प के उपस्थित हुए परीषहों को जो सदा सहन करते हैं। अपने हृदय में जो कभी सक्लेश परिणाम नहीं करते उनके रागादि परिणामों के द्वारा होने वाले कर्माश्रव का अभाव होने से महान् संवर होता है। ये सब परीषह कर्मों के उदय से प्रकट होते हैं। यही बात आगे दिखलाते हैं यानी स्पष्ट करते है।

ज्ञानावरणे प्रज्ञाऽज्ञाने, दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ चारित्रमोहमानकषायोदये नाग्न्यनिषद्याऽऽक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः, अरतिवेदयोररतिस्त्रीपरीषहौ, वेदनीयेक्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकचर्याशय्यावधरोगतृणस्पर्शमलाः।

अर्थ :- ज्ञानावरण कर्म के उदय से प्रज्ञा और अज्ञान परीपह होते है। दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से अदर्शन परीषह होता है। अन्तराय कर्म के उदय से अलाभ परीषह होता है। चारित्रमोहनीय मान कषाय के उदय से नाग्न्य,निषद्या आक्रोश, याचना और सत्कार-पुरस्कार परीषह होते हैं। अरति कर्म के उदय से अरति परीषह और वेद कर्म के उदय से स्त्री परीषह होता हैं। वेदनीय कर्म के उदय से क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल परीषह होते है।

एकस्मिन् जीव एकस्मिन् काले एकादयः परीषहाः आ एकोनविंशतेर्युगपद् भवन्ति। तद्यथा - शीतोष्णपरीषहयोरेकतरः शय्याचर्यानिषद्यानामन्यतम एव भवति। श्रुतज्ञानापेक्षया प्रज्ञाप्रकर्षे सत्य-

बुद्ध्यभावापेक्षयाऽज्ञानोपपत्तः सहावस्याविरोधो न भवति।

अर्थ :— एक जीव के एक समय मे एक साथ एक से लेकर उन्नीस (१९
परीषह तक हो सकते है। शीत, उष्ण इन दो परीषहों में से कोई भी एक हो
सकता है। शैय्या, चर्या, निषधा इन तीनों में से कोई भी एक हो सकता है,
(इस प्रकार तीन परीषह छूट सकते है)। श्रुतज्ञान की अपेक्षा बुद्धि की तीव्रता
होने से प्रज्ञा परीषह और अवधिज्ञान के अभाव होने की अपेक्षा अज्ञान परीषह
की उत्पत्ति होती है। इसलिये इन दोनों के एक साथ होने से कोई किसी तरह
का विरोध नही आता।

उपर्युक्त बाईस परीषह किस २ गुणस्थान में कितने २ होते हैं उनका आचार्य
द्वारा वर्णन —

मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतेषु सप्तसु गुणस्थानेषु सर्वे परीषहाः सन्ति। अदर्शन परीषहं विनाऽपूर्वकरण एकविंशति परीषहा भवन्ति। अरतिपरीषहमन्तरेण सवेदानिवृत्तौ विंशतिपरीषहाः स्युः। अवेदानिवृत्तौ स्त्रीपरीषहे नष्टे एकोनविंशतिपरीषहाः भवेयुः। तत्रैव मानकषायोदयक्षयान्नग्न्यनिषद्याऽऽक्रोश याचनासत्कारपुरस्कारा विनश्यंति। तेषु विनष्टेषु अनिवृत्तिसूक्ष्मसांपरायोपशांतकषायक्षीणकषायेषु चतुर्षु गुणस्थानेषु चतुर्दश परीषहाः सन्ति। क्षीणकषाये प्रज्ञाऽज्ञानालाभा विनश्यन्ति। सयोगिभट्टारकस्य ध्यानानलनिर्दग्धघातिकर्मेन्धनस्यानन्ताप्रतिहतज्ञानादिचतुष्टयस्यान्तरायाभावान्निरंतरमुपचीयमानशुभपुद्गलसन्ततेर्वेदनीयाख्यं कर्म विद्यमानमपि प्रक्षीणघातिसहायबलं स्वप्रयोजनोत्पादनं प्रत्यसमर्थं। यथा-विषद्रव्यं मन्त्रौषधिबलादुपक्षीणमारणशक्तिकमुपयुज्यमानं न मारणाय समर्थं, यथा छिन्नमूलतरुः कुसुमफलप्रदो न भवति। यथोपेक्षावतोरनिवृत्तिसूक्ष्मसांपराययोर्मैथुनपरिग्रहसंज्ञा, यथा च परिपूर्णज्ञान एकाग्रचिन्तानिरोधाऽभावेऽपि कर्मरजोविधननफलसंभवाद्ध्यानोपचारस्तथा क्षुदादिरोगव्याधिवेदनासद्भावपरीषहाभावे वेदनीयकर्मोदयद्रव्यपरीषहसद्भावादेकादश जिने सन्ति इत्युपचारो

दयसद्भावे एकादश जिने सन्ति । घातिकर्मबलसहायरहितं वेद्यं फलवन्न भवति । तेनेकादश जिने सन्ति । एवं सति स्यादस्ति स्यान्नास्तीति स्याद्वाद उपपन्नो भवति । तथा च शतकस्य प्रदेशबन्धे वेदनीयस्य भागविशेषकारणकथनेऽप्युक्तं । "जम्हा वेदणीअस्स सुहदुक्खोदयस्स णाणावरणादि उपकारणकरणं तम्हा वेदणीयस्सेव सुहदुक्खोदयो दीसदे" इति । तस्माद्वेदनीयं घातिकर्मोदयं विना फलवन्न भवतीति सिद्धम् ।

अर्थः— मिथ्यादृष्टि, सासादन-सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, (मिश्र) असयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत इन सातों गुणस्थानों में सब परीषह होते हैं । अपूर्वकरण नामके आठवें गुणस्थान में अदर्शन परीषह को छोड़कर शेष इक्कीस परीषह होते है । नौवें गुणस्थान में जहाँ तक वेद की निवृत्ति नहीं होती वहां तक अरति परीषह को छोड़कर बाकी बीस परीषह होते हैं । जहाँ वेद की निवृत्ति हो जाती है वहाँ स्त्री परीषह भी नष्ट हो जाता है इसलिये वहाँ उन्नीस परीषह होते हैं । नौवें गुणस्थान में मानकषाय के उदय का नाश हो जाने पर नाग्न्य, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार पुरस्कार परीषह नष्ट हो जाते है। इन पाँचों परीषहों के नाश हो जाने पर शेष के अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में तथा सूक्ष्मसापराय, उपशान्त कषाय और क्षीण कषाय इन चारों गुणस्थानों में बाकी के चौदह परीषह होते है । क्षीणकषाय गुणस्थान में प्रज्ञा, अज्ञान और अलाभ परीषह नष्ट हो जाते हैं । जिन्होंने ध्यान रूपी अग्नि से घातिया कर्मरूपी ईंधन को जला दिया है । जिनके अप्रतिहत, अनत ज्ञानादि चतुष्टय प्रकट हुवा है । अन्तराय कर्म के अभाव होने से जिनके निरंतर शुभ पुद्गल वर्गणाओं का समुदाय बढ़ता जा रहा है ऐसे भट्टारक सयोग केवली भगवान के यद्यपि वेदनीय कर्म विद्यमान है तथापि उसके बल को सहायता देने वाले घातिया कर्मों का नाश हो जाने से उसमें अपना प्रयोजन उत्पन्न करने की सामर्थ्य नही रही है । जिस प्रकार मत्र औषधि आदि के बल से सर्प की मारणशक्ति (प्राणहरण करने की शक्ति) नष्ट करदी गई है ऐसा विष (सर्प) खालेने पर भी वह किसी को मार नही सकता । जिस प्रकार जिसकी जड़ काट डाली गई है ऐसा वृक्ष फल और फूल नही दे सकता । उसही प्रकार ... पेक्षा बुद्धि ... वाले मुनियों के नौवें दसवें गुणस्थानों में मैथुन और परिग्रह

वुध्यभावापेक्षयाऽज्ञानोपपत्तः सहावस्थाविरोधो न भवति।

अर्थ :— एक जीव के एक समय में एक साथ एक से लेकर उन्नीस (१ परीषह तक हो सकते है। शीत, उष्ण इन दो परीषहों में से कोई भी एक सकता है। शैय्या चर्या, निषधा इन तीनों मे से कोई भी एक हो सकता (इस प्रकार तीन परीषह छूट सकते है)। श्रुतज्ञान की अपेक्षा बुद्धि की तीव्र होने से प्रज्ञा परीषह और अवधिज्ञान के अभाव होने की अपेक्षा अज्ञान परी की उत्पत्ति होती है। इसलिये इन दोनों के एक साथ होने से कोई किसी त का विरोध नही आता।

उपर्युक्त बाईस परीषह किस २ गुणस्थान में कितने २ होते हैं उनका आच द्वारा वर्णन:—

मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्टयसंयतसम्यग्दृ ष्टिसंयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतेषु सप्तसु गुणस्थानेषु सर्वे परीषहा सन्ति। अदर्शन परीषहं विनाऽपूर्वकरण एकविंशति परीषहा भव न्ति। अरतिपरीषहमन्तरेण सवेदानिवृत्तौ विंशतिपरीषहाः स्युः अवेदानिवृत्तौ स्त्रीपरीषहे नष्टे एकोनविंशतिपरीषहाः भवंयुः। तस्यै मांनकषायोदयक्षयान्नग्न्यनिषद्याऽऽक्रोश याचनासत्कारपुरस्कारा वि नश्यंति। तेषु विनष्टेषु अनिवृत्तिसूक्ष्मसांपरायोपशांतकषाय क्षीणकषायेषु चतुर्षु गुणस्थानेषु चतुर्दश परीषहाः सन्ति। क्षीणक पाये प्रज्ञाऽज्ञानालाभा विनश्यन्ति। सयोगिभट्टारकस्य ध्यानानलनि दंग्धघातिकर्मेन्धनस्यानन्ताप्रतिहतज्ञानादिचतुष्टयस्यान्तरायाभावा- न्निरंतरमुपचीयमानशुभपुद्गलसन्ततेर्वेदनीयाख्यं कर्म विद्यमानमपि प्रक्षीणघातिसहायवलं स्वप्रयोजनोत्पादनं प्रत्यसमर्थं। यथा-विषद्रव्यं मंत्रौषधिवलादुपक्षीणमारणशक्तिकमुपयुज्यमानं न मारणाय समर्थं, यथा छिन्नमूलतरुः कुसुमफलप्रदो न भवति। यथोपेक्षावतोरनिवृत्ति सूक्ष्मसांपराययोर्मैथुनपरिग्रहसंज्ञा, यथा च परिपूर्णज्ञान एकाग्रचि- न्तानिरोधाऽभावेपि कर्मरजोविधननफलसंभवाद्ध्यानोपचारस्तथा क्षुधादिरोगवधादिवेदनासद्भावपरीषहाभावे वेदनीयकर्मोदयद्रव्य- परीषहसद्भावादेकादश जिने सन्ति इत्युपचारो ---- कर्मो-

दयतद्भावे एकादश जिने सन्ति । घातिकर्मबलसहायरहितं वेद्यं फलवन्न भवति । तेनेकादश जिने सन्ति । एवं सति स्यादस्ति स्यान्नास्तीति स्याद्वाद उपपन्नो भवति । तथा च शतकस्य प्रदेशबन्धे वेदनीयस्य भागविशेषकारणकथनेऽप्युक्तं । "जम्हा वेदणीयस्स सुहदुक्खोदयस्स णाणावरणादि उपकरणकरणं तम्हा वेदणीयस्सेव सुहदुक्खोदयो दीसदे" इति । तस्माद्वेदनीयं घातिकर्मोदयं बिना फलवन्न भवतीति सिद्धम् ।

अर्थः– मिथ्यादृष्टि, सासादन-सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, (मिश्र) असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत इन सातों गुणस्थानों में सब परीषह होते है । अपूर्वकरण नामके आठवे गुणस्थान में अदर्शन परीषह को छोड़कर शेष इक्कीस परीषह होते हैं । नौवे गुणस्थान में जहाँ तक वेद की निवृत्ति नही होती वहाँ तक अरति परीषह को छोड़कर बाकी बीस परीषह होते हैं । जहाँ वेद की निवृत्ति हो जाती है वहाँ स्त्री परीषह भी नष्ट हो जाता है इसलिये वहाँ उन्नीस परीषह होते है । नौवे गुणस्थान में मानकषाय के उदय का नाश हो जाने पर नाग्न्य, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार पुरस्कार परीषह नष्ट हो जाते है । इन पाँचो परीषहो के नाश हो जाने पर शेष के अनिवृत्तिकरण गुणस्थान मे तथा सूक्ष्मसापराय, उपशान्त कषाय और क्षीण कषाय इन चारों गुणस्थानों मे बाकी के चौदह परीषह होते हैं । क्षीणकषाय गुणस्थान मे प्रज्ञा, अज्ञान और अलाभ परीषह नष्ट हो जाते हैं । जिन्होने ध्यान रूपी अग्नि से घातिया कर्मरूपी ईंधन को जला दिया है । जिनके अप्रतिहत, अनत ज्ञानादि चतुष्टय प्रकट हुवा है । अन्तराय कर्म के अभाव होने से जिनके निरंतर शुभ पुद्‌गल वर्गणाओं का समुदाय बढता जा रहा है ऐसे भट्टारक सयोग केवली भगवान के यद्यपि वेदनीय कर्म विद्यमान है तथापि उसके बल को सहायता देने वाले घातिया कर्मों का नाश हो जाने से उसमे अपना प्रयोजन उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं रही है । जिस प्रकार मत्र औषधि आदि के बल से सर्प की मारणशक्ति (प्राणहरण करने की शक्ति) नष्ट करदी गई है ऐसा विष (सर्प) खालेने पर भी वह किसी को मार नही सकता । जिस प्रकार जिसकी जड़ काट डाली गई है ऐसा वृक्ष फल और फूल नही दे सकता । उसही प्रकार ... बुद्धि ... वाले मुनियों के नौवें दसवें गुणस्थानों में मैथुन और परिग्रह

संज्ञा केवल नाम मात्र की होती है। जिस प्रकार पूर्ण केवल ज्ञान के होने पर एकाग्र चिन्तानिरोध रूप ध्यान का अभाव होने पर भी कर्म रुपी रज के नाश होने रुप फल की संभावना होने से ध्यानका उपचार किया जाता है उस ही प्रकार क्षुधारोग और वध आदि वेदनाओं के सद्भावरुप परीषहों का अभाव होने पर भी केवल वेदनीय कर्म के उदयरुपी द्रव्य परीषह का सद्भाव होने से तेरहवें गुणस्थानवर्ती जिनेन्द्र भगवान के ग्यारह परीषह उपचार से कहे जाते हैं। वेदनीय कर्म के उदय का सद्भाव होने से जिनेन्द्र देव के ग्यारह परीषह होते हैं। घातिया कर्मों के वल की सहायता के वीना वेदनीय कर्म अपना कुछ फल नही दे सकता, इसलिये जिनेन्द्रदेव के ग्यारह परीषह नही है इस प्रकार स्यादस्ति, स्यान्नास्ति अर्थात् परोपह है भी और नही भी है इस प्रकार स्याद्वाद मत प्रकट होता है यही वात प्रदेशवध के कथन करते समय १०० भागो मे से वेदनीय के विषय भागो का कारण कथन करते हुए "जम्हा वेदणीयस्स इत्यादि" कहे गये हैं।

सुख दुःख देने वाले वेदनीय कर्म के सहायक ज्ञानावरणादि घातिया कर्म है इसलिये उन घातियाकर्मों की सहायता से ही वेदनीय कर्म का सुखदुःखोदय दिखाई पड़ता है"। इससे यह सिद्ध है कि घातिया कर्योदय के विना वेदनीय कर्म अपना फल नही दे सकता।

नरकतिर्यग्गत्योः सर्वे परीषहाः मनुष्यगतावाद्यभंगा भवन्ति। देवगतौ घातिकर्मोत्थपरीषहैः सह वेदनीयोत्पन्नक्षुत्पिपासा वधैः चतुर्दश भवन्ति। इन्द्रिय कायमार्गणयोः सर्वे परीषहाः सन्ति। वैक्रियकद्वितयस्यदेवगतिभंगा तिर्यग्मनुष्यापेक्षया द्वाविंशतिः। शेषयोगानां वेदादिमार्गणानां च स्वकीयगुणस्थानभंगा भवन्ति।

अर्थ :—नरक और तिर्यंचगति में सब परीषह होते हैं। मनुष्यगति मे ऊपर कहे अनुसार होते हैं। देवगति मे घातिया कर्मों के उदय से होने वाले सात परीषह और वेदनीय कर्म के उदय से होने वाले क्षुधा, पिपासा और वध इस प्रकार चौदह परीषह होते हैं। इन्द्रिय और कायमार्गणा मे सब परीषह होते हैं। वैक्रियक और वैक्रियक मिश्र योग मे देवगति की अपेक्षा देवगति के अनुसार और तिर्यंन्च, मनुष्यों की अपेक्षा बाईस होते हैं। शेषयोग, मार्गणामें और वेद आदि सब मार्गणाओं में अपने अपने गुणस्थानों [illegible] लगानेने चाहिये।

इस प्रकार उपर्युक्त परीषहों का [illegible] हुवा।

तपो वर्णनम् :—

रत्नत्रयाविर्भावार्थमिच्छानिरोधस्तपः अथवा कर्मक्षयार्थं मार्गाविरोधेन तप्यत इति तपः तद् द्विविधं, बाह्यमाभ्यंतरं च। अनशनादिबाह्यद्रव्यापेक्षत्वात्परप्रत्यय लक्षणत्वाच्च बाह्यं तत् षड्विधं अनशनावमोदर्य वृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशभेदात्। अभ्यन्तरमपि षड् विधं, प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग ध्यानभेदात्।

अर्थ :— तपश्चरण का वर्णन कियाजाता है:— रत्नत्रय को प्रकट करने के लिये इच्छा का निरोध करना तप कहलाता है अथवा कर्मों का नाश करने के लिये मोक्षमार्ग का निरोध न करते हुए तपश्चरण करना तप है। तप के दो भेद हैं। एक बाह्य तप और दूसरा अभ्यंतर तप है। अनशन आदि बाह्यद्रव्यों की अपेक्षा से या अन्य लोगों को प्रत्यक्ष होने से बाह्य तपश्चरण कहलाता है। वह बाह्य तप छह प्रकार का है (१) अनशन, (२) अवमौदर्य, (३) वृत्तिपरिसंख्यान, (४) रसपरित्याग, (५) विविक्तशय्यासन और (६) कायक्लेश ये उसके नाम हैं। आभ्यन्तर तपके भी छह भेद हैं। (१) प्रायश्चित (२) विनय, (३) वैयावृत्य, (४) स्वाध्याय, (५) व्युत्सर्ग और (६) ध्यान।

छह बाह्य तपों का वर्णन :— (१) अनशन तप —

तत्राऽनशनं नाम यत्किंचिद्दृष्टफलं मंत्रसाधनाद्यनुद्दिश्य क्रियमाणमुपवसनमनशनमित्युच्यते। तत्किमर्थं प्राणेन्द्रिय संयमप्रसिद्धिरागद्वेषाद्युच्छेदहुकर्मनिर्जरणशुभध्यानागमावाप्त्यर्थं तद्द्विविधमवधृतानवधृतकालभेदात् तत्रावधृतकालं सकृद्भोजनचतुर्थषष्ठाष्टमदशपक्षमासर्त्वयनसंवत्सरेष्वशनपानखाद्यस्वाद्यलक्षणचतुर्विधाहारनिवृत्तिः। अनवधृतकालमादेहोपरमात्।

अर्थ :— किसी प्रत्यक्ष फल की अपेक्षा न रख कर मंत्रसाधन आदि उद्देशों के बिना जो उपवास किया जाता है उसको अनशन तप कहते हैं। वह अनशन प्राणिसयम और इन्द्रिय संयम की प्रसिद्धि के लिये रागद्वेष आदि कषायों को नाश करने के लिये बहुत से कर्मों की निर्जरा करने के लिये शुभ ध्यान और आगम की प्राप्ति के लिये किया जाता है। वह अनशन व उपवास दो प्रकार का है, एक नियमित समय तक और दूसरा, अनियमित समयतक। दिन मे

एक बार भोजन करना एक दिन, दो दिन, तीन दिन, चार दिन, छह दिन, आठ दिन, दसदिन, पन्द्रह दिन, एक महिने, दो महिने, छह महिने और एक वर्ष तक अन्न, पान, खाद्य और स्वाद्य इन चारों प्रकार के आहारों का त्याग कर देना नियमित समय तक का उपवास कहलाता है। शरीर छूटने तक उपवास धारण करना अनियमित समय तक का उपवास कहलाता है।

(२) अवमोदर्य तप :—

आत्मीयप्रकृत्योदनस्य चतुर्थभागेनार्द्धेन ग्रासेन वोनाहारनियमोऽवमोदर्यं, आवमोदर्यमिति च । तत्किमर्थं निद्राजयार्थं दोषप्रशमनार्थमतिमात्राऽऽहारजातविहितस्वाध्यायभयार्थमुपवासश्रमसमुद्भूतवातपित्तप्रकोपपरिहीयमानसंयमसंरक्षणार्थं च ।

अर्थ :— अपने लिये स्वाभाविक जितना भोजन चाहिये उसमे चौथाई भाग कम आहार लेने का नियम लेना अथवा एक ग्रास (गास) आधा ग्रास कम लेने का नियम लेना अवमोदर्य तप कहलाता है। निन्द्रा को जीतने के लिये दोषों को शान्त करने के लिये अधिक आहार से उत्पन्न होने वाले स्वाध्याय के विघ्नों को दूर करने के लिये और उपवासों के परिश्रम से उत्पन्न होने वाले वात, पित्त के प्रकोप से कम होने वाले सयम की रक्षा करने के लिये अवमोदर्य तपश्चरण किया जाता है।

(३) वृत्तिपरिसंख्यान तप :—

स्वकीयतपोविशेषेण रसरुधिरमांसशोषणद्वारेणेन्द्रियसंयमं परिपालयतो भिक्षार्थिनो मुनेरेकागारसप्तवेश्मैकरथ्यार्द्धग्रामदातृजनवेषगृह भाजन भोजनादिविषयसंकल्पो वृत्तिपरिसंख्यानमाशानिवृत्त्यर्थमवगन्तव्यम् ।

अर्थ :— अपने विशेष तपश्चरण के द्वारा अथवा शरीर के रस, रुधिर, मांस आदि को सुखा कर इन्द्रिय सयम को पालन करने वाले, आहार के लिये गमन करते हुए मुनियो के एक घर, सात घर, एक गली, आधागांव व दान देने वाले दाता का वेष, घर, पात्र और भोजन आदि के विषय मे सकल्प करना वृत्तिपरिसख्यान नाम का तपश्चरण कहलाता है। यह तपश्चरण केवल भोजन की आशा और लालसा दूर करने के लिये किया जाता है।

(४) रसपरित्याग तप :—

शरीरेन्द्रियरागादिवृद्धिकरक्षीरदधिघृतगुड़तैलादिरसत्यजनं रस-

चतुःशतं सांवत्सरिकस्य पंचशतं, उच्छवासानामेषां पंचनां नियमा-त्स्य कायोत्सर्ग प्रमाणं । अहिंसादिपंचनियमानामन्यतमस्यातीचारे सत्येकैकस्याष्टोत्तरशतं, गोचारस्य ग्रामान्तरगमनस्याऽर्हच्चक्रमण-निषद्यानामुच्चारप्रश्रवणयोश्च पंचविंशतिः । ग्रन्थप्रारंभे परिसमा-प्तौ च स्वाध्याये वन्दनायां प्रणिधाने च सप्तविंशतिः । एवमुक्तो-च्छ्वासप्रमाणेन कायोत्सर्ग कृत्वा अनुत्सुकः सन् किंचितकालं धर्म्यं शुक्लं च ध्यायेत् । नाम स्थापनाद्रव्यभावसंनिधानं पुण्यपापाश्रव-हेतुरतः चैत्यं चैत्यालयो गुरवो निषद्यास्थानादयश्च सम्यग्दृष्टीनां क्रियार्हा भवन्ति । अचेतनात्मका व्यपगतदानबुद्धयः कल्पवृक्षचि-न्तामणयो यथा च देहिनां पुण्यानुरूपेणाभिलषितार्थ प्रदायिनस्तथा जिनबिम्बानि, भव्यजन भक्त्यनुरूपेण गीर्वाणनिर्वाणपदप्रदायीनि गारुडमुद्रया यथा गरलापहरणं तथा चैत्यालोकनमात्रेणैव दुरितापह-रण भवत्यतश्चैत्यस्य तदाश्रयचैत्यालयस्यापि वन्दना कार्या ऐहि-कार्थनिरपेक्षाः परानुग्रहबुधयोऽकारणबंधवो, मोक्ष परिभ्रष्टजनमा-र्गोपदेशकाः प्रत्यक्षनिस्तारकाश्च ततस्तेभ्यः सकाशात्सम्यक्त्व-ज्ञाना-ऽऽदानमणु व्रतं संयमो तपश्च भवति ।

अर्थः— अब आगे करनेवाली क्रियाओं के समय का नियम बतलाते हैं। दिन में होने वाले नियम का एकसौ आठ उच्छ्वास, रात्रि में होने वाले नियम का उससे आधा अर्थात् चौवन उच्छ्वास, पाक्षिक नियम का तीन सौ उच्छ्वास और चातुर्मासिक (चौमासे के) नियम का चारसौ उच्छ्वास तथा वार्षिक नियम का पांचसौ उच्छ्वास इस प्रकार पांचों नियमों में कायोत्सर्ग का प्रमाण है।

अहिंसा आदि पांचों नियमों में से किसी एक में अतिचार लगने पर प्रत्येक के एक सौ आठ उच्छ्वास का गोचर अर्थात् आहार के लिये गमन करने, एक गांव से दूसरे गांव तक जाने अरहन्त देव के पंच कल्याणक अथवा समव-शरण आदि क्षेत्रों की वंदना के लिये तथा साधुओं के समाधिस्थान की वंदना के लिए जाकर के लौट कर आने आदि कार्यों में पच्चीस उच्छ्वास कायोत्सर्ग का प्रमाण है। ग्रन्थ के प्रारम्भ और समाप्ति में स्वाध्याय, वंदना, और प्रणिधान करते समय सत्ताईस उच्छ्वास कायोत्सर्ग करना चाहिये। इस प्रकार ऊपर कहे हुए उच्छ्वास के प्रमाण से कायोत्सर्ग कर बिना किसी उत्सुकता के धर्म

... धर्मध्यान अथवा शुक्लध्यान करना चाहिये। नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव
... अपेक्षा पुण्य, पाप का कारण है इसलिये जिन प्रतिमा चैत्यालय गुरु और
... गुरुओं के समाधिस्थान आदि ही सम्यग्दृष्टियो को क्रिया करने योग्य होते है।
... प्रकार दान देने की बुद्धि से रहित और अचेतन ऐसे कल्पवृक्ष तथा चिन्ता-
... रत्न अपने अपने पुण्य कर्मों के अनुसार प्राणियो को इच्छानुसार पदार्थ
... हैं उस ही प्रकार जिनबिंब भी भव्य लोगो की भक्ति के अनुसार स्वर्ग और
... पद देते है जिस प्रकार गरुड़मुद्रा से विष दूर हो जाता है उस ही प्रकार
जिनबिंब के दर्शन करने मात्र से पापो का नाश हो जाता है। इसलिये जिन-
... की वन्दना करना चाहिये और जिनबिंब के आश्रय होने से चैत्यालय की
... वदना करनी चाहिये। आचार्य आदि गुरु लोग संसार संबंधी किसी कार्य
की अपेक्षा नही रखते उनकी बुद्धि सदा दूसरो के अनुग्रह करने में ही लगी
रहती है। वे बिना ही कारण के सब के बन्धु है। मोक्ष मार्ग से भ्रष्ट हुए
... गो को मोक्षमार्ग का उपदेश देनेवाले हैं और ससार से प्रत्यक्ष पारकर देने
वाले हैं इसलिये ऐसे गुरु जनो से ही सम्यग्दर्शन व ज्ञान का अभ्यास करने से
अणुव्रत, महाव्रत, सयम और तप प्राप्त होता है।

सामायिक प्रकरण :—

तेन गुरुणां पुण्यपुरुषोचितनिरवद्यनिषिद्यास्थानादीनामुच्यते
... रोन गुरुणां पुण्यपुरुषोचितनिरवद्य ... मर्मक्षयो न घटते।
क्रियाविधानं। परायत्तस्य सतः क्रियां कुर्वाणस्य मर्मक्षयो न घटते।
तस्मादात्माधीनः सच्चैत्यादीन् प्रतिवंदनार्थं गत्वा धौतपादस्त्रिप्रद-
क्षिणीकृत्येर्यापथ कायोत्सर्गं कृत्वा प्रथममुपविश्याऽऽलोच्य चैत्याभ-
क्तिकायोत्सर्गं करोमीति विज्ञाप्योत्थाय जिनेन्द्रचन्द्रदर्शनमात्रात्प्रि-
जनयनचन्द्रकांतोपलविगलदानन्दाश्रुजलधारापूरपरिप्लावितपक्ष्मपुटो-
ऽनादिभवदुर्लभभगवदर्हत्परमेश्वरपरमभट्टारक प्रतिबिंबदर्शनजनि-
तहर्षोत्कर्षपुलकिततनुरतिभक्तिभरावनतमस्तकन्यस्तकुशेशयकुड्मल-
लो दण्डकद्वयस्यादावन्ते च प्राक्तनक्रमेण प्रवृत्य चैत्यस्तवनेन त्रिः
प्रदक्षिणीकृत्य द्वितीयवारेऽप्युपविश्याऽऽलोच्य पंचगुरुभक्तिकायोत्सर्गं
करोमीति विज्ञाप्योत्थाय पञ्च परमेष्ठिन स्तुत्वा तृतीयवारेऽप्युप-
विश्याऽऽलोचनीयः। एवमात्माधीनता, प्रदक्षिणीकरणं त्रियारं
... क्रियाकर्म षड्विधं भवति।

सिद्धचैत्यपंचगुरुशान्तिभक्ति कुर्यात् । मंगलगोचरप्रत्याख्याने महासिद्धयोगभक्ती कृत्वा गृहीतप्रत्याख्यान आचार्यशान्तिभक्ती कुर्यात्। वर्षाकाले योगग्रहणे निष्ठापने च सिद्धयोगपंचचैत्यगुरुभक्तयः कार्याः । चैत्य भक्त्याप्रदक्षिणी कुर्वन्, सालोचनव्युत्सर्गं चतसृषु दिक्षु कुर्यात् । सिद्धान्तवाचनाग्रहणे सिद्धश्रुतभक्ती कृत्वा तदनुश्रुताचार्यभक्ती कृत्वा गृहीतस्वाध्यायस्तन्निष्ठापने श्रुतशान्तिभक्ती करोतु । सिद्धान्तस्यार्थाधिकाराणां समाप्तावेकैकं कायोत्सर्गं कुर्यात् । अर्थाधिकाराणां सुबहुमान्यत्वात्तेषामादौ सिद्ध श्रुतसूरिभक्तीः कृत्वा समाप्तावप्येतेन क्रमेण प्रवर्तिते सति षट् कायोत्सर्गं भवन्ति । गुरुणामनुज्ञया ज्ञानविज्ञानवैराग्यसम्पन्नो विनीतो धर्मशीलः स्थिरश्च भूत्वाऽऽचार्यपदव्यायोग्यः साधुर्गुरुसमक्षे सिद्धाचार्यभक्ती कृत्वाऽऽचार्यपदवीं गृहीत्वा शांतिभक्ति कुर्यात् । एवमुक्ताः क्रिया यथायोग्यं जघन्यमध्यमोत्तमश्रावकैः संयतैश्च करणीयः । किमर्थोऽव्युत्सर्गो निःसंगत्वं निर्भयत्वं जीविताशाव्युदासो दोषोच्छेदो मोक्षमार्गभावनापरत्वमित्येवमाद्यर्थं ।

अर्थ – चतुर्दशी के दिन (चैत्य भक्ति और पंच गुरु भक्ति के मध्य में) सिद्धभक्ति, श्रुत, शान्ति भक्ति करनी चाहिये । अष्टमी के दिन सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति और शान्तिभक्ति करनी चाहिये । पाक्षिक कायोत्सर्ग में सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति और शान्तिभक्ति करनी चाहिये । सिद्ध प्रतिमा की वंदना करते समय सिद्ध भक्ति ही होती है । जिन प्रतिमा की और तीर्थंकरों के जन्म के दिन पाक्षिकी क्रिया करनी चाहिये । अर्थात् सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति और शान्तिभक्ति करनी चाहिये । अष्टमी आदि की क्रियाओं में दर्शन पूजा करनी चाहिये । तीनों कालों की वंदना करने के समय शांति भक्ति में पहिले चैत्यभक्ति और पञ्चगुरुभक्ति करनी चाहिये । चतुर्दशी के दिन धर्म क्रियाओं के व्यासंग से यदि कोई क्रिया न कर सके तो उसे पाक्षिक कायोत्सर्ग के समय अष्टमी के दिन की क्रिया करनी चाहिये । नन्दीश्वर पर्वो के दिनों में सिद्धभक्ति, नन्दीश्वरभक्ति, पञ्चगुरुभक्ति और शान्तिभक्ति करनी चाहिये । अभिषेक वन्दना के समय सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति पञ्चगुरुभक्ति और शान्तिभक्ति [illegible] । स्थिर और चल दोनों ही प्रकार की जिन प्रतिमा की भक्ति क[illegible]

एकत्व का निश्चय कर लिया है उसके एक यथाख्यात चारित्र की वृत्ति धार करने से मोक्षमार्ग के भाव प्रकट होते है इसलिये उसके वह एकत्व कहलात है। उस एकत्व की प्राप्ति के लिये "इस संसार में मैं अकेला हूं, स्व और प मेरा कोई नही है मै अकेला ही जन्म लेता हूं और अकेला ही मरता हूं, स्वजन और परजन कोई भी मनुष्य मेरी व्याधियां, बुढापा और मरण आदि के दुःख को दूर नही कर सकता। बन्धु मित्र आदि श्मशान से आगे नहीं जा सकते एक धर्म ही मेरा सहायक है और वही ऐसा है जो कभी नाश न होगा" इस प्रकार चिन्तवन करना एकत्वानुप्रेक्षा है। इस प्रकार से चिन्तवन करने से अपने कुटुम्बी लोगों मे प्रेम नही बढता और अन्य लोगों में द्वेष नहीं बढता। इस प्रकार रागद्वेष का अभाव होने से निःसंगता बढती है और निःसंगता बढने से मोक्ष प्राप्त होता है। इस प्रकार से एकत्व अनुप्रेक्षा का वर्णन किया गया।

(५) अन्यत्वानुप्रेक्षा :–

अथाऽन्यत्वानुप्रेक्षाकरणं। अन्यत्वं चतुर्धा व्यवतिष्ठते। नाम स्थापनाद्रव्यभावावलंबनभेदात्। आत्मा जीव इति नाम भेदः। काष्ठप्रतिमेति स्थापनाभेदः। जीवद्रव्यमजीवद्रव्यमिति द्रव्यभेदः। एकस्मिन्नपि जीव द्रव्ये बालो, युवा, मनुष्यो, देव इत्यादि भाव-भेदः। जीव कर्मणो बंधं प्रत्येकत्वे सत्यपि लक्षणभेदादन्यत्वं। जीवस्तावज्ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणः। वर्णगंधरसस्पर्शवन्तः पुद्गला इति लक्षणकृतो भेदः। प्रतिसमयमनंतानंता कर्माणवो योगवशादा-गत्य जीवप्रदेशेष्वन्योन्यप्रदेशानुप्रविष्टाः सन्तः कषायवशादवतिष्ठ-न्ते। समय प्रत्यनंतानंताः कर्मपुद्गला जीवं परित्यज्य प्रच्यवंत इति बंधं प्रति भेदः नोकर्मपुद्गला अपि बन्धनगुणेन जीवे क्षीरनी-रन्यायेनैकत्वं गत्वा भूत्वा प्रतिक्षणं निर्जीर्यन्ते। जीवः स्वयं कर्म-वशात्स्वयोग्य शरीरं निर्माय शरीरस्योऽपि यथा नखरोमदन्ता दिषु न विद्यते। तथा रुधिरवसाशुक्ररसरलेष्मपित्तमूत्रपुरीषमस्ति-ष्कादिषु प्रदेशेष्वपि नास्ति एव कर्म नोकर्मशरीरावयवेभ्योजीवस्या-न्यत्वं ततः कृतक्षुत्पद्योगमनिधो शरीरादन्यतव्यतिरेकेणाऽस्मनो ज्ञानादिलक्षणस्य स्वसंवेदनावबोधानं तद्व्याप्तं-ऐन्द्रियकं शरी[illegible]

नित्योऽहं । अन्न शरीरं ज्ञस्वभावोहं, अनित्यंशरीरं नित्योऽहं । आद्य-न्तवच्छरीरमनाद्यनन्तोऽहं बहूनि मे शरीरशत सहस्राण्यतीतानि संसारे परिभ्रमतः । स एवाऽहमन्यस्तेभ्य इत्येव शरीरादन्यत्व मे । किमंग पुनर्बाह्येभ्य इति चिन्तनमन्यत्वानुप्रेक्षा । एवमस्य मनः समाधानस्य शरीरादिषु स्पृहा नोत्पद्यते ततश्च श्रेयसे वर्तते । इत्यन्यत्वाऽनुप्रेक्षा ।

अर्थः- आगे अन्यत्वानुप्रेक्षा कहते हैं । (१) नाम, (२) स्थापना, (३) द्रव्य, (४) भाव के प्रवसंचन के भेद से अन्यत्व चार प्रकार का होता है । जाता है, जीव है यह नाम भेद है । काष्ठ, पाषाण आदि की बनाई हुई प्रतिमा स्थापना भेद है । (३) यह जीव द्रव्य और अजीव आदि द्रव्य भेद है । (४) एक ही जीव द्रव्य में बालक, युवा, मनुष्य, देव आदि भाव भेद है । यद्यपि जीव कर्मों के बंध होने से दोनों एक हो रहे हैं तथापि लक्षण भेद से दोनों भिन्न भिन्न हैं । जीव ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग रूप है । पुद्गल वर्ण, गंध, रस, स्पर्शवाला है इस लक्षण से दोनों में भेद हुवा । प्रति समय में अनंतानंत कर्म परमाणु योगों के निमित्त से आते हैं । जीव प्रदेशों में (दूध, पानी के समान) परस्पर एक दूसरे के प्रदेशों में मिलकर एक हो जाते हैं कषायों के निमित्त से उनमें ठहरने की शक्ति हो जाती है इसलिये वे वहां ठहर भी जाते हैं । इसी प्रकार प्रतिसमय में अनंतानंत कर्म पुद्गल जीव को छोडकर अलग भी हो जाते हैं । इस प्रकार यह बंध के प्रति भेद सिद्ध होता है । नो कर्म पुद्गल भी बंधनगुण से जीव में दूध पानी के समान एक बंध रूप हो जाते हैं फिर प्रतिक्षण में निर्जीर्ण होते हैं । यह जीव स्वयं कर्मों के निमित्त से उनके योग्य शरीर बनाता है परन्तु वह उस शरीर में रहकर भी जिस प्रकार नख, रोम और दांतों की हड्डियों में नहीं रहता है उसी प्रकार रुधिर, वसा, शुक्र, रस, श्लेष्मा, पित्त, मूत्र, पुरीष (विष्टा) और मस्तिष्क आदि के प्रदेशों में भी नहीं रहता । इस प्रकार यह जीव कर्मों व नो कर्मों के द्वारा बने हुए शरीर से बिल्कुल भिन्न रहता है । किसी कुशल पुरुष के प्रयोग करने पर (मोक्ष के लिये उद्यम करने पर) शरीर से अत्यन्त भिन्न होने के कारण जो आत्मा से कभी भिन्न हो नहीं सकते ऐसे ज्ञान आदि अनंत गुणों के साथ साथ मोक्ष स्थान में जाकर प्राप्त होता है । उस मोक्ष स्थान के प्राप्त होने के लिये "यह शरीर

एकत्व का निश्चय कर लिया है उसके एक यथाख्यात चारित्र की वृत्ति धारण करने से मोक्षमार्ग के भाव प्रकट होते है इसलिये उसके वह एकत्व कहलाता है। उस एकत्व की प्राप्ति के लिये "इस ससार मे मैं अकेला हूँ, स्व और पर मेरा कोई नही है मैं अकेला ही जन्म लेता हूँ और अकेला ही मरता हूँ, स्वजन और परजन कोई भी मनुष्य मेरी व्याधियाँ, बुढापा और मरण आदि के दु.खों को दूर नही कर सकता। वन्धु मित्र आदि श्मशान से आगे नही जा सकते। एक धर्म ही मेरा सहायक है और वही ऐसा है जो कभी नाश न होगा" इस प्रकार चिन्तवन करना एकत्वानुप्रेक्षा है। इस प्रकार से चिन्तवन करने से अपने कुटुम्बी लोगों से प्रेम नही बढता और अन्य लोगों में द्वेष नही बढता। इस प्रकार रागद्वेष का अभाव होने से निःसंगता बढती है और नि.संगता बढने से मोक्ष प्राप्त होती है। इस प्रकार से एकत्व अनुप्रेक्षा का वर्णन किया गया।

(५) अन्यत्वानुप्रेक्षा :–

अथाऽन्यत्वानुप्रेक्षाकरणं। अन्यत्वं चतुर्धा व्यवतिष्ठते। नाम स्थापनाद्रव्यभावावलंवनभेदात्। आत्मा जीव इति नाम भेदः। काष्टप्रतिमेति स्थापनाभेदः। जीवद्रव्यमजीवद्रव्यमिति द्रव्यभेदः। एकस्मिन्नपि जीव द्रव्ये वालो, युवा, मनुष्यो, देव इत्यादि भाव-भेदः। जीव कर्मणो वंधं प्रत्येकत्वे सत्यपि लक्षणभेदादन्यत्वं। जीवस्तावज्ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणः। वर्णगंधरसस्पर्शवन्तः पुद्गला इति लक्षणकृतो भेदः। प्रतिसमयमनंतानंता कर्माणवो योगवशादा-गत्य जीवप्रदेशेष्वन्योन्यप्रवेशानुप्रविष्टाः सन्तः कषायवशादवतिष्ठ-न्ते। समयं प्रत्यनंतानंताः कर्मपुद्गला जीवं परित्यज्य प्रच्यवंत इति वंधं प्रति भेदः नोकर्मपुद्गला अपि वन्धनगुणेन जीवे क्षीरनी-रन्यायेनैकवंधनवद्धा भूत्वा प्रतिक्षणं निर्जीर्यन्ते। जीवः स्वयं कर्म-वशात्तत्प्रायोग्य शरीरं निर्माय शरीरस्योऽपि यथा नखरोमदन्ता स्थिषु न विद्यते। तथा रुधिरवसाशुक्ररसश्लेष्मपित्तमूत्रपुरीषमस्ति-ष्कादिषु प्रदेष्वपि नास्ति एवं कर्म नोकर्मशरीरावयवेभ्योजीवस्याऽ-न्यत्वं ततः कुशलपुण्यप्रयोगसंनिधौ शरीरादत्यंतव्यतिरेकेणाऽऽत्मनो ज्ञानादिभिरनंतरहर्यमुक्तावस्थानं तदवाप्तये-ऐन्द्रियिकं शरीरमती-

न्योऽहं। मन्न शरीरं ज्ञस्त्वमायोऽहं, अनित्यंशरीरं नित्योऽहं। आद्य-न्तवच्छरीरमनाद्यनन्तोऽहं बहूनि मे शरीरशत सहस्राण्यतीतानि संसारे परिभ्रमतः। स एवाऽहमन्यस्तेभ्य इत्येव शरीरादन्यत्व मे। किमंग पुनर्बाह्येभ्य इति चिन्तनमन्यत्वानुप्रेक्षा। एवमस्य मनः समादधानस्य शरीरादिषु स्पृहा नोत्पद्यते ततश्च श्रेयसे वर्तते। इत्यन्यत्वानुप्रेक्षा।

अर्थः– आगे अन्यत्वानुप्रेक्षा कहते है। (१) नाम, (२) स्थापना, (३) द्रव्य, (४) भाव के अवलंबन के भेद से अन्यत्व चार प्रकार का होता है। अन्य है, जीव है यह नाम भेद है। काष्ठ, पाषाण आदि की बनाई हुई प्रतिमा स्थापना भेद है। (३) यह जीव द्रव्य और अजीव आदि द्रव्य भेद है। (४) एक ही जीव द्रव्य में बालक, युवा, मनुष्य, देव आदि भाव भेद है। यद्यपि जीव कर्मों के बंध होने से दोनों एक हो रहे हैं तथापि लक्षण भेद से दोनों भिन्न भिन्न हैं। जीव ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग रूप है। पुद्गल वर्ण, गंध, रस, स्पर्शवाला है इस लक्षण से दोनों में भेद हुआ। प्रति समय में अनंतानंत कर्म परमाणु योगों के निमित्त से आते है। जीव प्रदेशो में (दूध, पानी के समान) परस्पर एक दूसरे के प्रदेशों में मिलकर एक हो जाते है कषायों के निमित्त से उनमें ठहरने की शक्ति हो जाती है इसलिये वे वहां ठहर भी जाते हैं। इसी प्रकार प्रतिसमय में अनंतानंत कर्म पुद्गल जीव को छोडकर अलग भी हो जाते हैं। इस प्रकार यह बंध के प्रति भेद सिद्ध होता है। नो कर्म पुद्गल भी बंधनगुण से जीव में दूध पानी के समान एक बंध रूप हो जाते हैं फिर प्रतिक्षण में निर्जीर्ण होते है। यह जीव स्वयं कर्मों के निमित्त से उनके योग्य शरीर बनाता है परन्तु वह उस शरीर में रहकर भी जिस प्रकार नग, रोम और दांतों की हड्डियों में नही रहता है उसी प्रकार रुधिर, त्वचा, शुक्र, रस, श्लेष्मा, पित्त, मूत्र, पुरीष (विष्टा) और मस्तिष्क आदि के प्रदेशों में भी नही रहता। इस प्रकार यह जीव कर्मों व नो कर्मों के द्वारा बंधे हुए शरीर से बिल्कुल भिन्न रहता है। किसी कुशल पुरुष के प्रयोग करने पर (मोक्ष के लिये उद्यम करने पर) शरीर से अत्यन्त भिन्न होने के कारण जो आत्मा से कभी भिन्न हो नही सकते ऐसे ज्ञान आदि अनंत गुणों के साथ मोक्ष स्थान में जाकर प्राप्त होता है। उस मोक्ष स्थान के प्राप्त होने के लिये "यह शरीर

इन्द्रियमय है। मै अतीन्द्रिय हूँ, शरीर का आदि अन्त दोनो है परन्तु मेरा आदि है, न अन्त है। ससार मे परिभ्रमण करते हुए मेरे बहुत से शरीर व्यतीत हो गये परन्तु मै ज्यों का त्यो वही बना हुवा हूँ और उन शरीरो सर्वथा भिन्न हूँ। हे अज्ञ ! (हे जीव !) यह मेरा आत्मा शरीर से भिन्न फिर धन, धान्यादि बाह्य परिग्रहो की तो बात ही क्या है अर्थात् उनसे भिन्न है ही।" इस प्रकार चिन्तवन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है। इस प्रकार म को समाधान करने वाले इस जीव के शरीर आदि मे स्पृहा व इच्छा नह होती और उन पदार्थों की इच्छा न होने से यह जीव अपने कल्याण में ल जाता है। इस प्रकार यह अन्यत्वानुप्रेक्षा का वर्णन किया।

विशेष:– मादुपिदुसयणसंबंधिणो य सव्वो वि अत्तणो अण्णे ।
इह लोगबंधवा ते ण य परलोगं समं जंति ।

[१० मू वा. ६ अ.] कुन्दकुन्दाचार्य

अर्थ :– माता, पिता, स्वजन और सबधीजन सर्व अपनी आत्मा से भिन्न है इस लोक मे ये माता, पिता, स्वजन और संबधी लोग अपना कार्य करते है परन्तु परलोक मे ये अपने साथ जाते नही। अतः परलोक में ये अपने बाधव नही होते है।

विशेष:– अण्णो अण्णं सोयदि मदोत्ति मम णाहगोत्ति मण्णंतो ।
अत्ताणं ण दु सोयदि संसारमहण्णवे बुड्डं॥ [११ मू वा. ६ अ

अर्थ – दूसरा कोई जीव किसी जीव के विषय में शोक करता हुवा कहता है कि हाय ! हाय ! मेरा स्वामी मर गया, परन्तु वह अपने लिये शोक नहीं करता है कि मै ससार समुद्र मे निमग्न (डुबा हुवा) हूं। ससार मे लोग जैसे दूसरे के विषय मे विचार करते है वैसा स्वय के लिये भी यदि विचार करेंगे तो वे अपना जल्दी ही हित कर सकेंगे। परन्तु लोग अपने विषय में प्रायः विचार शील नहीं रहते है। शरीर से आत्मा भिन्न है।

अण्णं इमं सरीरादिगं पि जं होज्ज बाहिरं दव्वं।
णाणं दंसणमादात्ति एवं चिंतेहि अण्णत्तं ॥ [१२ मू. वा. ६ अ.]

अर्थ – यह शरीर, इन्द्रियां और मन भी मेरे से भिन्न है तो बाह्य अन्य द्रव्य है ही, परन्तु ज्ञान और दर्शन ही अपनी आत्मा के है इस तरह अन्यत्व भावना का तुम (हे मुने !) चिन्तवन करो।

(६) अशुचित्वानुप्रेक्षा :–

अथाऽशुचित्वाऽनुप्रेक्षा–शुचित्वं द्विविधं लोकोत्तरं लौकिकं चेति। तत्रात्मनो विशुद्धध्यानजलप्रक्षालित कर्ममलकलंकस्य स्वात्मन्यवस्थानं लोकोत्तरशुचित्वं तत्साधनानि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपांसि तद्वन्तश्च साधवस्तदधिष्ठानानि च निर्वाणभूम्यादिकानि तत्प्राप्त्युपायत्वाच्छुचिव्यपदेशमर्हन्ति। लौकिकं शुचित्वं कालाग्निभस्ममृत्तिकागोमयसलिलाऽज्ञाननिर्विचिकित्सत्वभेदादष्टविधं। तदिदं शरीरं शुचीकर्त्तुं न शक्यते। कुतोऽत्यन्ताऽशुचित्वात्। शरीरमिदमाद्युत्तराशुचिकारणादिभिरशुचि लक्ष्यते। तद्यथाऽऽद्यं तावत्कारणं शरीरस्य शुक्रं शोणितं च तदुभयमत्यन्ताऽशुचि। उत्तरकारणमाहारपरिणामादि कवलाऽऽहारोपि ग्रस्तमात्रः श्लेष्माशयं प्राप्य श्लेष्मणा द्रवीकृतोऽधिकमशुचि भवति। ततः पित्ताशयं प्राप्य पच्यमान आम्लीकृतोऽशुचिरेव भवति। पक्वो वताशयम वाप्य वायुना विभज्यमानः खलरसभावेन भिद्यते। खलभागो मूत्रपुरीषादिद्रवघनमलविकारेण विविच्यते, रसभागः शोणितमांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रभावेन विपरिणमते। सर्वेषां चैषामशुचीनां भाजनं शरीरमवस्करवदशक्यप्रतीकारं। खल्विदं शरीरं स्नानानुलेपनधूपप्रघर्षवस्त्रमाल्यादिभिरपि न शक्यमशुचित्वमपहर्त्तुं। अंगारवदाश्रितमपि द्रव्यमाश्वेवाऽऽत्मस्वभावमापादयति। तिर्यक्शरीरजा अपि गोमयगोरोचनदन्तिदंतचमरीबालमृगनाभिखड्गविषाणमयूरपिच्छसर्पमणिशुक्तिमुक्ताफलादयो लोकेषु शुचित्वमुपगताः। नास्त्यत्र पुनः मनुजशरीरे किंचित्कमनीयं शुचिर्वाविद्यते। न जलादीनां शुचिहेतुत्वं। सम्यग्दर्शनादि पुनर्भाव्यमानं जीवस्यात्यंतिकी शुद्धिमाविर्भावयतीति। तत्वभावनमशुचित्वाऽनुप्रेक्षा। एवमस्यसंस्मरतः शरीर निर्वेदो भवति। निर्विण्णश्च जन्मोदधितरणाय चित्तं समाधत्त इत्यशुचित्वाऽनुप्रेक्षावर्णनम्।

अर्थ :– अब आगे अशुचित्वानुप्रेक्षा का कथन किया जाता है। पवित्रता दो

प्रकार की है। एक लोकोत्तर और दूसरी लौकिक।

लोकोत्तरपवित्रता – जिसने विशुद्ध ध्यानरूपी जल से अपने समस्त कर्ममल कलङ्क धो डाले है यानी नष्ट कर दिये है। ऐसे आत्मा का अपनी ही आत्मा में स्थिर रहना लोकोत्तर पवित्रता कहलाती है उस लोकोत्तर पवित्रता के साधन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तपश्चरण है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तपश्चरण को धारण करने वाले साधुजन उस पवित्रता के अधिष्ठान व आधार है। उस लोकोत्तर पवित्रता के उपाय भूत होने से निर्वाण भूमि आदि भी पवित्र कहलाती है। लौकिक पवित्रता काल, अग्नि, भस्म, मृत्तिका (मिट्टी) गोमय (गोबर) जल पवनादि अज्ञान और निर्विचिकित्सा के भेद से आठ प्रकार की है, परन्तु उपर्युक्त लौकिक शुद्धियों से भी शरीर शुद्ध नही होता है। यह शरीर किसी तरह से पवित्र नहीं किया जा सकता, इसका भी कारण यह है कि वह अत्यन्त अपवित्र है। इस शरीर के आदिकारण और अंत के कारण दोनों ही अपवित्र है। इसलिये यह शरीर भी अपवित्र है इस ही बात को आगे स्पष्ट करते है। शरीर के आदि कारण अर्थात् शरीर बनने के कारण शुक्र (पिता का वीर्य) और शोणित (माता का रज) है परन्तु वे दोनो ही महा अपवित्र है। शरीर के उत्तर कारण आहार का परिणाम आदि है यह आहार रखने के साथ ही श्लेष्माशय को प्राप्त होता है और वहां पर श्लेष्मा के द्वारा कुछ द्रवीभूत होकर पतला होकर और अधिक अपवित्र हो जाता है। वहां से पित्ताशय में पहुंचता है और पककर कुछ खट्टा-सा होकर उसमे भी अधिक अपवित्र हो जाता है। पककर वह आहार वाताशय मे पहुँचता है। वहां वायु से विभक्त होकर (अलग अलग भाग में बटकर) खल भाग और रसभागों मे बट जाता है। खलभाग मूत्र, पुरीष (भिष्टा) आदि पतले करड़े (घट) जल से विकार मे परिणत होकर अलग निकल जाता है। रस भाग शोणित (रक्त या खून व लोहू) मास, मेदा, हड्डी, मज्जा और शुक्ररूप परिणत हो जाता है इन सब अपवित्र पदार्थों का पात्र यह शरीर है जो कि भिष्टा के समान ऐसा अपवित्र है कि उसको पवित्र करने का कोई उपाय हो ही नही सकता। इस शरीर की अपवित्रता स्नान करने उबटन लगाने घिसने और वस्त्र माला आदि के पहिनने से भी कभी दूर नही हो सकती। जिस प्रकार अग्नि में जो चीज पड़ जाती है वह भी अग्निरूप हो ही जाती है उसही प्रकार चन्दनादि जो पदार्थ इस शरीर पर लगाये जाते हैं वे

भी शरीर रूप ही अपवित्र हो जाते हैं । गोबर, गोरोचन, हाथी के दांत, चमरीगाय के बाल, मृगनाभि (कस्तूरी) गेंडा के सींग, मोर की पूंछ, सांप की मणि और सीप के मोती आदि शरीर से उत्पन्न हुए पदार्थ संसार में पवित्र माने जाते हैं, परन्तु इस शरीर में कुछ भी भाग पवित्र और सुन्दर नही है, न जलादि ही इसके पवित्रता के कारण हो सकते है। इस संसार में केवल सम्यग्दर्शन, ज्ञानचारित्र ही ऐसे हैं कि जिनकी भावना करने से यह शरीर अत्यन्त पवित्र हो जाता है । इस प्रकार शरीर के वास्तविक चारित्र का चिन्तवन करना अशुचित्वानुप्रेक्षा है। इस प्रकार इस अनुप्रेक्षा के चिन्तवन करने से शरीर से वैराग्य उत्पन्न होता है और फिर विरक्त होकर यह जीव जन्ममरण रूपी महासागर के पार होने के लिये अपना चित्त लगाता है । इस प्रकार अशुचित्वानुप्रेक्षा का वर्णन किया गया ।

विशेष:— मोत्तूण जिणवखादं धम्मं सुहमिह दु णत्थि लोयम्मि ।
ससुरासुरेसु तिरिएसु णिरयमणुएसु चितेज्जो ॥

[६५ मू. बा. ६ अ.] कुन्दकुन्दाचार्य

अर्थ— देव, दानवों में और नरक, तिर्यञ्च, मनुष्यों में श्री जिनेश्वर के द्वारा कहे हुए धर्म को छोड़ कर दूसरा कोई भी पदार्थ संसार में शुभ नहीं है ऐसा चिन्तवन करना चाहिये । जगत मे धर्म के बिना अन्य कुछ भी शुभ यानी पवित्र नही है ऐसा हे मुने ! तू समझ ।

विशेष :— उपर्युक्त जो लौकिक आठ शुद्धियों का वर्णन किया गया है वे केवल लौकिक शुद्धि ही माननी चाहिये इन शुद्धियों को आगम शुद्धि नही समझना चाहिये, ये तो केवल लौकिक व्यवहार ही है, आगम व्यवहार नहीं। आगम में गोमयादि सब ही वस्तुएँ अशुद्ध मानी गई है ऐसा समझना चाहिये । इनको अशुद्ध समझकर किसी भी श्रावक व मुनि क्रिया में उपयोग नहीं करें ऐसी आगम की आज्ञा है । अतः इसका ही पालन करना चाहिये ।

(७) आश्रवानुप्रेक्षा :—

अथाऽश्रवाऽनुप्रेक्षावर्णनं विधीयते । उद्वेगार्थमाश्रवोपक्षेपः आश्रवाहीहाऽमुत्र चापाययुक्ता महानदीस्रोतोवेगतीक्ष्णा इन्द्रियादयः । तद्य था । अविरलसरलसल्लकीसहकारवंशकुडंगप्रमयनस्वच्छसरोवरसलिलावगाहन मृदुसुखस्पर्शमहीतलविहरणादिगुणसंपन्नाव-

नविहारिणो मदांधा महाकाया बलवन्तोऽपिवारणा हस्तिवंधकीषु स्पर्शनेन्द्रियप्रसक्तचित्ता। मनुष्यविधेयतामुपगम्य वधबन्धदमनवाहनांकुशताड़नपार्ष्णिघातादिजनितं तीव्रं दुःखमनुभवन्ति। नित्यमेव च स्वयूथ स्वच्छन्दप्रचारसुखस्य वनवासस्याऽनुस्मरन्तो महान्तं खेदमवाप्नुवन्ति। तथैव जिह्वेन्द्रियविषयलोभात् श्रोतोवेगावगाहिमृतहस्तिशरीरस्था वायसा अपारसागरावर्तान्तः पातव्यसनमुपनिपतन्ते। मत्स्याश्चागाधसलिलसंचारिणो लोचनगोचरातीता रसनेन्द्रियवशंगताः आमिषलोभेन लोहमास्वाद्य म्रियन्ते। घ्राणेन्द्रिय लोलुपाश्चौषधगंधलुब्धपन्नगा विनिपातमिच्छन्ति। मधुकराश्च गजकर्णझलंझलामुपगम्य मरणमासादयन्ति। चक्षुरिन्द्रियविषयीकृताः प्रदीपावलोकेन लोलाः पतंगा व्यसनप्रपाताऽभिमुखा भवन्ति। श्रोतेन्द्रियविषयसंगाकृष्टमनसो गीतध्वनिविषंगविस्मृततृणग्रसना हरिणा अनर्थोन्मुखा भवन्ति। परत्र च नानाजातिषु बहुविधदुःख प्रज्वलितासु पर्यटन्ति। तथा स्वयंप्रभांगसंगतसुख स्पर्शलाभलोभाऽऽकृष्टचित्तोऽश्वग्रीवो विद्याधरचक्रवर्ती त्रिखण्डाधिपतिः सपुत्रः सबांधवो निधनमुपगतः। तथा च रसनघ्राणेन्द्रियलोलुपः सुभूमः सकलचक्रवर्त्ती षट्खण्डाधिपतिर्वणिग्वेषधारिणा जन्मान्तरवैरिणा समुद्रमध्ये मरणमुपगतः। तथा च वर्बरीचिलातिकानृत्यावलोकनविहिताऽऽसक्तिर्दमितारिरर्द्धचक्रवर्ती सकलपरिजनसमेतो विरामभुपजगाम। तथा च हस्तिपकमधुरगीतश्रवणसंसक्तमतिरमृतमतियशोधरमहाराजमहादेवी स्वकुलपरिभ्रष्टा कुष्ठाधिष्ठितशरीरा मृतिमुपगम्य नरकदुःखभागिनी बभूव। एवमेकैकेन्द्रियविषयविषसमस्तयाविधा अपि विनष्टाः किं पुनः पञ्चेन्द्रियविषयाभिलाषिण इत्येवमाद्या श्रवदोषानुचिन्तनमाश्रवानुप्रेक्षा। एवमस्य चिन्तयतः क्षमादिधर्मात् श्रेयस्त्वबुद्धिर्न प्रच्यवते। सर्वेऽप्यते आश्रवदोषाः कूर्मवत्संवृतेन्द्रियस्य न भवन्ति। इत्याश्रवाऽनुप्रेक्षावर्णनम्।

अर्थ — आगे आश्रवानुप्रेक्षा का वर्णन करते हैं। यहाँ पर अनुप्रेक्षाओं में केवल

संयम प्रकट करने के लिये ही आश्रव ग्रहण किया गया है। संसार मे कर्मों के जितने आश्रव हैं वे सब इस लोक और परलोक दोनों जगह इस जीव के स्वाभाविक गुणों का नाश करनेवाले हैं। ये इन्द्रियाँ आदि किसी महानदी की वेगवान जानेवाली (जोरों से बहनेवाली) धारा के समान है। स्पर्शन इन्द्रिय के वशीभूत मदोन्मत्त हाथी भी कामेन्द्रिय के वश में होकर अपनी शक्ति को भूल जाता है। देखो ! हाथी मे शक्ति कैसी है कि अत्यन्त घने और सीधे ऐसे साल वृक्ष, धाम, वास और कुडंग के पेड़ों का तोडना, स्वच्छ सरोवर जल में अवगाहन करना, मुलायम और जिसका स्पर्श सुख देने वाला है ऐसी पृथ्वीपर विहार करना आदि अनेक गुणों से सुशोभित, वन मे विहार करनेवाले, मदा-न्ध, महाकाय (जिसका बहुत बडा शरीर है) और बहुत बलवान हाथी कृत्रिम हथिनी मे स्पर्शनेन्द्रिय के सुख के लिये आसक्त चित्त होकर मनुष्यो के वश हो जाता है और फिर मारना, बांधना, दमन करना, सवारी कराना, अङ्कुशो से ताड़ना और पैर की एडी से मारना आदि अनेक कारणों से उत्पन्न हुए अनेक तीव्र दुःखो का अनुभव करता है। वह हाथी परतन्त्र होकर प्रतिदिन अपने समूह मे स्वतन्त्रता पूर्वक विहार करने वाले वनवास के सुख का स्मरण करता है और बार बार उसका स्मरणकर अत्यन्त दुःखी होता है। इस तरह जिह्वा इन्द्रिय के विषय के लाभ से किसी नदी के प्रवाह के वेग में पड़े हुए मृत्युंगत (मरे हुए) हाथी के शरीरपर बैठे हुए कौवे अपार महासागर के भीतर पहुँच जाते हैं और वहाँ पर अनेक तरह के दुःख उठाते है। इस ही प्रकार अगाध जल मे रहने वाली और नेत्रो के द्वारा दिखाई न देनेवाली मछलियाँ भी केवल रसना इन्द्रिय के वश होकर मास के लोभ से लोहे की कील का आस्वादन करके मर जाती है। घ्राण इन्द्रिय के लोलुपी सर्प औषधि· मिली हुई सुगन्धि के लोभ मे आकर मरने की इच्छा करते है। भ्रमर भी हाथी के मद की सुगन्ध के लोभ मे पडकर हाथी के इधर उधर चलाये हुए कानो की चोट खाकर मर जाते है। चक्षु इन्द्रिय के वशीभूत हुए पतङ्ग दीपक को देखकर चचल हो जाते है और उसमे पडकर जल जाते है व मर जाते है। जिनका मन श्रोत्र इन्द्रिय के विषय मे (मधुर राग मे) आसक्त हो गया है ऐसे हरिण भी गीतो की मधुर ध्वनि के राग मे खड़े होकर हरी घास का खाना भी भूल जाते हैं और फिर बहेलियों (शिकारियो) के द्वारा मारे जाते हैं। ये सब दुःख तो इन्हे इस लोक मे ही भोगने पड़ते हैं। इसके सिवाय परलोक में अनेक तरह के

दुःखों से भरी हुई बहुतसी योनियों मे उन्हें परिभ्रमण करना पडता है। (यह तो तिर्यञ्चों का उदाहरण बतलाया। मनुष्यों में भी अनेक बड़े पुरुष ऐसे हुए हैं जिन्हें एक एक इन्द्रिय की आसक्ति से अनेक तरह के दुःख भोगने पड़े है।) अश्वग्रीव विद्याधरों का चक्रवर्ती राजा था और वह तीन खण्ड का अधिपति (स्वामी) था परन्तु उसका चित्त स्वयप्रभा के अङ्गस्पर्श से उत्पन्न हुए सुख और स्पर्श के लाभ होने के लोभ मे फँस गया था, इसीलिये उसे अपने पुत्र व भाईयो सहित मरना पडा था। राजा सुभौम सकल चक्रवर्ती राजा था और छहों खण्डो का स्वामी था तथापि रसना इन्द्रिय और घ्राण इन्द्रिय का लोलुपी होने से उसे बीच समुद्र में जाकर वैश्य के वेश को धारण करने वाले जन्म-जन्मान्तर के वैरी देव के हाथ से मर जाना पडा। इस ही तरह अर्द्धचक्रवर्ती दमितारि भीलनी का नृत्य देखने में आसक्त होकर अपने सब कुटुम्बियों सहित मरण को प्राप्त हुवा था। इस ही प्रकार यशोधर महाराज की अमृतमति नामकी महादेवी हाथीवान (महावत) के मधुर गीतों के शब्द सुनने में आसक्त होकर अपने कुल से भ्रष्ट हो गई थी, उसका शरीर कुष्ट (कोढ) से भरगया था और मरकर उसे नरक के अनेक दुःख भोगने पडे थे। इस प्रकार के महापुरुष लोग भी विष के समान केवल एक एक इन्द्रिय के विषयों से नष्ट हो गये थे। फिर पांचों इन्द्रियो के विषयों की अभिलाषा करनेवालों की तो बात ही क्या है? इस प्रकार आश्रव के दोषों का चिन्तवन करना आश्रवानुप्रेक्षा है। इस तरह चिन्तवन करने से क्षमादि धर्म ही कल्याणकारी जान पड़ते हैं और फिर उनमें अपनी बुद्धि कभी नहीं हटती। ये आश्रव के सब दोष कच्छप के समान इन्द्रियों का निरोध करने वालों के नहीं होते है। इस प्रकार आश्रवानुप्रेक्षा का वर्णन किया गया।

विशेष:— दुक्खभयमीणपउरे संसारमहण्णवे परमघोरे।
जंतू जंतु णिमज्जदि कम्मासवहेदुयं सव्वं॥

[२६ मू चा. ८ अ.] कुन्दकुन्दाचार्य

अर्थ:— जिसमे दुःख भय रूपी मत्स्य बहुत विचरते है ऐसे अत्यन्त भयङ्कर संसार समुद्र मे प्राणी डूबता है उसमें कर्माश्रव ही कारण है।

रागो दोसो मोहो इदियसण्णा य गारवकसाया।
मणवयणकायसहिदा दु आसवा होंति कम्मस्स॥ [मू. चा. ३७ अ.]

अर्थ:— यह और राग, द्वेष, मोह तथा पञ्चेन्द्रियों के वशहोकर एवं आहार,

भय, मैथुन, परिग्रह ऐसी चार संज्ञायें व ऋद्धिगौरव, सातगौरव ऐसे तीनगौरव और क्रोधादि कषायों के वश होकर मन, वचन, काय की हलन चलन क्रियाओं से सब कर्मास्रव करता रहता है और इसही का फल जीव सदा भोगता रहता है।

रंजेदि असुहकुणये रागो दोसो वि दूसदे णिच्चं ।
मोहो वि महारिवु जं णियदं मोहेदि सब्भावं ॥

[मू. चा. ९२० अ ८] कु. कु. चा.

अर्थः— राग भाव जीव को कुत्सित पदार्थ में अनुरक्त करता है । द्वेष सुन्दर वस्तु में भी द्वेष उत्पन्न करता है अर्थात् द्वेष भाव सम्यग्दर्शनादिको में नित्य अप्रीति (वैर) उत्पन्न करता है । मोह महावैरी है यह निश्चय से जीव के परमार्थ स्वरूप को आच्छादित करता है ।

जिण वयण सद्दहाणो वि तिव्वमसुहगदिपावयं कुणदि ।
अभिभूदो जेहिं सदा धित्तेसिं रागदोसणं ॥

[मू चा. ७३१ अधिकार ८] वट्टकेर स्वामी

अर्थः— यह जीव जिन रागद्वेषों कर पीड़ित हुवा जिनवचन का श्रद्धान करता हुवा भी सदा अशुभगति का कारण तीव्र पाप को करता है इसलिये उन रागद्वेषों को धिक्कार हो ।

उपर्युक्त गाथा का आशय यहाँ पर इस प्रकार समझना चाहिये :—

धिद्धि मोहस्स सदा जे हिदत्थेण मोहिदो संतो ।
ण विवुज्झदि जिणवयणं हिदसिवसुहकारणं मग्गं ॥ [मू. चा.७३२ अ ८]

अर्थ— मोह को बार बार धिक्कार हो । मोह का नाश हो । हृदय में तिष्ठते हुए इस मोह से मूढ होकर यह आत्मा हितकर और मोक्षसुख का कारण ऐसे जिनागम को नहीं जानता है । अतः इस मूढ बनाने वाले मोह को बार बार धिक्कार हो ।

एव बहुप्पयारं कम्मं आसवदि दुट्ठमट्ठविहं ।
णाणावरणादीयं दुक्खविवागन्ति चिंतेज्जो ॥

[मू. चा. ४५ अ ६] कुन्दकुन्दाचार्य

अर्थ — इस प्रकार ज्ञानावरणादिक आठ कर्मों के उत्तर भेद १४८ (एक सौ अडतालीस) होते है । ये सब कर्म भेद अतिशय दुःख दायक हैं । इन कर्मों से दुःखदायक कर्मास्रव होता है, ऐसे चिन्तवन करना चाहिये । यही आस्रवानुप्रेक्षा है।

(८) संवरानुप्रेक्षा :–

अथ संवरानुप्रेक्षावर्णनं विधीयते। आश्रव निरोधःसंवरः। यथा वणिङ् महार्णवे यानपात्रविवरद्वारजलाश्रवपिधाने निरूपद्रवमभिलषितदेशान्तरं प्राप्नोति। तथा मुनिरपि संसारार्णवे शरीरपोतस्येन्द्रियविषयद्वारकर्मजलाश्रवं तपसा पिधाय मुक्तिवेलापत्तनं निर्विघ्नं प्राप्नोति। इत्येवं संवरगुणाऽनुचिंतनंसंवराऽनुप्रेक्षा। एवमस्य चिन्तयतः संवरे नित्योद्युक्तता भवति। इति संवराऽनुप्रेक्षावर्णनम्।

अर्थ – आगे संवरानुप्रेक्षा का वर्णन करते है। आश्रव को रोकना ही संवर है। जिस प्रकार कोई वैश्य महासागर मे चलते हुए जहाज के छिद्रों को या पानी आने के मार्ग को बंद कर फिर निर्विघ्न रीति से देशान्तर पहुँचता है उसी प्रकार मुनिराज भी संसार रूपी महासागर मे पड़े हुए शरीररूपी जहाज के कर्मरूपी जल के आने के कारण ऐसे इन्द्रियों के विषयरूपी द्वारों को तपश्चरण के द्वारा बन्द कर निर्विघ्न रीति से मोक्ष रूपी महानगर मे पहुंच जाते है। इस प्रकार संवर के गुणों का चिन्तवन करना संवरानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तवन करने से संवर मे सदा सावधानी और तत्परता रहती है। इस प्रकार संवरानुप्रेक्षा का वर्णन किया।

विशेषः– संवरफलं तु णिव्वाणमेत्ति संवरसमाधिसंजुत्तो।
णिच्चजुतो भावय संवर इणमो विसुद्धप्पो ॥[मू. वा. ९? ५६]

अर्थः– संवर का फल मोक्ष है अर्थात् संवर से नवीन कर्मों का आगमन आत्मा मे नहीं होता है और पुराने कर्म जब आत्मा से निकल जाते है तब आत्मा रागद्वेषयुक्त नहीं होता है। अपनी शुद्धपरिणति मे वह तत्पर होता है, जिससे उसको मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है। संवर से और समाधि से यानी संवरध्यान से युक्त होकर नित्य तत्पर होकर सदा इस संवर का चिन्तवन करना चाहिए। हे मुने! रागद्वेष छोड़कर विशुद्धात्मा होकर संवर का प्रयत्न से चिन्तवन कर।

(९) निर्जरानुप्रेक्षा –

अथ निर्जरानुप्रेक्षावर्णनं विधीयते। कर्मैकदेशगलनं निर्जरा, सापि द्वेधा, उदयोदीरणा विकल्पात्। तत्र नरकादिषु कर्मफलविपाकोदयोद्भवा, परीषहजयादुदीरणोद्भवा सा शुभानुबंधा निर-

नुबंधा चेत्येवं निर्जराया गुणदोषभावनंनिर्जराऽनु प्रेक्षा । एवमस्यानुस्मरतः कर्मनिर्जरायै वृत्तिर्भवति । इति निर्जराऽनुप्रेक्षा वर्णनं ।

अर्थ – आगे निर्जरानुप्रेक्षा का वर्णन करते हैं ।

कर्मों का एकदेश नष्ट होना निर्जरा है । निर्जरा के दो भेद है :– (१) उदयनिर्जरा (२) उदीरणा निर्जरा ।

(१) उदयनिर्जरा :– नरकादि गतियो मे कर्म अपना फल देकर नष्ट हो जाते हैं उसको उदय से होने वाली निर्जरा कहते है ।

(२) उदीरणानिर्जरा :– परीषहों के जीतने व तपश्चरण आदि से जो कर्म बिना फल दिये हुए ही उदय में आकर तुरत नष्ट हो जाते है वह उदीरणा से होने वाली निर्जरा कहलाती है ।

वह निर्जरा भी दो प्रकार की है एक वह है कि जिससे शुभ कर्मों का बंध हो और दूसरी वह जिससे किसी कर्म का वन्ध न हो । इस प्रकार निर्जरा के गुण दोषों का चिन्तवन करना निर्जरानुप्रेक्षा है ।

इस प्रकार इस अनुप्रेक्षा के चिन्तवन करने से कर्मों की निर्जरा करने में प्रवृत्ति होती है । इस प्रकार निर्जरानुप्रेक्षा का वर्णन किया ।

विशेषः– रुद्धासवस्स एवं तवसाजुतस्स णिज्जरा होदि ।
दुविहाय सा वि भणिया देसादो सव्वदो चेव ॥
[५२ गा. ६ अ.] कुन्दकुन्दाचार्य

अर्थ – जिसने आश्रवो के कारणो का निरोध किया है और जो तपश्चरण करता है ऐसे जीव के कर्म की निर्जरा होती है अर्थात् पूर्वबद्धकर्म उसके नष्ट होते हैं । वह निर्जरा कर्मैकदेश निर्जरा और सर्वकर्म निर्जरा इस प्रकार से भी दो भेद है ।

ससारे संसरंतस्स खओवसमगदस्स कम्मस्स ।
सव्वस वि होदि जगे तवसा पुण णिज्जरा विउला ॥ [१? अ ६ गा.]

अर्थ :– इस चतुर्गति संसार में भ्रमण करने वाले सर्व जीवों को निर्जरा होती है उसको देश निर्जरा कहते है अर्थात् उनका जो [illegible] है उनमें कुछ कर्मक्षय को प्राप्त होता है । कुछ कर्म आत्मा में [illegible] को प्राप्त होता है और कुछ कर्म उदय में आता है । कुछ कर्म आत्मा में [illegible] से [illegible] रहता है अर्थात् सत्ता में रहता है । कर्म की निर्जरा को [illegible] और [illegible] है उसको

के द्वारा विपुल निर्जरा होती है। तपस्वी
उसको सकल निर्जरा करते हैं।

[illegible] गुज्जदि सो अभिपणा दु सततो।
[illegible] जीवो कम्मेहि सगव य॥

[illegible]

[illegible]

[illegible] आसवि॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

तत्तनुवातघनानिलघनोदधिवेष्टितो लोकस्तन्मध्यगता त्रसनाड़ी, तन्मध्ये महामेरुस्तस्याधः स्थिता नरकप्रस्ताराः मेरूपरिवृताः शुभनामानो द्वीपसमुद्रा द्विर्द्विर्विष्कंभा वलयाकृतयो मेरोरूपरि स्वर्गपटलानि, तेषामुपरिसिद्धक्षेत्रं । एवमधस्तिर्यगूर्ध्वभेदभिन्नस्य चतुर्दशरज्जुविस्तारदक्षिणोत्तरदिग्भागस्य वेत्रासन झल्लरीमृदंगसमानाऽऽकारस्या षट् द्रव्यनिचितस्याकृत्रिमस्यानादिनिधनस्य लोकस्य स्वभावपरिणाहसंस्थानाऽनुचिन्तनं लोकानुप्रेक्षा । एवमस्याध्यवस्यतस्तत्त्वज्ञानविशुद्धिर्भवति । इति लोकानुप्रेक्षा वर्णनम् ।

अर्थः– आगे लोकानुप्रेक्षा का वर्णन करते है। जो जीवादि समस्त पदार्थों का आधार है यह लोक कहलाता है। यह आकाश सब ओर से अनन्तानन्त है और अपने ही आधार स्वरूप है। आकाश का अन्य कोई आधार नही है। उसी आकाश के अत्यन्त मध्यवर्ती प्रदेशो में यह लोक विराजमान है। यह लोक तनुवात, घनवात और घनोदधिवात से घिरा हुवा है अर्थात् लोक के चारों ओर घनोदधिवात है उसके चारो ओर घनवात है उसके चारो ओर तनुवात है और उसके चारों ओर (तरफ) आकाश है। उस लोकाकाश के मध्य में त्रसनाडी है उसके मध्य भाग मे यह मेरु पर्वत है। मेरुपर्वत के नीचे नरकों मे प्रस्तर है तथा मेरु के चारो ओर शुभ नामों को धारण करने वाले दूनी दूनी चौड़ाई वाले कंकण के आकार के (असंख्यात) द्वीप समुद्र हैं। मेरु के ऊपर स्वर्गों के पटल है। स्वर्ग पटलो के ऊपर सिद्ध क्षेत्र है। इस प्रकार इस लोक के अधोलोक तिर्यक् लोक और उर्ध्वलोक के भेद से तीन भेद होते हैं। यह समस्त लोक चौदह राजू ऊँचा है। पूर्व पश्चिम की ओर नीचे सात राजू चौडा मध्य मे एक राजू चौडा है ऊपर जाकर फिर पांच राजू चौडा है और सब से ऊपर जाकर एक राजू चौड़ा है। दक्षिण उत्तर की ओर सर्व जगह सात राजू लम्बा है। अधोलोक वेत के आसन के समान ऊपर से सकड़ी और नीचे से चौड़ी तिपाई के समान है। मध्यलोक झालर के समान है और उर्ध्वलोक मृदंग व परवावज के समान है। इसके सिवाय यह लोक छह द्रव्यो से भरा हुवा है, अकृत्रिम है, अनादि तथा अनिधन है। इस प्रकार लोक का स्वभाव लोक का परिणाम परिधि और उसका आकार चिन्तवन करना लोकानुप्रेक्षा है। इसके मनन करने से तत्त्वज्ञान की विशुद्धि होती है। इस प्रकार से लोकनुप्रेक्षा

का वर्णन किया गया।

(११) बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा :-

अथ बोधिदुर्लभाऽनुप्रेक्षावर्णनं विधीयते। स्कन्धांडराऽऽवासपुलविशरीरेषु स्कन्धा असंख्याततलोकमात्रः एकैकस्मिन् स्कन्धेऽसंख्याततलोकमात्रा अण्डरा एकैकस्मिन्नंडर आवासा असंख्याततलोकमिता एकैकस्मिन्नावासे पुलवयोऽसंख्याततलोकप्रमाणाः, एकैकस्सिन्पुलवी असंख्याततलोकप्रमितानि शरीराण्येकैकस्मिन्निगोदशरीरे जीवाः सर्वातीतकालसिद्धानामनंतगुणाः।

उक्तं च– एयणिओयसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेहिं वितीदकालेहिं॥

इत्येवं सर्वलोको निरन्तरं निचितःस्थावरैस्ततस्तत्र वालुकासमुद्रे पतितवज्रसिकताकणिकेव त्रसता दुर्लभा तत्र च विकलेन्द्रियाणां प्रचुरभूयिष्ठत्वात्पंचेंद्रियता गुणेषु कृतज्ञतेव कृच्छ्लभ्या। तत्र च तिर्यक्षु पशुमृगपक्षिसरीसृपादिषु बहुषु सत्सु मनुष्यभवश्चतुष्पथे रत्नराशिवद्दुरासदस्तत्प्रच्यवे पुनस्तदुपपत्तिर्दग्धतरुपुद्गलतद्भावाऽऽपत्तिवद्दुर्लभा। तल्लाभे च कुदेशानां हिताहितविचारविरहितानां पशुसमानमानवाकीर्णानां बहुत्वात्सुप्रदेशः पाषाणेषु मणिरिव न सुलभः। लब्धेऽपि सुदेशे पापकर्मजीवकुलाकुलत्वात्कुलेजन्म वृद्धोपसेवाविरहिते विनयवत्कृच्छ्लभ्यं। लोकस्य कुले हि जातिः प्रायेण शीलविनयाचारसंपत्तिकरी भवति सत्यामपिकुलसंपदि दीर्घायुरिन्द्रियबलरूपनिरोगत्वादीनि दुर्लभानि। सर्वस्वपि तेषु लब्धेषु सद्धर्मप्रतिलंभो यदिन स्यात् व्यर्थं जन्म वदनमिव दृष्टिविकलं। तमेवमतिदुर्लभं सद्धर्मं कथं कथमप्यवाप्य विषयसुखे रंजनं भस्मार्थं चन्दनदहनमिव विफलं। विरक्तविषयसुखस्य तपोभावनाधर्मप्रभावनासुखमरणादिलक्षणः समाधिदुर्लभस्तस्मिन्सति बोधिलाभः फलवान् भवतीति चिंतनं बोधिदुर्लभत्वाऽनुप्रेक्षा एवमस्य भावयतो बोधि प्राप्य प्रमादो न कदाचिदपि भवति। इति बोधिदुर्लभाऽनु-

प्रेक्षावर्णनं ।

अर्थ– अब आगे बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा का वर्णन करते है। स्कन्ध, अण्डर, आवास, पुलवि और शरीरों में स्कन्धों की संख्या, असंख्यात लोकमात्र है। एक एक स्कन्ध में असंख्यात लोकमात्र अण्डर हैं। एक एक अण्डर मे असंख्यात लोक प्रमाण आवास है। एक एक आवास में असंख्यात लोकप्रमाण पुलवि है। एक एक पुलवि में असंख्यात लोक शरीर है और एक एक निगोद शरीर में समस्त अतीतकाल मे होने वाले सिद्धों से अनंतगुणे जीव है। यह बात अन्य ग्रन्थों (गोमट्टसारादि) में लिखी है। "एगणिगोय इत्यादि"।

"एक निगोद शरीर मे द्रव्य प्रमाण मे जीवो की संख्या समस्त व्यतीत काल के सिद्धो से अनंतगुणी है" इस प्रकार यह समस्त लोक स्थावर जीवों से भरा भरा रहता है। जिस प्रकार वालू के समुद्र में पड़े हुए हीरा के कणो का मिलना अत्यन्त कठिन है इसी प्रकार इन स्थावर जीवो मे से त्रसपर्याय प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। त्रस पर्याय मे भी विकलेन्द्रियो की संख्या वहुत है इसलिये जिस प्रकार गुणों में कृतज्ञता अत्यन्त कठिनता से मिलती है उसी प्रकार त्रसों में पचेन्द्रिय होना अत्यन्त कठिन है। पचेन्द्रियों मे भी पशु हरिण, पक्षी, साप आदि तिर्यंचो की संख्या वहुत है, इसलिये जिसप्रकार किसी चोराहे पर (चौरास्ते पर) रत्नों की राशि मिलना कठिन है उस ही प्रकार पचेन्द्रियों मे मनुष्यभव प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है।

यदि मनुष्य जन्म मिलकर नष्ट हो गया तो जिस प्रकार जिसकी लकडी जड़ आदि सब जलादी गई है ऐसा वृक्ष फिर से नही उग सकता (अङ्कुर युक्त नही हो सकता) उसही प्रकार मनुष्य जन्म का फिर से मिलना अत्यन्त कठिन है। कदाचित् दुवारा मनुष्य जन्म मिल भी जाय तो जिन्हे हिताहित का कुछ विचार नही है और जो मनुष्यो का आकार धारण करने वाले पशुओं के समान है ऐसे कुदेशो मे रहने वाले म्लेच्छो की संख्या वहुत है इसलिये जिस प्रकार पत्थरों मे मणि का मिलना सुलभ नही है उसही प्रकार किसी सुप्रदेश में उत्पन्न होना भी सुलभ नही है। कदाचित् सुप्रदेश में भी मनुष्य जन्म प्राप्त हो जाय तो भी यह लोक प्राय. पाप कर्म करने वाले जीवों के समूहों से भरा हुवा है इसलिये जिस प्रकार वृद्धो की सेवा न करने वालों को विनय का प्राप्त होना कठिन है उसी प्रकार अच्छे कुल मे जन्म लेना वहुत ही कठिन है। अच्छा कुल मिलने पर भी प्रायः जीवों की जाति ही शील, विनय, आचार,

सपदा देनेवाली होती है। यदि कदाचित् कुल सपदा आदि प्राप्त भी हो जाये तो दीर्घ आयु, इन्द्रिय, बल, रूप और निरोगता आदि प्राप्त होना उत्तरोत्तर दुर्लभ है। उन समस्त सयोग के प्राप्त होने पर भी यदि सद्धर्म धारण करने का लाभ न हो तो जिस प्रकार विना नेत्रो के मुखमण्डल व्यर्थ है उसी प्रकार उसका मनुष्य जन्म लेना भी व्यर्थ ही है। यदि वही अत्यन्त दुर्लभ सद्धर्म जैसे तैसे प्राप्त हो जाय और फिर भी वह जीव विषय सुख मे निमग्न रहे तो जिस प्रकार केवल भस्म के लिये चन्दन का जलाना व्यर्थ है उसी प्रकार उसका सद्धर्म प्राप्त होना भी निष्फल है। जो विषय सुखो से विरक्त हो गया है उसके लिये भी तपश्चरण की भावना, धर्म की प्रभावना और सुख मरण अर्थात् समाधिमरण रूप समाधि व ध्यान की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है। इन सब सामग्रियो के मिल जाने पर भी रत्नत्रय का प्राप्त हो जाना ही सफल गिना जाता है। इस प्रकार चिन्तवन करना बोधिदुर्लभत्वानुप्रेक्षा है। इसके चिन्तवन करने से रत्नत्रय को पाकर फिर कभी प्रमाद नही करता है। इस प्रकार बोधिदुर्लभत्वानुप्रेक्षा का वर्णन किया गया।

विशेष:— सेयं भवभय महणी बोधी गुण वित्थडा मए लद्धा।
जदि पडिदा ण हु सुलहा तम्हा ण खमो पमादो मे॥

[मू. चा ६७ अ ८] कु. कु. चा

अर्थ — यह सम्यग्दर्शन ससार रूपी भय का नाश करने वाला है और गुणो मे विस्तीर्ण अर्थात् सर्वगुणो का आधार है ऐसा सम्यग्दर्शन मुझ को प्राप्त हुवा है। यदि ससार समुद्र मे यह सम्यग्दर्शन रत्न मुझ से नष्ट होगा तो यह अर्ध-पुद्गलपरावर्तन काल तक मुझे ससार मे भ्रमण किये विना प्राप्त नही होगा यानी इस ससार मे उत्कृष्टपने से अर्धपुद्गलपरावर्तन तक मेरा भ्रमण होने पर पुनः सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होगी। अतः प्रमाद करना मुझ को बिलकुल अयोग्य है।

दुल्लहलाहं लध्दूण वोधिजो णरो पमादेज्जो।
सो पुरिसो कापुरिसो सोयदि कुगादि गदो संतो॥

[मू. चा ६८ अ. ८] कुन्दकुन्दाचार्य

अर्थ :— ससार का क्षय करने मे समर्थ ऐसे सम्यग्दर्शन की दुर्लभता होने पर भी जो पुरुष प्रमादयुक्त होगा उसको कुपुरुष कहना चाहिये। ऐसा कुपुरुष नरकादिदुर्गतियो मे भ्रमण करता हुवा दुःखी होता है।

बोधीए जीवदव्वादियाइं बुज्झइ हु णव वि तच्चाइं।
गुणसयसहस्स कलियं एवं बोहिं सया झाहि ॥
[७१ मू. चा. ६ अ.] कुन्दकुन्दाचार्य

अर्थ:- बोधि की प्राप्ति होने पर जीव, अजीव, आश्रव, पुण्य, पाप, बंध,
सर, निर्जरा, मोक्ष ऐसे नव पदार्थों का स्वरूप आत्मा जानता है। षद्द्रव्यो
ं, पंचास्तिकायों को और सप्त तत्त्वों को जानता है। बोधि के द्वारा आत्मा,
र, द्रव्य, पंचास्तिकाय और पदार्थों को जानता है, इसलिये सत्तावधिगुणों से
युक्त ऐसी बोधि सर्वकाल हे आत्मन्! तेरे द्वारा ध्यायी जाना चाहिये अर्थात्
बोधि का तू सदा चिन्तन कर। (१२) धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा –

अथ धर्मस्वाख्याताऽनुप्रेक्षावर्णनं विधीयते। चतुर्दशगुणस्थाना-
नां गत्यादि चतुर्दशमार्गणास्थानेषु स्वतत्त्वविचारलक्षणो धर्मः।
निःश्रेयसप्राप्तहेतुरहो भगवद्भिरर्हद्भिः स्वाख्यात इति चिंतनं धर्म-
स्वाख्यातत्वाऽनुप्रेक्षा। एवमस्य चिंतयतो धर्मानुरागः सदा प्रतिपन्नो
भवति। इत्येवं चिन्तनं संस्थानविचयमष्टमं धर्मं।

अर्थ:- गति आदि चौदह मार्गणा स्थानों में चौदह गुणस्थानों के आत्म तत्व
का विचार करना धर्म है। मोक्ष की प्राप्ति का उपाय भगवान् अरहन्त देव ने
ही बतलाया है इस प्रकार से चिन्तवन करना धर्म स्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा है।
इस अनुप्रेक्षा के चिन्तवन करने से धर्मानुराग सदा बढता रहता है इस प्रकार
बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करना संस्थान विचय नामका आठवाँ धर्म-
ध्यान है।

विशेष:- सव्व जगस्स हिदकरो धम्मो तित्थंकरेहि अक्खादो।
धण्णा तं पडिवण्णा विसुद्धमणसा जगे मणुया ॥
[मू. चा ५६ अ.६] कुन्दकुन्दाचार्य

अर्थ:- उत्तमक्षमादिलक्षण-धर्म सर्व जगत् का हित करता है, ऐसे धर्म का
प्रतिपादन तीर्थंकरों ने किया है। तीर्थंकर प्रतिपादित धर्म का जिन्होंने निर्मल
अंत:करण से स्वीकार किया है वे पुरुष धन्य है, पुण्यवान है और वे जगत में
कृतार्थ हुए हैं।

जेणेह पाविदव्वं कल्लाणपरंपरं परम सोक्खं।
सो जिणदेसिदधम्मं भावेणुववज्जदे पुरिसो ॥ [६० अ ६ मू चा.]

अर्थ :– जिस जीव को इस जगत् में निरंतर मंगल और उत्कृष्ट सुख चाह है वह तीर्थकर प्रतिपादित धर्म को शुद्ध भाव से धारण करता है पुरुष परमार्थ मे धर्म के ऊपर श्रद्धान करता है, उसका सेवन करता है अल्प भी पापाचरण नही करता है।

उवसम दया य खंती वड्ढइ वेएग्गदा य जह जहसे ।
तह तह य मोक्खसोक्खं अक्खीणं भावियं होइ ।। [६१ अ ६ मू चा

अर्थ – उपशम- इन्द्रिय निग्रह करना, दया - प्राणियों पर प्रेम करना, शा अपने मन मे क्रोधादिकोंकी उत्पत्ति न होने देना अर्थात् दूसरों के उपद्रव सह करना ये भाव और वैराग्य जैसे-जैसे जीव के बढते हैं वैसे वैसे जीव को अक्ष मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है।

संसारविसमदुग्गे भगवहणे कह वि मे भमंतेण ।
दिट्ठो जिणवरदिट्ठो जेट्ठो धम्मो त्ति चिंतेज्जो ।। [मू. चा.६३ अ.६]

अर्थ – यह ससार विकट वन के समान है, इसमें अनेक प्रकार के धर्म धारण कर मैं व्याकुल हुवा हूँ। अब मुझे जिनेश्वर के द्वारा कहा हुवा श्रेष्ठ धर्म प्राप्त हुवा है। इस प्रकार से चिन्तवन करना चाहिये। यही धर्मानुप्रेक्षा है।

अणुवेक्खाहिं एवं जो अत्ताणं सदा विभावेदि ।
सो विगदसव्वकम्मो विमलो विमलालयं लहादि ।। [७३ अ. ६ मू चा]

अर्थ :– इस प्रकार अनुप्रेक्षाओं मे जो अपनी आत्मा को सर्वकाल जोडता है अर्थात् अनुप्रेक्षाओं का सर्वदा चिन्तवन करता है वह पुरुष सर्व कर्ममलों से रहित होता है यानी निर्मलों के आलय को अर्थात् मोक्ष स्थान को प्राप्त होता है।

जह मज्झ तम्हि काले विमला अणुपेहणा भवेजण्हु ।
तह सव्वलोगणाहा विमलगदिगदा पसीदन्तु ।। [७४ मू चा. ६ अ.]

अर्थ :- जिस तरह अन्तकाल मे ये निर्मल बारह अनुप्रेक्षा मुझको प्राप्त हो उस तरह सर्वलोक के नाथ - जिन्होंने कर्ममलरहित गति को प्राप्त किया है ऐसे सिद्ध परमेष्ठी से मेरी यही प्रार्थना है कि मुझ में (मेरी आत्मा में) द्वादशानुप्रेक्षा भावना भाने के शुभ भाव पैदा होकर कर्ममल विमुक्तावस्था (मोक्ष) को प्राप्त होऊं।

दस दो य भावणाओ एवं संखेवदो समुद्दिट्ठा ।
जिणवयणे दिट्ठाओ बुधजणवेरग्गजणणीओ ॥

[मू. चा. ७६३ अधिकार ८] वट्टकेर स्वामी

अर्थ:– इस प्रकार संक्षेप से इन बारह भावनाओं का वर्णन किया गया है। उपर्युक्त द्वादशानुप्रेक्षायें जिनवचन के अतिरिक्त अन्य मतो (अन्य धर्मों) में कहीं पर भी वर्णित नहीं की गई है। ये बारह भावनायें विवेकी पण्डितो के वैराग्य को उत्पन्न करने वाली है।

मोक्ख गया जे पुरिसा अणाइकालेण बार अणुवेक्खं ।
परिभाऊण सम्मं पणमामि पुणो पुणो तेसिं ॥

[८६ अ ६ मू. चा.] कुन्दकुन्दाचार्य

अर्थ – अनादि काल से जितने महापुरुष मोक्ष गये है वे अनित्यादि बारह भावनाओ की बार बार भले प्रकार भावना करने से गए हैं। इसलिये इस प्रकार भावनाओं को बारबार मैं नमन करता हूँ।

(६) आज्ञा विचयधर्मध्यान का स्वरूप :–

अथाऽऽज्ञाविचयस्वरूपाद्युच्यते । आज्ञाविचयमतीन्द्रियज्ञानविषयं विज्ञातुं चतुर्षु ज्ञानेषु बुद्धिशक्त्यभावात्परलोकबंधमोक्षलोकालोकसदसद्विवेकवृद्धिप्रभावधर्माधर्मकालद्रव्यादिपदार्थेषु सर्वज्ञप्रामाण्यात्तत्प्रणीताऽऽगमकथितमवितथं नान्यथेति सम्यग्दर्शनस्वभावत्वान्निर-चयचिन्तनं नवमं धर्म्यं।

अर्थ .– अब आगे आज्ञाविचय धर्मध्यान का स्वरूप वर्णन करते है। जो पदार्थ अतीन्द्रिय ज्ञान के गोचर है जिनमे बुद्धि की शक्ति काम नही देती ऐसे परलोक, बंध, मोक्ष, लोक, अलोक बुद्धि को प्राप्त हुए सत् असत् विवेक का प्रभाव, धर्म, अधर्म, काल द्रव्य आदि पदार्थो मे तथा चारो ज्ञानो मे "[illegible] मे सर्वज्ञ प्रमाण है और उनके प्रमाणता से उनके वचनो के अनुसार रहे हुए आगम में जो कुछ उनका स्वरूप कहा गया है वह सब सत्य है वह कभी अन्यथारूप नही हो सकता" इस प्रकार सम्यग्दर्शन का स्वभाव होने से वास्तविक तत्व का चिन्तवन करना आज्ञाविचय नामका नौवां धर्मध्यान है।

(१०) हेतुविचय धर्मध्यान :–

अथ हेतुविचय स्वरूपमुच्यते। हेतु विचयमागमविप्रतिपत्तौ

नयविशेषगुणप्रधानभावोपनयदुर्धर्षस्याद्वादप्रतिक्रियाऽवलंबिनस्त नुसारिरुचे. पुरुषस्य स्वसमयगुणपरसमयदोषविशेषपरिच्छेदेन गुणप्रकर्षस्तत्राऽभिनिवेशः श्रेयानिति स्याद्वादतीर्थंकरप्रवचने पू पराविरोधहेतुपरिग्रहणसामर्थ्येन समवस्थानगुणानुचिंतनं हेतुवि दशमं धर्म्यं ।

अर्थ — आगे हेतु विचय धर्मध्यान का स्वरूप कहते हैं। आगम में कि तरह का विरोध आने पर जो पुरुष विशेष, विशेषनयों की मुख्यता और गौ से प्राप्त हुए अत्यन्त कठिन स्याद्वाद के द्वारा उस विरोध का प्रतीकार क है तथा स्याद्वादानुसार हो जिसकी रुचि है ऐसा पुरुष अपने मत के विशेष और परमत के विशेष दोषों को अच्छी तरह समझकर जहां गुणों की अधि हो वहीं श्रद्धान रखना उसी को मानना कल्याणकारी है इस प्रकार तीर्थं के कहे हुए स्याद्वाद स्वरूप आगम में पूर्वापर अविरोधरूप हेतुओं के प ग्रहण की सामर्थ्य से उसमें रहने वाले गुणों का बार-बार चिन्तवन कर हेतुविचयनामका दशवां धर्मध्यान है।

सर्वमेतद् धर्मध्यानं पीतपद्मशुक्ललेश्याबलाधानं अविरता सरागगुणस्थानभूमिकं द्रव्य भावात्मकसप्तप्रकृतिक्षय कारणं। अ प्रमत्तान्तर्मुहूर्तकालपरिवर्तनं परोक्षज्ञानत्वात् क्षायोपशमिकभा स्वर्गापवर्गगति फलसंवर्तनीयं। शेषैकविंशतिद्रव्यभावलक्षण मोहनी योपशम क्षयनिमित्तमिति।

अर्थ — ये सब प्रकार के धर्मध्यान पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या के [illegible] होते हैं चौथे गुणस्थान से लेकर सराग गुणस्थान तक होते हैं। द्रव्य भाव [illegible] प्रकृतियों के (मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व, सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व अन [illegible] क्रोध मान माया लोभ) क्षय होने के कारण हैं। [illegible] अन्तर्मुहूर्त तक ही होते हैं। [illegible] परोक्ष ज्ञान होने से क्षायोपशमिक भी है। [illegible] इक्कीस प्रकृतियों के उपशम और क्षय के निमित्त [illegible] हैं।

इस प्रकार से दस प्रकार का धर्मध्यान का वर्णन समाप्त हुआ।
अब आगे शुक्ल ध्यान का वर्णन आचार्य करते हैं —

प्रथम शुक्लध्यान :–

क्लध्यानं द्विविधं, शुक्लं, परमशुक्लमिति । शुक्लं द्विविधं पृ-
वितर्कवीचारमेकत्ववितर्कावीचारमिति । परम शुक्लं द्विविधं,
क्रियाऽप्रतिपाति समुच्छिन्नक्रियानिवृत्तिभेदात् । तल्लक्षणं
बाह्यमाध्यात्मिकमिति । गात्रनेत्रपरिस्पन्दविरहितं जृंभजृ-
रादिवर्जितमनभिव्यक्तप्राणापानप्रचारत्वमुच्छिन्नप्राणापानप्र-
पराजितत्वं बाह्यं, तदनुमेयं परेषामात्मनः स्वसंवेद्य मा-
कं तदुच्यते । पृथक्त्वं नानात्वं, वितर्को द्वादशाङ्गश्रुतज्ञानं,
ऽर्थं व्यंजनयोगसंक्रान्तिः, व्यंजनमभिधानं, तद्विषयोऽर्थः,
कायलक्षणो योगः, अन्येऽन्यतः परिवर्तनं संक्रान्ति । पृथक्त्वे-
र्स्यार्थव्यंजनयोगेषु संक्रांतिवीचारो यस्मिन्नस्तीति तत्पृथ-
र्कवीचारं प्रथमं शुक्लं । तद्यथा अनादिसंभूतदीर्घसंसारस्थि-
पारं जिगमिषुर्मुमुक्षुः स्वभावविजृंभितपुरुषाकारसामर्थ्याद्
माणुं भावपरमाणुं वेकमवलंब्य संहृताऽशेषचिन्ताविक्षेपो
रसंयुतः कर्मप्रकृतीनां स्थित्यनुभागौ ह्रासयन्नुपशमयन् क्षय-
रमबहुकर्मनिर्जरास्त्रिषु योगेष्वन्यतमस्मिन्वर्तमान एकस्य
गुणं वा पर्यायं वा बहुनयगहननिलीनं धृतरविकिरणोद्योत-
तर्मुहूर्तकालं ध्यायति, ततः परमार्थान्तरं संक्रामत्यथ वास्यं-
गुणं वा पर्यायं वा संक्रामति पूर्वयोगाद्योगान्तरं व्यंजनाद्-
न्तरं संक्रामति इति । पर्यायांतरगुणगुणान्तरपर्यायपर्यान्त-
नत्रयं संक्रमणेन तस्यैव ध्यानस्य द्विचत्वारिंशद् भंगा भव-
तद्यथा–षण्णां जीवादिपदार्थानां क्रमेण ज्ञानदर्शनादिस्थितिनव-
गाहनादयो गुणास्तेषां विकल्पाः पर्यायाः । पर्यायादन्यो गुणा-
रंपर्यायादन्यः पर्यायः पर्यायान्तरं । एवमर्थादेतत्त्वगुणा-
र्यायपर्यायान्तरेषु षट्सु योगत्रयसंक्रमणादष्टादश भङ्गाः । पर्याद्
मान्तरपर्यायपर्यायान्तरेषु चतुर्षु योगत्रयसंक्रमणेन द्वादश भङ्गा
न्तरपर्यायान्तरयोरपि द्वादशभङ्गा भवन्ति । सर्वे मार्गोद्भ-
त । एवमर्थान्तरयोरपि

द्विचत्वारिंशद्भंगा भवन्ति। एवं विधं प्रथम शुक्लध्यानमुपश
कषायेऽस्ति, क्षीणकषायस्यादावस्ति। तत्र शुक्लतरलेश्यावला
मतमुहूर्तकालपरिवर्तनं। क्षायोपशमिकभावमुपातार्थव्यजनयो
क्रमणं चतुर्दशदशनवपूर्वधरयतिवृषभनिषेव्यमुपशान्तक्षीणकषाय
स्वर्गापवर्गगतिफलसंवर्त्तनीयमिति।

अर्थ :— शुक्लध्यान के दो भेद है। एक शुक्लध्यान और दूसरा परम ध्यान। उसमें भी शुक्ल ध्यान दो प्रकार का है! एक पृथक्त्ववितर्क और दूसरा एकत्त्ववितर्क विचार! परमशुक्ल भी दो प्रकार का है। सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाती और समुच्छिन्नाक्रिया निवृत्ति। इस समस्त शुक्ल का लक्षण भी दो प्रकार का है। एक बाह्य और दूसरा आध्यात्मिक।

बाह्यशुक्लध्यान :— शरीर और नेत्रों को परिस्पंद रहित रखना, जंभाई उद्गार आदि नहीं होना, प्राणापान का प्रचार नष्ट हो जाना और कि भी द्वारा जीता न जाना बाह्य शुक्लध्यान है। यह बाह्य शुक्लध्यान अन्य को अनुमान से जाना जा सकता है।

आध्यात्मिक शुक्लध्यान :— जो केवल आत्मा को स्वसंवेद्य हो वह आ त्मिक शुक्लध्यान कहा जाता है।

(१) पृथक्त्ववितर्कवीचर — नानात्व अथवा अनेकपने को पृथक्त्व कह द्वादशाङ्ग श्रुतज्ञान को वितर्क कहते हैं। अर्थ, व्यजन और योगों की सं को वीचार कहते है। किसी पदार्थ के नाम को व्यंजन कहते हैं और उस व्जन के विषय भूत पदार्थ को अर्थ कहते है। मन वचन काय के द्वारा आ के प्रदेशों के परिस्पद को योग कहते हैं। एक दूसरे मे बदल जाना संक्रा जिस ध्यान मे द्वादशाङ्ग श्रुतज्ञान अर्थ व्यञ्जन योगों मे अनेक तरह से मण करता है उसको पृथक्त्ववितर्कवीचार नामका प्रथम शुक्लध्यान कहते आगे इसही का खुलासा लिखते हैं।

जब यह अनादिकाल से चले आये दीर्घ संसार की स्थितिरूप म गर के पार जाने की इच्छा करनेवाला मोक्षार्थी जीव स्वभाव से प्राप्त पुरुषाकार की सामर्थ्य से द्रव्य परमाणु अथवा भाव परमाणु मे से किसी का अवलंबन कर (उसका चिन्तवनकर) बाकी के समस्त चिन्तवनों को लेता है तथा उसी समय महासंवर करता है। कर्मों की प्रकृतियों को ि

अनुभाग को घटाता है अथवा उन कर्म प्रकृतियों का उपशम और क्षय करता है बहुत से कर्मों की परम निर्जरा करता है। मन, वचन, काय तीनों में से किसी एक योग में स्थित रहता है और श्रुतज्ञान रूपी सूर्य की किरणों के तेज की सामर्थ्य से अन्तर्मुहूर्त तक अनेक नयों की गहनता में डूबे हुए किसी द्रव्य के गुण व उसके पर्याय का ध्यान करता है। उसके बाद उस पदार्थ को छोड़कर किसी दूसरे पदार्थ का चिन्तवन करता है अथवा उसी पदार्थ के गुण व पर्याय का संक्रमण करता है। पहिले योग से किसी दूसरे योग पर संक्रमण करता है और एक व्यञ्जन से दूसरे व्यञ्जन पर संक्रमण करता है। एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ पर एक गुण से दूसरे गुण पर और एक पर्याय से दूसरे पर्याय पर तीनों योगों के द्वारा संक्रमण करने से इस प्रथम ध्यान के बियालीस भेद हो जाते हैं। वे बियालीस भेद निम्नांकित हैं:- संसार में जीवादिक (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल) छह द्रव्य हैं। ज्ञान, वर्ण, गतिसहकार, स्थितिसहकार, वर्तना और अवगाहन ये अनुक्रम से उन द्रव्यों के गुण हैं। उनके भेदों को पर्याय कहते हैं। एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ पर संक्रमण करने को अर्थान्तर कहते हैं एक गुण से दूसरे गुणपर संक्रमण करने को गुणान्तर कहते हैं और एक पर्याय से दूसरे पर्याय पर संक्रमण करने को पर्यायान्तर कहते है इस प्रकार अर्थ, अर्थान्तर गुण, गुणान्तर और पर्याय, पर्यान्तर इन छहों में तीनों योगों के संक्रमण के द्वारा अठारह भेद होते है। इसी प्रकार अर्थ मे गुण, गुणान्तर, पर्याय, पर्यायान्तर इन चारो में तीन योगों के सक्रमण के द्वारा बारह भेद होते हैं तथा अर्थान्तर से गुण, गुणान्तर, पर्याय, पर्यायान्तर इन चारों में तीन योगो के सक्रमण के द्वारा बारह भेद होते हैं। इस प्रकार सब मिलकर बियालील भेद होते है। इस प्रकार यह प्रथम शुक्लध्यान उपशान्त कषाय में रहता है और क्षीण कषाय के प्रारभ में रहता है। यह ध्यान शुक्लतर लेश्या के बल से होता है और अन्तर्मुहूर्तकाल के बाद बदल जाता है। यह क्षायोपशमिक भाव है। प्राप्त हुए अर्थव्यञ्जन योगों के सक्रमण पूर्वक होता है। चौदह पूर्व व नौ पूर्व धारण करने वाले उत्तम पुरुषों के द्वारा सेवन (धारण) करने योग्य है और उपशान्त कषाय तथा क्षीणकषाय के भेद से स्वर्ग और मोक्ष फल को देनेवाला है।

द्वितीय एकत्ववितर्क विचार शुक्लध्यान :-

द्वितीयशुक्लध्यानमुच्यते। वितर्को द्वादशागं, अवीचारोऽसंक्रा-

द्विचत्वारिंशद्भंगा भवन्ति । एवं विधं प्रथम शुक्लध्यानमुपशा
कषायेऽस्ति, क्षीणकषायस्यादावस्ति । तत्र शुक्लतरलेश्यावलाध
मतमुंहूर्तकालपरिवर्तनं । क्षायोपशमिकभावमुपातार्थव्यजनयोग
क्रमणं चतुर्दशदशनवपूर्वधरयतिवृषभनिषेव्यमुपशान्तक्षीणकषायमे
स्वर्गापवर्गगतिफलसंवर्त्तनीयमिति ।

अर्थ :— शुक्लध्यान के दो भेद है । एक शुक्लध्यान और दूसरा परम
ध्यान । उसमें भी शुक्ल ध्यान दो प्रकार का है ! एक पृथक्त्ववितर्क वि
और दूसरा एकत्त्ववितर्क विचार ! परमशुक्ल भी दो प्रकार का है ।
सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाती और समुच्छिन्नाक्रिया निवृत्ति । इस समस्त शुक्ल
का लक्षण भी दो प्रकार का है । एक वाह्य और दूसरा आध्यात्मिक ।

बाह्यशुक्लध्यान — शरीर और नेत्रों को परिस्पद रहित रखना, जंभाई
उद्‌गार आदि नही होना, प्राणापान का प्रचार नष्ट हो जाना और किस
भी द्वारा जीता न जाना वाह्य शुक्लध्यान है । यह वाह्य शुक्लध्यान अन्य व
को अनुमान से जाना जा सकता है ।

आध्यात्मिक शुक्लध्यान .— जो केवल आत्मा को स्वसवेद्य हो वह आ
त्मिक शुक्लध्यान कहा जाता है ।

(१) पृथक्त्ववितर्कवीचार — नानात्व अथवा अनेकपने को पृथक्त्व कहते
द्वादशाङ्ग श्रुतज्ञान को वितर्क कहते है । अर्थ, व्यजन और योगों की संक्रा
को वीचार कहते है । किसी पदार्थ के नाम को व्यंजन कहते है और उस
व्यजन के विषय भूत पदार्थ को अर्थ कहते है । मन वचन काय के द्वारा आ
के प्रदेशों के परिस्पद को योग कहते हैं । एक दूसरे मे बदल जाना संक्रान्ति
जिस ध्यान मे द्वादशाङ्ग श्रुतज्ञान अर्थ व्यञ्जन योगो मे अनेक तरह मे स
मण करता है उसको पृथक्त्ववितर्कवीचार नामका प्रथम शुक्लध्यान कहते
आगे इसही का खुलासा लिखते हैं ।

जब यह अनादिकाल से चले आये दीर्घ संसार की स्थितिरूप महा
गर के पार जाने की इच्छा करनेवाला मोक्षार्थी जीव स्वभाव से प्राप्त
पुरुषाकार की सामर्थ्य से द्रव्य परमाणु अथवा भाव परमाणु मे से किसी
का अवलंबन कर (उसका चिन्तवनकर) बाकी के समस्त चिन्तवनों को र
मेता है तथा उसी समय महासंवर करता है । कर्मों की प्रकृतियों को स्थि

परिग्रहपरित्यागएवैंहिकामुत्रिकपरमसुखकारणं निरवद्यमनः प्रणिधानं पुण्यनिधानं । परिग्रहो वलवती सर्वदोषप्रसवयोनि । नत्वस्या उपधिभिस्तृप्तिरस्ति सलिलैरिव सलिलनिधेर्वडवायाः । उक्तं हि-

अनेकाऽधेयदुष्पूर आशागर्त्तश्चिरादहो ।
चित्रं यत्क्षणमात्रेण त्यागेनैकेन पूर्यते ॥

अपि च-

कः पूरयति दुष्पूरमाशागर्त्तं दिने दिने ।
यत्रास्ते प्रस्तमाधेयमाधारत्वा कल्पते ॥

परिग्रहसंग एव दुःखभयादिकं जनयतीति उपात्तेष्वपि शरीरादिषु संस्कारापोहाय 'ममेदं' भावाऽभाव आकिंचन्यं । शरीरादपि निर्ममत्वात्परमनिवृ तिभवाप्नोति । यथा यथा पोषयति तथा तथा लांपट्य तज्जनयति, तपस्यप्यनादरो भवति शरीरादिषु कृताऽभिष्वंगस्य संसारे सर्वकालमभिष्वंग एव । मयाऽनुभूतांगना सुरूपेति सविलासेति कलागुणविशारदेति स्मरणं, तत्कथाश्रवणं रतिपरिमलाधिवासितस्त्रीसंसक्तशयनाऽऽसनमित्येवमादि पूर्वरतानुचिंतनवर्जनं परिपूर्णब्रह्मचर्यमित्याख्यायते । ब्रह्मचर्यमनुपालयंतं हिंसादयो दोषा न संस्पृशन्ति । नित्याऽभिरतगुरुकुलवासमधिवसन्ति गुणसंपदः । वरांगनाविलाससविभ्रमविधेयकृतः पापैरपि विधेयीक्रियन्ते । अजितेन्द्रियता हि लोके प्राणिनामपमानविधायी ।

अर्थ :- इस प्रकार तपश्चरण की सामर्थ्य निरूपण की । तपस्वी लोग जिस जिस स्थान मे निवास करते है वे तीर्थ कहलाते हैं । तपश्चरण के प्रभाव से परस्पर विरोध रखनेवाले जीव भी अपना जन्म मे उत्पन्न वैर अथवा किसी कारण से उत्पन्न हुवा वैर छोडकर अपने हृदय को शान्त बना लेते हैं । बहुत कहने से क्या ? तपश्चरण से क्या सिद्ध नहीं होता ? किन्तु सब कुछ सिद्ध हो जाता है यही बात अन्य शास्त्रों मे भी लिखी है-

"यद्दूरं यद्दुराराध्यं यच्च दूरे व्यवस्थितम् ।
तपो हि दुरतिक्रमम्" ॥

अर्थ - । आराधन करना कठिन हो और जो

अर्थ :– आगे क्षेत्र ऋद्धि को कहते है। क्षेत्र ऋद्धि को प्राप्त होने वा दो प्रकार के होते है। (१) अक्षीणमहानस और (२) अक्षीणमहाल.

(क) अक्षीणमहानस ऋद्धिधारी :– लाभान्तराय कर्म का उत्कृष्ट क्ष प्राप्त होने वाले जिन मुनियों को आहार दिया जाय और बचे हुए भो से चक्रवर्ती की सब सेना भी भोजन कर जाय तो भी उस दिन वह कम न होवे ऐसे मुनिराज अक्षीणमहानस ऋद्धि को धारण करने वा लाते हैं।

(ख) अक्षीणमहालय ऋद्धधारी :– अक्षीणमहालय ऋद्धि को धारण वाले मुनि जहां विराजमान हों और वह स्थान चाहे चार हाथ लंबा ही हो तो भी उसमें समस्त देव, मनुष्य, तिर्यञ्च समाजावें परस्पर में को वाधा न होवे, सब सुख पूर्वक बैठ जाय वे अक्षीणमहालय ऋद्धिधारी श्वर होते हैं।

इस प्रकार क्षेत्रऋद्धि का प्रकरण समाप्त हुवा।

विशेष :– (१) बुद्धि ऋद्धि अठारह प्रकार की, (२) क्रिया ऋद्धि प्रकार की, (३) विक्रिया ऋद्धि ग्यारह प्रकार की, (४) तप ऋद्धि स प्रकार की, (५) बल ऋद्धि तीन प्रकार की, (६) औषध ऋद्धि आठ प्रक की, और (८) क्षेत्र ऋद्धि दो प्रकार की, इस प्रकार से सब मिलकर चौस (६४) ऋद्धियां होती है।

तपश्चरण की महत्ता –

एवमुक्तं तपः सामर्थ्यं, तपस्विभिरध्युषितानि क्षेत्राणि तीर्थत्वमुपगतानि। परस्परविरोधिनोऽपि प्राणिनो जातिविरोधं कारणविरोधं विमुच्य शान्तातरंगा भवन्ति तपसः सामर्थ्यात्। किं बहुना तपः किन साधयत्यपि तु सर्वमेव साधयंति। तदेवोक्तम्–

यद्दूर यद्दूराराध्यं यच्चद्दूरे व्यवस्थितम्।
तत्सर्वं तपसा साध्य तपो हि दुरितक्रमम्॥

तपो यस्य न विद्यते स चंचापुरुषो यथा, मुञ्चति तं सर्वगुणाः, नासो मुञ्चति संसारं। उपधित्यागः पुरुषहितो यतो यतो परिग्रहादपेतस्ततस्ततः संयतो भवति। ततोऽस्य खेदो व्यपगतो भवति।



श्रीमहावीरायनमः

❋ पट्टावली ❋

श्री त्रैलोक्याधिपतिं नत्वा स्मृत्वासद्गुरु भारतीम् ।
वक्ष्ये पट्टावलीरम्यां, मूल — संघ गणाधिपम् ॥
श्री मूल संघे प्रवरे, नंद्याम्नाये मनोहरे ।
बलात्कार गणोत्तंसे, गच्छे सारस्वतीयके ॥
कुन्द-कुन्दान्वयश्रेष्ठं, उत्पत्ति श्री गणाधिपः ।
स एवोत्र प्रवक्ष्यंते, श्रूयतां सज्जनाः जनाः ॥

सर्व प्रथम युगादि चौदह कुलकर हुए। (१) प्रतिश्रुत, (२) सन्मति, (३) क्षेमंकर, (४) क्षेमंधर, (५) सीमंकर (६) सीमंधर, (७) विपुल वाहन, (८) चक्षुष्मान्, (९) यशस्वी (१०) अभिचन्द्र, (११) चन्द्राभ, (१२) मरुदेव, (१३) प्रसेनजित्, और (१४) नाभिराजा।

उपरोक्त चौदह कुलकरो मे से अन्तिम कुलकर नाभिराजा के युगधर्म निवारक, युगादिधर्मधारक, संसारतारक, द्विविधधर्ममार्गोपदेशक, आदि राजा वर्तमान चौवीसी के आदि तीर्थंकर, पुत्र आदिनाथ हुए। श्री आदिनाथ स्वामी से लेकर महावीर स्वामी तक जैनियों के वर्तमान काल के चौबीस तीर्थंकर हुए। अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी के मोक्ष जाने के पश्चात् ६२ (बासठ) वर्ष तक केवलज्ञानी होते रहे।

अन्तिम जिणणिव्वाणे, केवलणाणीय गोयम मुणीन्दो।
बारह वासेयगए, सुधम्मसामीय संजादो ॥
तह बारह वासेपुण, संजादो जंबुसामि मुणिरायो।
उक्किट्ठो ॥

स्वामी को छै, कोस दो (२) विस्तार छै, तिसदेहरा के सोना की पीठिका छै, प्रतिमाजो सोना को छै, प्रतिमा कायोत्सर्ग छै, प्रतिमा एक सौ आठ धनुष की ऊँचो छै. वेदी सोना को छै. सिंहासन जड़ाव को छै, देहरा के ऊपर कलस सोना का सातसौ मण (७०० मण) को छै. देहरा के आस पास ७२ (बहत्तर) चैत्यालय छै, तिण में प्रतिमा तीन चौवोसी की छै, तिहा त्रिकाल पूजा होय छै। इस तरह जिनधर्म जैन का विद्यमान छै, चल रह्यो छै। तारा तम्बोल के ग्राम पास इसी बड़ी सिन्धु नदी बहे छै, उस आगे शहर एक ऐसो बताये छै, उन बीच रस्तो मास दोय को बताये छै. आगलो खबर केवली ने छै, या वार्ता मुलतान रो वासी जात छवो नाम ठाकुर बुलाकी ने बात कही ते लिखो छै। अहमदाबाद नगर थी तारातम्बोल नगर सर्व कोस पाँच हजार छै सो पचास छै। इति।

नोट,– इस प्राचीन नागौर के हस्तलिखित शास्त्र भण्डार में अनेक अप्राप्य, अनुपलब्ध और अप्रकाशित सवही विषयों के ग्रन्थ मौजूद है। वहाँ करीब बीस वर्ष पूर्व मे भण्डार के अनुसन्धान काल में मुझे बहुत से प्राचीन इतिहास को भी अवलोकन करने का सौभाग्य प्राप्त हुवा है, उसका प्रकाशित होना अत्यावश्यकीय है। राजस्थान में यह करीब दस बारह हजार हस्तलिखित ग्रन्थों का अनुपम और अपूर्व भण्डार है। उसमे से ही प्राप्त श्री भगवान महावीर स्वामी को मोक्ष जाने के बाद में पट्टधारी आचार्य मुनिराज व भट्टारक हुए उनका विवरण निम्नाङ्कित रूप से अक्षरशः पट्टावली वर्णित की जा रही है।









卐 श्रीमहावीरायनमः 卐

❀ पट्टावली ❀

श्री त्रैलोक्याधिपतिं नत्वा स्मृत्वासद्गुरु भारतीम् ।
वक्ष्ये पट्टावलीरम्यां, मूल संघ गणाधिपम् ॥
श्री मूल संघे प्रवरे, नंद्याम्नाये मनोहरे ।
बलात्कार गणोत्तंसे, गच्छे सारस्वतीयके ॥
कुन्द-कुन्दान्वयेश्रेष्ठं, उत्पत्ति श्री गणाधिपः ।
स एवोत्र प्रवक्ष्यंते, श्रूयतां सज्जनाः जनाः ॥

सर्व प्रथम युगादि चौदह कुलकर हुए।
(१) प्रतिश्रुत, (२) सन्मति, (३) क्षेमंकर, (४) क्षेमंधर, (५) सीमंकर (६) सीमंधर, (७) विपुल वाहन, (८) चक्षुष्मान्, (९) यशस्वी (१०) अभिचन्द्र, (११) चन्द्राभ, (१२) मरुदेव, (१३) प्रसेनजित्, और (१४) नाभिराजा।

उपरोक्त चौदह कुलकरों मे से अन्तिम कुलकर नाभिराजा के युगधर्म निवारक, युगादिधर्मधारक, समारतारक, द्विविधधर्ममार्गोपदेशक, आदि राजा वर्तमान चौवीसी के आदि तीर्थंकर, पुत्र आदिनाथ हुए। श्री आदिनाथ स्वामी से लेकर महावीर स्वामी तक जैनियो के वर्तमान काल के चौबीस तीर्थंकर हुए। अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी के मोक्ष जाने के पश्चात् ६२ (बासठ) वर्ष तक केवलज्ञानी होते रहे।

अन्तिम जिणणिव्वाणे, केवलणाणीय गोयम मुणीन्दो ।
बारह वासेयगए, सुधम्मसामीय संजादो ॥
तह बारह वासेपुण, संजादो जंबूसामि मुणिरायो ।
अट्ठतीसवास रहियो, केवलणाणीय उक्किट्ठो ॥

आयरियविशाखपोट्ठिल, खत्तिय जयसेण नागसेणमुणी।
सिद्धट्ठधित्ति विजयं, बुद्धिलिङ्गदेवधम्मसेणम् ॥
दह उगणीसह सत्तर, इगवीस अट्ठार सत्तर अट्ठारेहिम्।
तेरह वीसह चउदह, सोलह वासं कम्मेणेयम् ॥

१. श्री वीर निर्वाण सवत् १६२ मे श्री मुनिराज विशाखाचार्य सर्व प्रथ दसपूर्व के धारक हुए, इनका दीक्षा काल १० (दस) वर्ष रहा।

२. श्री वीर नि. स. १७२ में श्री मुनिराज प्रोष्टिलाचार्य हुए, इनका दीक्ष काल १६ वर्ष रहा।

३ श्री वीर नि. स. १६१ मे श्री मुनिराज क्षत्रियाचार्य हुए, इनका दीक्ष काल १७ वर्ष रहा।

४. श्री वीर नि. स २०८ मे श्री मुनिराज जयसेनाचार्य हुए, इनका दीक्ष काल २१ वर्ष रहा।

५. श्री वीर नि. स. २२६ मे श्री मुनिराज नागसेनाचार्य हुए, इनका दीक्षा काल १८ वर्ष रहा।

६. श्री वीर नि स. २४७ मे श्री मुनिराज सिद्धार्थाचार्य हुए इनका दीक्षा काल १७ वर्ष रहा।

७. श्री वीर नि. स. २६४ में श्री मुनिराज धृतिसेनाचार्य हुए, इनका दीक्षा काल १८ वर्ष रहा।

८. श्री वीर नि. स २८२ मे श्री मुनिराज विजयाचार्य हुए, इनका दीक्षा काल १३ वर्ष रहा।

९. श्री वीर नि. स २९५ मे श्री मुनिराज बुद्धिलिङ्गाचार्य हुए, इनका दीक्षा काल वीस (२०) वर्ष रहा।

१०. श्री वीर नि. स ३१५ मे श्री मुनिराज देवाचार्य हुए, इनका दीक्षा काल १४ वर्ष रहा।

११. श्री वीर नि. स. ३२६ मे श्री मुनिराज धर्मसेनाचार्य हुए, इनका दीक्षा काल १६ वर्ष रहा।

श्री वीर निर्वाण सवत् ३४५ के पीछे १२३ वर्ष मे निम्नाङ्कित एका-दशाङ्गधारी ५ आचार्य हुए।

अन्तिम जिणणिव्वाणे, तियसयपणचालवास जादेसु।
एगादहाङ्गधारीय, पण जण मुणिवरा जादा ॥

आयरियविशाखपोट्ठिल, खत्तिय जयसेण नागसेणमुणी।
सिद्धट्ठधित्ति विजयं, बुद्धिलिङ्गदेवधम्मसेणम्॥
दह उगणीसह सत्तर, इगवीस अट्ठार सत्तर अट्ठारेहिम्।
तेरह वीसह चउदह, सोलह वासं कम्मेणेयम्॥

१. श्री वीर निर्वाण सवत् १६२ मे श्री मुनिराज विशाखाचार्य सर्व प्रथम दशपूर्व के धारक हुए, इनका दीक्षा काल १० (दस) वर्ष रहा।

२. श्री वीर नि. स. १७२ मे श्री मुनिराज प्रोष्ठिलाचार्य हुए, इनका दीक्षा काल १९ वर्ष रहा।

३. श्री वीर नि. सं. १९१ मे श्री मुनिराज क्षत्रियाचार्य हुए, इनका दीक्षा काल १७ वर्ष रहा।

४. श्री वीर नि. सं. २०८ मे श्री मुनिराज जयसेनाचार्य हुए, इनका दीक्षा काल २१ वर्ष रहा।

५. श्री वीर नि. स. २२९ मे श्री मुनिराज नागसेनाचार्य हुए, इनका दीक्षा काल १८ वर्ष रहा।

६. श्री वीर नि. स. २४७ मे श्री मुनिराज सिद्धार्थाचार्य हुए इनका दीक्षा काल १७ वर्ष रहा।

७. श्री वीर नि सं. २६४ में श्री मुनिराज धृतिसेनाचार्य हुए, इनका दीक्षा काल १८ वर्ष रहा।

८. श्री वीर नि. स २८२ मे श्री मुनिराज विजयाचार्य हुए, इनका दीक्षा काल १३ वर्ष रहा।

९. श्री वीर नि. स २९५ मे श्री मुनिराज बुद्धिलिङ्गाचार्य हुए, इनका दीक्षा काल वीस (२०) वर्ष रहा।

१०. श्री वीर नि. स ३१५ मे श्री मुनिराज देवाचार्य हुए, इनका दीक्षा काल १४ वर्ष रहा।

११. श्री वीर नि स. ३२९ मे श्री मुनिराज धर्मसेनाचार्य हुए, इनका दीक्षा काल १६ वर्ष रहा।

श्री वीर निर्वाण सवत् ३४५ के पीछे १२३ वर्ष मे निम्नाङ्कित एकादशाङ्गधारी ५ आचार्य हुए।

अन्तिम जिणणिव्वाणे, तियसयपणचालवास जादेसु।
एगादहाङ्गधारीय, पण जण मुणिवरा जादा॥

पञ्च सयगण सठ्ठे अन्तिमजिण समय जादेसु ।
उप्पणा पञ्चजणा, इयङ्गधारी मुणेयव्वा ॥
अहि वल्लिमाघणंदिय, धरसेणं पुप्पयंतं ।
भूत वल्लो अड्वीसं, इगवीसं उगणं संतीसवीस वासमुणो ॥

श्री वीर निर्वाण सं. ५६५ में श्री अहिद्दिलाचार्य हुए, इनका दीक्षाकाल
रहा। (२) श्री वीर नि. सं ५९३ मे श्री मुनि माघनंद्याचार्य हुए,
दीक्षाकाल २१ वर्ष रहा। (३) श्री वीर नि. स. ६१४ मे श्री मुनिराज
चार्य हुए, इनका दीक्षाकाल १९ वर्ष रहा। (४) श्री वीर नि. सं.
श्री मुनिराज पुष्पदन्ताचार्य हुए, इनका दीक्षा काल ३० वर्ष रहा।
श्री वीरनि. स. ६६३ में श्री मुनिराज भूतबल्याचार्य हुए, इनका दीक्षा
० वर्ष रहा।

स प्रकार से श्री वीरनिर्वाण संवत् ६८३ तक अङ्गों की स्थिति रही,
द में श्रुतज्ञानी हुए।

इगसय अट्ठारवरके, इक्कंगधारीयमुनिवरा जादा।
छसयतिगसीयवासे, णिव्वाण अङ्गछित्ति कहियजिणं ॥

इसके बाद श्रीमूल संघ का वर्णन किया गया है।

तरिचवुसदजुत्तो, जिणकाला विक्कमोहवईजम्मो ।
दु वरसवाल लीला, षोड़सवासे भमिय देश ॥
पणवासयरज्जं, कुणतिमिच्छोपदेस संयुतो ।
लीस वरक जिणवरधम्मं सुरपयंलहियं ॥

इत्युक्त विक्रमप्रबंधे।

ो भगवान् महावीर स्वामी को मोक्ष जाने बाद में श्री वीर निर्वाण
३० के पीछे श्री राजा वीरविक्रमादित्य का जन्म हुआ।
ी मुनि. सुभद्राचार्य के होने के दो वर्ष के बाद मे श्री राजा वीर
दित्य का जन्म हुआ।
राजा विक्रमादित्य के राज्यारोहण के ४ वर्ष बाद मे श्री मुनि. भद्र-
। श्री भद्रबाहु के शिष्य श्री गुप्तिगुप्त हुए। श्री गुप्तिगुप्ताचार्य के
र अर्हद्बलि और विशाखाचार्य भी हैं।

श्रीगुप्तिगुप्ताचार्य के ४ (चार) शिष्य हुए।

(१) नन्दिवृक्ष मूलेयेनवर्षायोगोधृतः स माघनन्दि तेन "नन्दिसंघ" स्थापितः। (२) जिनसेन नामतृणतले वर्षायोगोधृतः स वृषभसेन "वृषभसंघ" स्थापितः। (३) येनसिंह गुहायां वर्षायोगो स्थापितः स "सेन सिंह संघ" स्थापितः। (४) यो देवदत्ता वेश्यागृहे वर्षायोगोधृत. स "देव संघ" श्चकारः।

नन्दिसंघ के पारिजात गच्छ बलात्कारगणमें निम्नाङ्कित ४ मुनिराज हुये। १- नन्दि २- चन्द्र ३- कीर्ति और ४- भूषण।

श्री वीर निर्वाण सवत् ४९२ में अर्थात् सुभद्राचार्य के होने के २४ वर्ष बाद तथा श्री विक्रम के जन्म से २२ वर्ष बाद और श्री राजा विक्रम के राज्यारोहण के बाद चतुर्थ वर्ष में श्री भद्रबाहु हुए।

१- श्री मिती चैत्र शुक्ला १४ विक्रम स ४ (चार) मे श्रीभद्रबाहु हुये, इनका गृहस्थावस्था का काल २४ वर्ष रहा, दीक्षाकाल ३० वर्ष और पटस्थकाल २२ वर्ष १० मास २७ दिन तथा विरह काल दिन ३ रहा। इस प्रकार से इनकी कुल आयु ७६ वर्ष और ११ मास की थी।

२- श्री मिती फाल्गुण शुक्ला १४ विक्रम स. २६ (छब्बीस) मे जाति राजपूत पँवारोन्वय श्री गुप्तिगुप्त हुए, इनका गृहस्थावस्थाकाल २२ वर्ष रहा, दीक्षा काल ३४ वर्ष और पटस्थकाल ९ वर्ष ६ मास २५ दिन एवं विरहकाल दिन ५ रहा, इस प्रकार से इनकी सम्पूर्णायु ६५ वर्ष ७ माह की थी।

३- श्री मिती आश्विन शुक्ला १४ विक्रम स० ३६ (छत्तीस) में जैसवाल ज्ञात्युन्वय श्री माघनन्दि हुए, इनका गृहस्थावस्था का काल २० वर्ष रहा, दीक्षाकाल ४४ वर्ष ४ मास ४ दिन और विरहकाल २६ दिन रहा। इस प्रकार से सम्पूर्णायु ६८ वर्ष ५ मास की थी।

४- श्री मिती फाल्गुण शुक्ला १४ विक्रम स. ४० (चालीस) मे चौसखा पोरवाड़ ज्ञात्युन्वय श्री जिनचन्द्र हुए, इनका गृहस्थावस्था का काल २४ वर्ष ९ माह रहा, दीक्षाकाल ३२ वर्ष ३ माह, पटस्थकाल ८ वर्ष ९ माह ६ दिन और विरह दिन ३ रहा, इस प्रकार से सम्पू. ६५ वर्ष ८ माह और ९ दिन की थी।

५- श्री मिती पौष कृष्णा ८ विक्रम सवत् ४९ (उनपचास) और श्री वीर निर्वाण सवत् ५१९ (पानसौ उन्नीस) मे पल्लीवाल जैन ज्ञात्युन्वय श्री कुन्दकुन्दाचार्य हुए, श्री कुन्दकुन्दाचार्य का गृहस्थावस्था का काल ११ वर्ष रहा, दीक्षाकाल ३३ वर्ष, पटस्थकाल ५१ वर्ष १० माह १० दिन, विरह दिन ५ इस प्रकार से ९५ वर्ष १० माह १५ दिन की सम्पूर्णायु थी। श्री कुन्द-

[illegible] के हैं निम्नलिखित ४ (चार) नाम हैं। १. श्री पद्मनन्दि २. श्री [illegible], ३. श्री गृद्धपिच्छ (गृद्धपिच्छ) और ४. श्री इलाचार्य (एलाचार्य)।

[illegible] श्री तिथि कार्तिक शुक्ला ८ विक्रम सं. १०१ में [illegible] [illegible] श्री [illegible] उमास्वामी हुए, इनका गृहस्थावस्था का काल १९ वर्ष, दीक्षा काल [illegible] वर्ष, पट्टस्थकाल ४० वर्ष ८ माह १ दिन और विरह काल ५ दिन [illegible] [illegible] सम्पूर्णायु ८४ वर्ष ८ माह और ६ दिन की थी।

[illegible] श्री तिथि आषाढ़ शुक्ला १४ विक्रम सं. १४२ में [illegible] [illegible] लोहाचार्य (लोहाचार्य) हुए, इनका गृहस्थावस्था का काल [illegible] [illegible] दीक्षा काल ३८ वर्ष और पट्टस्थकाल १० वर्ष १० माह २० दिन [illegible] [illegible] काल दिन ६ रहा, इनकी सम्पूर्णायु ६२ वर्ष १० माह और २६ दिन [illegible]

८. श्री तिथि ज्येष्ठ शुक्ला १० विक्रम सं. १५३ में [illegible] [illegible] श्री मुनिराज यशःकीर्ति हुए, इनका गृहस्थावस्था का काल १८ [illegible] काल २१ वर्ष, पट्टस्थकाल ५८ वर्ष ८ माह १० दिन और [illegible] इनकी सम्पूर्णायु ६१ वर्ष ८ माह और १५ दिन की थी।

९. श्री तिथि फाल्गुन कृष्णा १० विक्रम सं. २११ में [illegible] श्री मुनिराज यशोनन्दि हुए, इनका गृहस्थावस्था का काल [illegible] काल १७ वर्ष पट्टस्थकाल ४६ वर्ष ४ माह ६ दिन और [illegible] का रहा, इनकी सम्पूर्णायु ७८ वर्ष ४ माह १३ दिन की थी।

१०. श्री तिथि आषाढ़ शुक्ला ८ विक्रम सं. २५८ में [illegible] मुनिराज देवनन्दि हुए, इनका गृहस्थावस्था का काल [illegible] काल १५ वर्ष ७ माह और पट्टस्थकाल वर्ष ४६ माह [illegible] काल दिन ४ का रहा, इनकी सम्पूर्णायु ७५ वर्ष [illegible]

११. श्री तिथि ज्येष्ठ शुक्ला १० विक्रम सं. [illegible] [illegible] श्री मुनि. पूज्यपाद स्वामी हुए, इनका [illegible] दीक्षा काल २२ वर्ष ७ माह, पट्टस्थकाल [illegible] विरहकाल ७ दिन रहा, इनकी सम्पूर्णायु [illegible]

१२. श्री तिथि ज्येष्ठ शुक्ला ६ विक्रम सं. [illegible] गुणनन्दि मुनिराज हुए, इनका [illegible] वर्ष ५ माह, पट्टस्थकाल ११ [illegible] रहा, इनकी सम्पूर्णायु [illegible]

१३ श्री मिती भाद्रपद शुक्ला १४ विक्रम स. ३६४ मे श्री मुनिराज वज्रनन्दि हुए, इनका गृहस्थावस्था काल १६ वर्ष, दीक्षा काल १६ वर्ष ३ मास, पटथस्काल २२वर्ष ५ माह १ दिन और विरह काल ४ दिन रहा, इनकी सम्पूर्णायु ५७ वर्ष ८ माह ५ दिन की थी।

१४. श्री मिती फाल्गुण कृष्णा ४ विक्रम सं. ३८६ में सहजवाल जात्युत्पन्न श्री मुनिराज कुमारनन्दि हुए, इनका गृहस्थावस्था काल १६ वर्ष, दीक्षाकाल १० वर्ष २ माह, पटस्थकाल ४० वर्ष २ माह २० दिन, विरहकाल ६ दिन रहा, इनकी सम्पूर्णायु ६६ वर्ष ४ माह २६ दिन की थी।

१५. श्री मिती जेष्ठ कृष्णा ३ विक्रम स ४२७ मे लवेचु जात्युत्पन्न श्री लोकचन्द्र मुनि. हुए, इनका गृहस्थावस्थाकाल १८ वर्ष, दीक्षाकाल १६ वर्ष, पटस्थकाल वर्ष २६ माह ३ दिन १६ और विरहकाल १० दिन रहा, इनकी सम्पूर्णायु ६० वर्ष ३ माह २६ दिन की थी।

१६ श्री मिती भाद्रपद शुक्ला १४ विक्रम सं. ४५३ मे पचमश्रावक जात्युत्पन्न श्री मुनि प्रभाचन्द्र हुए, इनका गृहस्थावस्थाकाल ६ वर्ष, दीक्षाकाल २४ वर्ष,पटस्थकाल २५ वर्ष ५ माह १५ दिन और अन्तर दिन ११ रहे इनकी सम्पूर्णायु ५८ वर्ष ५ माह २६ दिन की थी।

१७ श्री मिती फाल्गुण शुक्ला १० विक्रम स ४७८ में नेगम श्रावक जात्युत्पन्न श्री नेमिचन्द्र हुए, इनका गृहस्थावस्था काल १० वर्ष, दीक्षाकाल २२ वर्ष पटस्थकाल ८ वर्ष ६ माह १ दिन और अन्तरालकाल ६ दिन रहा, इनकी सम्पूर्णायु ४० वर्ष ६ माह १० दिन की थी।

१८ श्री मिती पौष कृष्णा ५ विक्रम स ४८७ मे दूसर जात्युत्पन्न श्री भाननन्दि मुनिराज हुए, इनका गृहस्थावस्थाकाल १० वर्ष, दीक्षा काल १५ वर्ष पटस्थकाल २१ वर्ष १ माह २४ दिन, विरहकाल १२ दिन रहा, इनकी सम्पूर्णायु ४६ वर्ष २ माह ६ दिन की थी।

१९. श्री मिती माघ सुक्ला ११ विक्रम स ५०८ मे श्रीमाल सीकरया श्री हरिनन्दि मुनि हुए, इनका गृहस्थावस्था काल ६ वर्ष, दीक्षाकाल १५ वर्ष पटस्थकाल १६ वर्ष ७ माह १५ दिन और विरहकाल १४ दिन रहा, इनकी सम्पूर्णायु ४० वर्ष ७ माह २६ दिन की थी।

२०. श्री मिती आश्विन शुक्ला १० विक्रम स. ५२५ मे वघनोरा जात्युत्पन्न श्री वसुनन्दि मुनि. हुए, इनका गृहस्थावस्था काल १० वर्ष, दीक्षाकाल ३० वर्ष,

...१६ वर्ष २ माह २२ दिन, विरहकाल ६ दिन रहा, इनकी सम्पूर्णायु
... वर्ष ३ माह १ दिन की थी।
... श्री मिती पौष शुक्ला ११ विक्रम स. ५३१ मे लवेचु जात्युत्पन्न श्री
... मुनि हुए, इनका गृहस्थावस्थाकाल ६ वर्ष, दीक्षा काल १३ वर्ष,
...काल ३० वर्ष ० माह १४ दिन और, अन्तरालकाल दिन १० रहा, इनकी
...र्णायु ५२ वर्ष ० माह १४ दिन की थी।
... श्री मिती माघ शुक्ला ५ विक्रम स. ५६१ मे अग्रवाल जात्युत्पन्न श्री
...मुनि हुये, इनका गृहस्थावस्था काल ८ वर्ष, दीक्षाकाल १२ वर्ष,
...काल २३ वर्ष ४ माह ७ दिन और अन्तराल काल ११ दिन रहा,
...सम्पूर्णायु ४३ वर्ष ४ माह १८ दिन की थी।
... श्री मिती आषाढ कृष्णा ८ विक्रम स. ५८५ मे अग्रवाल जात्युत्पन्न
... माणिक्यनन्दि हुए, इनका गृहस्थावस्थाकाल १० वर्ष रहा, दीक्षा काल १६
... पटस्थकाल १६ वर्ष ५ माह १० दिन और अन्तरालकाल १५ दिन रहा,
...सम्पूर्णायु ४५ वर्ष माह ५ २५ दिन की थी।
...४. श्री मिती पौष कृष्णा ३ विक्रम स० ६०१ मे खण्डेलवाल जैन जात्युत्पन्न
मेघचन्द्र मुनि हुए, इनका गृहस्थावस्थाकाल २४ वर्ष ३ माह २७ दिन,
...क्षाकाल ६ वर्ष ७ माह १३ दिन, पटस्थकाल २५ वर्ष ५ माह २० दिन
...र अन्तरालकाल १२ दिन रहा, इनकी सम्पूर्णायु ५६ वर्ष ६ माह २ दिन
... थी।

२५ श्री मिती आषाढ कृष्णा ५ विक्रम स ६२७ मे सहजवाल जात्युत्पन्न
...श्री शान्तिकीर्ति मुनि हुए, इनका गृहस्थावस्थाकाल ७ वर्ष, दीक्षाकाल १०
...र्ष, पटस्थकाल १५ वर्ष ० माह २५ दिन और अन्तरालकाल २० दिन रहा,
...नकी सम्पू. ३२ वर्ष १ माह और १२ दिन की थी।

२६. श्री मिती श्रावण शुक्ला ५ विक्रम संवत् ६४२ मे सहजवाल जात्युत्पन्न
श्री मेरुकीर्ति मुनि हुए, इनका गृहस्थावस्थाकाल ८ वर्ष, दीक्षाकाल ११ वर्ष,
पटस्थकाल ४४ वर्ष ३ माह १६ दिन, और अन्तरालकाल १३ दिन रहा,
इनकी सम्पूर्णायु ६३ वर्ष ३ माह और २६ दिन की थी।

२७. श्री मिती भाद्रपद शुक्ला ४ विक्रम स. ६८६ मे सहजवाल जात्युत्पन्न
श्री महाकीर्ति हुए, इनका गृहस्थावस्थाकाल ६ वर्ष, दीक्षाकाल १२ वर्ष,
स्थकाल वर्ष १३ माह ११ दिन ५ और अन्तरालकाल १५ दिन रहा

सम्पूर्णायु ३५ वर्ष ११ माह २० दिन की थी। आपका निवासस्थान पाटभद्रपुर था।

२८ श्री मिती मार्गशीर्ष कृष्णा ६ विक्रम सं. ७०४ में नागडाहा जात्युत्पन्न श्री विष्णु नन्दि मुनि हुए, इनका गृहस्थावस्था काल ७ वर्ष, दीक्षा काल १४ वर्ष, पटस्थकाल २१ वर्ष ४ माह ० दिन और अन्तरालकाल १५ दिन रहा, इनकी सम्पूर्णायु ४२ वर्ष ४ माह १५ दिन की थी।

२९ श्री मिती चैत्र शुक्ला ६ विक्रम स. ७२६ में महजवाल जात्युत्पन्न श्री भूषण हुए, इनका गृहस्थावस्था काल १४ वर्ष, दीक्षा काल ८ वर्ष, पटस्थकाल ६ वर्ष ० माह ० दिन और अन्तराल काल २६ दिन रहा, इनकी सम्पूर्णायु ३१ वर्ष ० माह और २६ दिन की थी।

३०. श्री मिती वैशाख शुक्ला ५ विक्रम स. ७३५में श्रीमाल जात्युत्पन्न श्री चन्द्र हुए, इनका गृहस्थावस्था काल ६ वर्ष, दीक्षाकाल १२ वर्ष और पटस्थकाल १४ वर्ष ३ माह ४ दिन और अन्तरालकाल १ माह १ दिन रहा, इनकी सम्पूर्णायु ३२ वर्ष ४ माह ५ दिन की थी।

३१ श्री मिती भाद्रपद शुक्ला १० विक्रम स. ७४६ में नागद्रहा जाति के श्री नन्दकीर्ति मु हुए, इनका गृहस्थावस्था काल १५वर्ष, दीक्षाकाल २० वर्ष, पटस्थकाल १४ वर्ष ६ माह ८ दिन और अन्तरालकाल दिन १३ रहा, इनकी सम्पूर्णायु ५० वर्ष ६ माह १३ दिन की थी।

३२ श्री मिती चैत्र कृष्णा १२ विक्रम स. ७६५ में श्रीमाल जात्युत्पन्न श्री देशभूषण मु.हुए, इनका गृहस्थावस्थाकाल १८ वर्ष, दीक्षाकाल २४ वर्ष, पटस्थकाल १ माह १ दिन और अन्तरालकाल ३ दिन का रहा, इनकी सम्पूर्णायु ४२ वर्ष १ माह १३ दिन दिन की थी।

३३ श्री मिती आश्विन शुक्ला १० विक्रम स. ७६५ में पोरवाल ढिमाधा जात्युत्पन्न श्री अनन्तकीर्ति मु हुए, इनका गृहस्थावस्था काल ११ वर्ष, दीक्षा काल १३ वर्ष, पटस्थकाल १८ वर्ष ६ माह २५ दिन और अन्तरालकाल दिन १० का रहा इनकी सम्पूर्णायु ४३ वर्ष १० माह और ५ दिन की थी।

३४ श्री मिती श्रावण शुक्ला १५ विक्रम स. ७८५ में नागद्रह श्री धर्मनन्दि हुए, इनका गृहस्थावस्थाकाल १३ वर्ष, दीक्षाकाल १८ वर्ष, पटस्थकाल २२ वर्ष ६ माह २५ दिन और अन्तरालकाल ५ दिन रहा, इनकी सम्पूर्णायु ५३ वर्ष १० माह की थी।

३५. श्री मिती ज्येष्ठ शुक्ला १५ विक्रम सं. ८०८ में बघेरवाल हरसोरा जात्युत्पन्न श्री वीरचन्द्र मुनि. हुए, इनका गृहस्थावस्था काल १३ वर्ष, दीक्षाकाल २१ वर्ष, पटस्थकाल ३२ वर्ष ० माह ४ दिन और अन्तरालकाल ८ दिन रहा, इनकी सम्पूर्णायु ७० वर्ष ० माह १२ दिन की थी।

३६. श्री मिती आषाढ कृष्णा १२ विक्रम सं ८४० में पञ्चम श्रावक जात्युत्पन्न श्री रामचन्द्र मुनि. हुए, इनका गृहस्थावस्थाकाल ८ वर्ष, दीक्षाकाल वर्ष ११ पटस्थकाल १६ वर्ष १० माह, अन्तरालकाल ६ दिन रहा, इनकी सम्पूर्णायु ३५ वर्ष १० माह ६ दिन की थी।

३७. मिती वैशाख शुक्ला ३ विक्रम सं. ८५७ में लवेचु जात्युत्पन्न श्री रामकीर्ति मुनि. हुए, इनका गृहस्थावस्थाकाल १४ वर्ष, दीक्षाकाल १६ वर्ष, पटस्थकाल २१ वर्ष ४ माह २६ दिन और अन्तरालकाल ११ दिन रहा इनकी सम्पूर्णायु ५१ वर्ष ५ माह ७ दिन की थी।

३८. श्री मिती आश्विन शुक्ला १० विक्रम सं ८७८ में अयोध्यापुरी श्रावक जात्युत्पन्न श्री अभयचन्द्र मुनि. हुए, इनका गृहस्थावस्थाकाल १८ वर्ष, दीक्षाकाल १० वर्ष, पटस्थकाल १७ वर्ष ० माह २७ दिन अन्तरालकाल दिन ४ रहा, इनकी सम्पूर्णायु ४५ वर्ष १ माह १ दिन की थी।

३९. श्री मिती कार्तिक शुक्ला ११ विक्रम सं ८९७ में नैगम श्रावक जात्युत्पन्न श्री नरचन्द्र मुनि. हुए, इनका गृहस्थावस्थाकाल १५ वर्ष, दीक्षाकाल २१ वर्ष, पटस्थ काल १८ वर्ष ६ माह और अन्तरालकाल ६ दिन रहा, इनकी सम्पूर्णायु ५४ वर्ष ६ माह ६ दिन की थी।

४०. श्री मिती भाद्रपद कृष्णा ५ विक्रम सं ९१८ में नागड़ाह जात्युत्पन्न श्री नागचन्द्र मुनि. हुए, इनका गृहस्थावस्थाकाल २१ वर्ष, दीक्षाकाल १३ वर्ष, पटस्थकाल २३ वर्ष ० माह ८ दिन और अन्तरालकाल १० दिन रहा, इनकी सम्पूर्णायु ६७ वर्ष ० माह और १३ दिन की थी।

४१. श्री मितीभाद्रपद शुक्ला ३ विक्रम सं ९३९ में हूमड़ जात्युत्पन्न श्री नयचन्द्र मुनि. हुए, इनका गृहस्थावस्था काल ८ वर्ष, दीक्षा काल १० वर्ष, पटस्थकाल ८ वर्ष ६ माह ११ दिन और अन्तरालकाल ६ दिन रहा, इनकी सम्पूर्णायु २६ वर्ष ६ माह २० दिन की थी।

४२. श्री मिती आषाढ कृष्णा ८ विक्रम सं. ९४८ में बघेरवाल हरसोरा जात्युत्पन्न श्री हरिश्चन्द्र मुनि. हुए, इनका गृहस्थावस्था काल ८ वर्ष ४

माह, दीक्षा काल १८ वर्ष, ८ माह, पटस्थकाल २६ वर्ष १ माह ८ दिन और अन्तराल काल ८ दिन रहा, इनकी सम्पूर्णायु ४६ वर्ष १ माह ८६ दिन की थी।

४३. श्री मिती श्रावण शुक्ला ६ विक्रम सं. ६७४ मे धाकडया जात्युत्पन्न श्री महीचन्द्र मुनि. हुए, इनका गृहस्थावस्थाकाल ४८वर्ष, दीक्षाकाल १० वर्ष ११ माह, पटस्थकाल १६ वर्ष ६ माह और अन्तरालकाल ५ दिन रहा, इनकी सम्पूर्णायु ४१ वर्ष ५ माह ५ दिन की थी।

४४. श्री मिती माघ शुक्ला १४विक्रम स. ६६० मे पद्मावतीपोरवाल जात्युत्पन्न श्री माघचन्द मुनि. हुए, इनका गृहस्थावस्थाकाल १३ वर्ष, दीक्षाकाल २० वर्ष, पटस्थकाल ३२ वर्ष २ माह २४ दिन और अन्तरालकाल ६ दिन रहा, इनकी सम्पूर्णायु ६५ वर्ष ३ माह और ३ दिन की थी।

४५. श्री मिती जेष्ठ कृष्णा १२ विक्रम सं. १०२३ में श्री लक्ष्मीचन्दजी मुनि. हुए, इनका गृहस्थावस्थाकाल ११ वर्ष, दीक्षाकाल २५ वर्ष, पटस्थकाल १४ वर्ष ४ माह ३ दिन औरअन्तराल काल १४ दिन का रहा, इनकी सम्पूर्णायु ५० वर्ष ४ माह १७ दिन की थी।

४६. श्री मिती आश्विन शुक्ला १ विक्रम स. १०३७ मे नगोलवाल जात्युत्पन्न श्री गुणनन्दि मुनि. हुए, इनका गृहस्थावस्था काल १८ वर्ष, दीक्षा काल २० वर्ष, पटस्थकाल १० वर्ष १० माह २६ दिन और अन्तरालकाल १४ दिन रहा, इनकी सम्पूर्णायु ४८ वर्ष ११ माह १३ दिन की थी।

४७. श्री मिती भाद्रपद शुक्ला १४ विक्रम स १०४८ मे गोलापूर्व जात्युत्पन्न श्री गुणचन्द्रजी मुनि. हुए, इनका गृहस्थावस्थाकाल १० वर्ष,दीक्षाकाल २२ वर्ष, पटस्थकाल १७ वर्ष ८ माह ७ दिन और अन्तरालकाल १० दिन रहा, इनकी सम्पूर्णायु ४६ वर्ष ८ माह १७ दिन की थी।

४८. श्री मिती जेष्ठ शुक्ला १ विक्रम स १०६६ मे सहजवाल जात्युत्पन्न श्री लोकचन्द्रजी मुनि. हुए. इनका गृहस्थावस्थाकाल १५ वर्ष, दीक्षा काल ३० वर्ष, पटस्थकाल १३ वर्ष ३ माह ३ दिन और, अन्तरालकाल दिन ४ रहा, इनकी सम्पूर्णायु ५८ वर्ष ३ माह ७ दिन की थी।

४९. श्री मिती भाद्रपद शुक्ला ८ विक्रम सं. १०७६ मे मनाणू श्रावक जात्युत्पन्न श्री श्रुतकीर्ति मुनि. हुये, इनका गृहस्थावस्था काल १३ वर्ष, दीक्षाकाल ३२ वर्ष, पटस्थकाल १५ वर्ष ६ माह ६ दिन और अन्तराल काल दिन ६ रहा. इनकी सम्पूर्णायु ६० वर्ष ६ माह १२ दिन की थी।

१० श्री मिती चैत्र कृष्णा ५ विक्रम स. १०६४ में श्री भावचन्द्रजी मुनि.
हुए, इनका गृहस्थावस्थाकाल १२ वर्ष, दीक्षा काल २५ वर्ष, पटस्थकाल २०
वर्ष ११ माह २५ दिन और अन्तरालकाल ५ दिन रहा, इनकी सम्पूर्णायु ५८
वर्ष की थी।

११ श्री मिती चैत्र कृष्णा ५ विक्रम स० ११११ में श्रीमाली जात्युत्पन्न श्री
महीचन्द्रजी मुनि. हुए, इनका गृहस्थावस्थाकाल १० वर्ष, दीक्षाकाल २६ वर्ष,
पटस्थकाल २५वर्ष ६ माह १० दिन और अन्तरालकाल ५ दिन का रहा, इनकी
सम्पूर्णायु ६१ वर्ष ६ माह १५ दिन की थी।

१२ श्री मिती भाद्रपद शुक्ला १ विक्रम स ११४० में पञ्चन श्रावक जा-
त्युत्पन्न श्री माघचन्द्रजी मुनि हुए, इनका गृहस्थावस्थाकाल १४ वर्ष, दीक्षाकाल
१३ वर्ष, पटस्थकाल ४ वर्ष ३ माह १७ दिन और अन्तरालकाल ७ दिन रहा,
इनकी सम्पू. ३१ वर्ष ३ माह २४ दिन की थी।

१३. श्री मिती पौष कृष्णा १४ विक्रम संवत् ११४४ में बघनोरा जात्युत्पन्न
श्री वृषभनन्दि मुनि. हुए, इनका गृहस्थावस्थाकाल ७ वर्ष, दीक्षाकाल ३७
वर्ष, पटस्थकाल ३ वर्ष ४ माह १ दिन और अन्तरालकाल ४ दिन का रहा,
इनकी सम्पूर्णायु ४७ वर्ष ४ माह ५ दिन की थी।

१४. श्री मिती वैशाख शुक्ला ४ विक्रम सं. ११४८ में सहवरात जात्युत्पन्न
श्री शिवनन्दि मुनि. हुए, इनका गृहस्थावस्था काल ६ वर्ष, दीक्षाकाल ३६
वर्ष, पटस्थकाल ७ वर्ष ६ माह १७ दिन और अन्तरालकाल १४ दिन रहा,
इनकी सम्पूर्णायु ५५ वर्ष ७ माह १ दिन की थी।

१५ श्री मिती मार्गशीर्ष शुक्ला ५ विक्रम स ११५५ में बघनोरा जात्युत्पन्न
श्री मुनिराज श्री वसुचन्द्रजी हुए, इनका गृहस्थावस्था काल ११ वर्ष, दीक्षा
काल ४० वर्ष, पटस्थकाल ७ माह २८ दिन और अन्तरालकाल ३ दिन रहा,
इनकी सम्पूर्णायु ५१ वर्ष ८ माह १ दिन की थी।

१६. श्री मिती श्रावण शुक्ला ६ विक्रम स ११५६ में मचापु श्रावक जात्यु-
त्पन्न श्री मुनिराज सिंहनन्दि हुए, इनका गृहस्थावस्थाकाल ७ वर्ष, दीक्षाकाल
३२ वर्ष, पटस्थकाल ४ वर्ष ० माह २४ दिन और अन्तरालकाल ५ दिन रहा,
इनकी सम्पूर्णायु ४१ वर्ष ० माह और २६ दिन की थी।

१७. श्री मिती भाद्रपद शुक्ला ५ विक्रम सं. ११६० में इरूक श्रावक जात्यु-
त्पन्न श्री मुनि. भावनन्दि हुए, इनका गृहस्थावस्थाकाल ११ वर्ष, दीक्षाकाल ३०

११) श्री श्रीलालजी बड़जात्या की धर्म-पत्नी
११) श्री जीवणमलजी बड़जात्या की धर्म-पत्नी
११) श्री भवरलालजी कासलीवाल दाता की धर्म-पत्नी
११) श्री फूलालालजी सेठी कुकणवाली वालों की धर्म-पत्नी
११) श्री जेठमलजी काला की धर्म-पत्नी
११) श्री परतापमलजी विनायक्या की धर्म-पत्नी
११) श्रीमती सुलोचनादेवीजी
११) श्री हीरालालजी हस्तेड़ा वाली की धर्म-पत्नी
११) श्री घीमालालजी काला की धर्म-पत्नी
११) श्रीमती विमला बाईजी
११) श्रीमतीबाई वेरीवाली
११) श्रीमती बिदामीबाई सगही
३१) श्रीमती सुगनीबाई गगवाल
३१) श्री सुरजमलजी छाबड़ा महालजी का की धर्म-पत्नी
२१) श्री केवलचदजी रारा की धर्म-पत्नी
२१) श्री हीरालालजी पिराका की धर्म-पत्नी
२१) श्री श्रीचदजी जीजोठका की धर्म-पत्नी
२१) श्री वालचदजी जीजोठका की धर्म-पत्नी
२१) श्री सोनपालजी पहाड़िया की धर्म-पत्नी
२१) श्रीमती बिदामी बाई सेठी
२१) श्री भुदरमलजी बड़जात्या की धर्म-पत्नी
२१) श्रीमती पतासीबाई तबेला वाली
२१) श्री माणकचदजी पाटणी का माताजी
२१) श्री भीवराजजी छाबड़ा की धर्म-पत्नी
२१) श्री शातीलालजी पाटणी की धर्म-पत्नी
२१) श्री झूमरमलजी वेरीवाला की धर्मपत्नी
२१) श्री मूवालालजी सीहोट का की धर्म-पत्नी
२१) श्री फूलचंदजी पाटणी पाचवा वाली की धर्म-पत्नी
२१) श्री रामेश्वरजी दूदवा वाले की धर्म-पत्नी
२१)